अपभ्रंश मुक्तक काव्य
और
उसका हिन्दी पर प्रभाव

डॉ० रामकिशोर, एम० ए०; डी० फ़िल्०

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी परिषद्, प्रकाशन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भूमिका

'अपभ्रंश मुक्तक काव्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव' इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे शोध-प्रबंध 'अपभ्रंश मुक्तक काव्य का हिन्दी मुक्तक काव्य पर प्रभाव' का संशोधित रूप है। हिन्दी भाषा का आधुनिक स्वरूप निर्मित होने तथा साहित्यिक माध्यम भाषा बनने के पूर्व अपभ्रंश ही व्यापक साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित थी। संस्कृत-प्राकृत की साहित्यिक परम्परा एवं भाषिक आदर्श को आत्मसात् करते हुए भी कवियो ने अपनी लोकोन्मुखी चेतना तथा युगबोध के फलस्वरूप अपभ्रंश भाषा तथा साहित्य मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। अपभ्रंश भाषा में निबद्ध प्रचुर साहित्य के प्रकाश मे आने से पूर्व हिन्दी भाषा तथा साहित्य की परम्परा को सीधे संस्कृत से जोडकर देखा जाता था, एवम् संस्कृत मे अनुपलब्ध हिन्दी की नई परंपराओ को प्रायः विदेशी प्रभाव से विकसित होने का अनुमान किया जाता था। अपभ्रंश भाषा के परिमाण तथा गुण की दृष्टि से उत्कृष्ट साहित्य की खोज के बाद मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के विविध काव्यरूपों, शैलियों तथा छन्दो के आरम्भ तथा विकास सम्बन्धी नये तथ्य तथा निष्कर्ष उद्घाटित हुए। डॉ० रामसिंह तोमर, डॉ० धर्मवीर भारती, तथा डॉ० सिद्धनाथ पाण्डेय ने अपने-अपने शोध प्रबंधों में अपभ्रंश काव्यो का अनुशीलन करते हुए हिन्दी पर उनके प्रभाव को विश्लेषित तथा रेखांकित किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में अपभ्रंश मुक्तक काव्य का विवेचन करते हुए उन अंशों को विशेष रूप से उजागर किया गया है जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी मुक्तकों पर दिखाई पड़ता है। विस्तार भय से हिन्दी मुक्तको की चर्चा प्रायः साकेतिक ही रखी गयी है फिर भी आवश्यकतानुसार हिन्दी मुक्तकों से कुछ उदाहरण लेकर अवश्य विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

संपूर्ण शोध-प्रबंध सात अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे अपभ्रंश की केन्द्रीय स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। साहित्यिक तथा भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अपभ्रंश मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के मध्य मे है अतः इसमे प्राकृत के बहुत से तत्त्व सुरक्षित है, साथ ही अपभ्रंश की कुछ मौलिकताएँ भी हैं अर्थात् अपभ्रंश काव्य का रूप, परम्परा, तथा मौलिकता दोनो के मेल से निर्मित हुआ है जिसका प्रभाव हिन्दी काव्यों पर पड़ा है।

दूसरे अध्याय मे मुक्तक काव्य की परिभाषा, स्वरूप, क्षेत्र तथा वर्गीकरण को विवेचित किया गया है। मुक्तक काव्य की रसवादी परिभाषा जिसमें अव्याप्ति का दोष था उसका परिहार करते हुए ऐसी परिभाषा निश्चित की गयी है जो समूचे मुक्तक काव्य को अपनी परिधि मे समेट लेती है। मुक्तकों की रचना प्रक्रिया को ध्यान मे रखकर भी परिभाषित करने की कोशिश की गयी है। मुक्तक के दो रूपो गीत, अगीत को विवेचित करते हुए यह दिखाया गया है कि हिन्दी की पद शैली की रचना प्रक्रिया अन्य मुक्तकों की रचना प्रक्रिया से काफी भिन्न रही है। सम्भवतः इसीलिए आज गीति-काव्य को मुक्तक से अलग काव्य रूप माना जाने लगा है।

तीसरे अध्याय में मुक्तक काव्य के स्वरूपात्मक विकास को अंकित किया गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि शोधकर्ता किसी परंपरा का अध्ययन करते समय क्रमानुसार कुछ कृतियों, कृतिकारो का विवरण देते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में इस शैली की जान बूझकर उपेक्षा की गयी है। स्वरूपात्मक विकास के अन्तर्गत वैदिक से लेकर हिन्दी तक के मुक्तकों के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय मे अपभ्रंश मुक्तककारो के रचनाकाल तथा कृतियों के विषय में सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में चर्चित मुक्तक-कृतियाँ ही अध्ययन के लिए गृहीत हैं।

पाँचवें अध्याय में अपभ्रंश मुक्तकों की विविध प्रवृत्तियो पर प्रकाश डाला गया है। अपभ्रंश के अधिकांश मुक्तक धार्मिक तथा रहस्यवादी हैं। किन्तु शृंगारिक, नीतिपरक वीर भावपरक मुक्तको की भी कमी नहीं है। इन प्रवृत्तियो को अलग-अलग विवेचित करके हिन्दी मुक्तको पर उनका प्रभाव दिखाया गया है। रहस्यवादी मुक्तकों के अन्तर्गत ही साधनापरक तथा चिन्तनपरक सभी तत्त्वों को ग्रहण कर लिया गया है। शृंगारिक तथा वीर भावपरक मुक्तको की प्रवृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत करते समय वर्णन कुशलता, विविधता, उक्ति वैचित्र्य आदि पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

छठें अध्याय में विभिन्न परिस्थितियों से व्यंजित भावो को उजागर करने की चेष्टा की गयी है। धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तकों में भी भावो की खोज इस आधार पर की गयी है कि हर उक्ति किसी न किसी भाव से प्रेरित होती है एकदम से नीरस लगनेवाले काव्य से भी कोई न कोई भाव व्यंजित होता है। युगपरिवेश में उस नीरस काव्य में भी यथेष्टत रस द्रावक भावों को उजागर कर देने की शक्ति होती है।

सातवें अध्याय में अपभ्रंश काव्य के भाषिक आदर्श, अलंकार-विधान, बिम्ब-विधान, छन्द-योजना आदि पर प्रकाश डालते हुए उनका हिन्दी मुक्तकों के शिल्प-विधान से साम्य दिखाया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण बनाने में कई श्रेष्ठ विद्वानों का प्रोत्साहन तथा परामर्श प्राप्त हुआ है। एतदर्थ लेखक उनके प्रति आभारी है। शोध-प्रबन्ध के निर्देशक सम्माननीय गुरुवर डॉ० रघुवंश ने वर्तमान आलोचना के विकसित प्रतिमानों के आधार पर विषय के नवीन विश्लेषण तथा विवेचन के साथ-साथ मौलिक स्थापनाओं पर विशेष बल दिया। स्वभावतः अपनी बहुज्ञता तथा ज्ञान गरिमा से शोधार्थियों को आक्रान्त न करके उनकी स्वतन्त्र चिन्तन तथा निर्णयात्मक शक्ति को उद्‌बुद्ध एवं विकसित करने वाले गुरुवर्य के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। अपभ्रंश भाषा साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० रामसिंह तोमर के साथ करीब सवा महीने रहकर मैंने अध्ययनार्थ उपलब्ध सामग्री का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने अपभ्रंश काव्य के दुरूह अंशों की व्याख्या करके अध्ययन को सरल तथा सुबोध बनाया। डॉ० तोमर जी के प्रति कितनी ही कृतज्ञता ज्ञापित की जाय कम ही है। डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, तथा डॉ० राजेन्द्र कुमार वर्मा ने समय-समय पर प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देकर शोध के दुर्गम मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। प्रकृत्या गुरु की गुरुता से सम्पृक्त वर्मा जी ने बड़े भाई की तरह आर्थिक तथा पुस्तकीय साधन जुटाने मे भी मदद की। प्रस्तुत कार्य में जिन विद्वानों के शोध प्रबन्धो तथा ग्रंथों का उपयोग किया गया है उनका आभार तो मुझ पर सदैव रहेगा।

अन्त में मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सद्भाव से यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है।

प्रयाग
२२–४–८१

रामकिशोर

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका

अध्याय—१ : अपभ्रंश भाषा की केन्द्रीय स्थिति — १-१४

(क) भाषा की दृष्टि से।

(ख) साहित्यिक दृष्टि से।

अध्याय—२ : मुक्तक काव्य की परिभाषा, स्वरूप और वर्गीकरण — १५-३१

(क) मुक्तक का अर्थ

(ख) संस्कृत आचार्यों की मुक्तक विषयक धारणा, आलोचना और परिभाषा।

(ग) पाश्चात्य साहित्य में मुक्तक की स्थिति।

(घ) मुक्तक काव्य का क्षेत्र और भेद।

अध्याय—३ : मुक्तक काव्य का स्वरूपात्मक विकास — ३२-६५

(क) वैदिक मुक्तक काव्य।

(ख) पालि मुक्तक काव्य

(ग) संस्कृत मुक्तक काव्य

(घ) प्राकृत मुक्तक काव्य

(ङ) अपभ्रंश मुक्तक काव्य

(च) हिन्दी मुक्तक काव्य

अध्याय—४ : अपभ्रंश के मुक्तक कवि और काव्य — ६६-१०२

प्रथम कवि कालिदास

(क) जैन मुक्तक कवि और काव्य।

(ख) सिद्ध कवि और काव्य।

ग) शैव मुक्तक कवि और काव्य

(य) विशुद्ध लौकिक कवि और काव्य।

(ड) स्फुट तथा उद्धृत मुक्तक काव्य।

अध्याय—५ : अपभ्रंश मुक्तक काव्य की प्रवृत्तियाँ और उनका हिन्दी पर प्रभाव १०३-१८९

(अ) धार्मिक प्रवृत्ति।

(ब) रहस्यवादी प्रवृत्ति।

(स) योगपरक प्रवृत्ति।

(द) शृंगारिक प्रवृत्ति।

(घ) वीर भावात्मक प्रवृत्ति।

(न) सुभाषित।

अध्याय—६ : अपभ्रंश मुक्तक काव्य मे भाव व्यंजना तथा उसका हिन्दी पर प्रभाव १९०-२२७

(क) शृंगारिक व्यंजना (संयोग)।

१. सौन्दर्य चित्रण के माध्यम से शृंगारिक भावों की व्यंजना

२. प्रकृति के माध्यम से शृंगारिक भावों की व्यंजना

(ख) विरह भावों की व्यंजना।

(ङ) धार्मिक मुक्तकों मे भाव व्यंजना तथा भाव निरूपण।

(च) वैराग्य भावों की व्यंजना।

(छ) रहस्यवाद के अन्तर्गत मधुर भावों की व्यंजना।

(ज) वीर भावो की व्यंजना।

अध्याय—७ : अपभ्रंश मुक्तक काव्य का शिल्प-विधान और उसका हिन्दी पर प्रभाव २२८-२८१

(क) प्रयुक्त भाषा।

(ख) अपभ्रंश मुक्तको मे प्रयुक्त विभिन्न शैलियाँ।

(ग) अलंकार योजना।

(घ) अप्रस्तुत योजना

(ङ) प्रतीक योजना ।

(च) शब्द साधना ।

(छ) बिम्ब योजना

(ज) अपभ्रंश मुक्तकों का छन्द विधान

उपसंहार २८२-२८३

सहायकग्रंथ सूची २८४-२९२

अपभ्रंश भाषा की केन्द्रीय स्थिति

क—भाषा की दृष्टि से

भाषिक तथा साहित्यिक विकास क्रम की दृष्टि से अपभ्रंश की स्थिति मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य में है। अपभ्रंश में वे समस्त भाषावैज्ञानिक तथा साहित्यिक तत्त्व परिलक्षित होते हैं जो इसके पूर्व की भाषाओं संस्कृत, पालि, प्राकृत, आदि में पाये जाते है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से अपभ्रंश की इस मध्यस्थ स्थिति को सभी विद्वान मानते है, परन्तु ऐतिहासिक विकास परम्परा में इसे हिन्दी और प्राकृत के बीच की स्थिति मानने से कुछ लोग इन्कार करते है : डा० सुनीति कुमार चटर्जी के इस मत कि ६ठी से ११वीं शती तक प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश रूप रहा होगा जैसे मागधी प्राकृत के बाद मागधी अपभ्रंश आदि का खण्डन करते हुए डा० बाहरी ने इसे भ्रांतिपूर्ण कहा किन्तु उन्होंने अपभ्रंश को ब्रजभाषा तथा राजस्थानी के पूर्व की स्थिति मानने की सहमति व्यक्त की है।[1] डा० भोलानाथ तिवारी सुनीत कुमार चटर्जी के आधार पर कहते है कि प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप विकसित हुआ होगा और इस प्रकार प्रमुखतः पैशाची का पैशाची अपभ्रंश, सिंध का ब्राचड अपभ्रश, सिंहल का सिंहली या एलू अपभ्रश, सौराष्ट्री आदि से विकसित सौराष्ट्री या नागर अपभ्रंश, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, अर्धमागधी से अर्धमागधी अपभ्रंश, मागधी से मागधी अपभ्रंश और महाराष्ट्री से महाराष्ट्री अपभ्रश का अनुमान किया जा सकता है।[2]

नमिसाधु के कथन का उद्धरण देते हुए 'प्राकृतेवापभ्रंश.' की व्याख्या डा० नामवर सिंह ने इस प्रकार की—

(१) प्राकृत से नमिसाधु का अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत है।

(२) अन्य प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश की प्रकृति महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

---

१. डा० हरदेव बाहरी, हिन्दी उद्भव-विकास और रूप : पृ० ३६-३७।

२. डा० भोलानाथ तिवारी, भाषा-विज्ञान : पृ० १४०।

(३) किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत पर आधारित होते हुए भी अपभ्रश मागधी आदि अन्य प्राकृतों से विशिष्ट है ।[1]

वैय्याकरणों ने अपभ्रश को स्वतन्त्र भाषा मानकर उसके भेदो की चर्चा अलग से की है । प्रमुख भाषाओ मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन महत्त्व-पूर्ण मञ्जिलें हैं । अपभ्रंश के मूल मे प्राकृत ही है । प्रारम्भ में अपभ्रंश आभीरों की भाषा थी जैसा कि दण्डी ने 'आभीरादि गिरय'[2] कहकर ऐसा निर्देश किया है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आभीर अपभ्रश को किसी अन्य देश से लाये थे । वास्तव में आभीर और उनके साथी जहाँ-जहाँ गये वहाँ की प्रचलित प्राकृत को अपनाने का प्रयास किया । कुछ तो स्वाभाविक विकास के फलस्वरूप कुछ उनके उच्चारण आदि के वैशिष्ट्य के कारण बोलचाल की प्राकृत में तेजी से बदलाव हुआ । प्राकृत का यही बदला हुआ रूप अपभ्रश भाषा के नाम से मान्य हुआ । आभीरों ने पश्चिम भारत मे जब राज्य की स्थापना की तो अपभ्रंश को राजभाषा बनने का भी अवसर मिला । कुछ अन्य राजाओं ने भी अपभ्रंश भाषा को संरक्षण प्रदान किया था जिनमे पाल और राष्ट्रकूट नरेश उल्लेखनीय हैं । सरह, काण्ह आदि सिद्ध पालों के ही शासन काल में हुए थे । और पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे महान् अपभ्रश कवियो की काव्य-शक्ति का प्रस्फुटन राष्ट्रकूटो की ही छत्रछाया मे हुआ । अपभ्रंश को जब विस्तृत साहित्यिक प्रतिष्ठा मिली तो उससे अन्य प्राकृते भी प्रभावित हुई । प्राकृतों का यह उत्तरकालीन रूप अपभ्रंश नाम से जाना जाने लगा । क्षेत्रीय प्रभाव के कारण इन अपभ्रशो मे किंचित अन्तर भी पाया जाता है । इसी आधार पर डा० तगारे ने अपभ्रंश के पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी भेदो को निर्दिष्ट किया है । इनमें व्याकरण तथा उच्चारण संबंधी भेद था जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—(१) पश्चिमी अपभ्रंश ही परिनिष्ठित (standard) अपभ्रंश है, अपभ्रश की समस्त सामान्य विशेषताएँ इसी की विशेषताएँ हैं ।

(२) पूर्वी अपभ्रंश

(१) पूर्वी अपभ्रंश मे संस्कृत की ध्वनि क्ष ख, क्ख मे परिवर्तित हुई

1. डा० नामवर सिंह, हिन्दीके विकास में अपभ्रश का योगदान : पृ० २६ ।

२ काव्यादर्श —दण्डी १ २३ जीवानन्द भट्टाचार्य कृत विवृत

जैसे क्षण < खण, अक्षर < अक्खर । त्व का परिवर्तन तु—त्त, द्व का दु, व का ब में हुआ । अविकारी सामान्य कारक बनाने की प्रवृत्ति अधिक रही ।

(२) इसमें संस्कृत का श सुरक्षित है ।

(३) इसमें आदि महाप्राणत्व नही होता ।

(४) इसमे पूर्वकालिक तथा क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्ययों मे मिश्रण नही हुआ है । क्रियार्थक संज्ञा के लिए परिनिष्ठित अपभ्रंश के अण प्रत्यय का प्रयोग नहीं मिलता ।

(३) दक्षिणी अपभ्रंश :

(१) इसमें संस्कृत ष का छ होता है । जब कि अन्य अपभ्रशो मे क्ख या ख होता है ।

(२) इसमे अकारान्त पुल्लिग शब्द का तृतीया एक वचन में अधिकाशतः एण रूप मिलता है जबकि परिनिष्ठित रूप ए है ।

(३) इसमे उत्तम पुरुष एक वचन में सामान्य वर्तमान की क्रिया 'मि' परक है जबकि परिनिष्ठित रूप उं है ।

(४) अन्य पुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान की क्रिया 'न्ति' होती है जैसे करन्ति, जबकि परिनिष्ठित रूप 'हिं' होता है जैसे करहिं ।

(५) पूर्वकालिक क्रिया इ का प्रयोग बहुत कम है ।

(६) सामान्य भविष्यत् काल की क्रिया अधिकतर 'स' परक होती है जबकि परिनिष्ठित रूप 'हि' परक है ।[1]

डा० नामवर सिंह का विचार है कि इस विभेद का कारण प्राकृत का प्रभाव है । वैसे यह अन्तर शैलीगत अधिक है । उनका कथन है कि पश्चिमी अपभ्रंश नाम मे अभिहित 'भविस्सयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित महापुराण की भाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं है ।[2]

पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश के आधार का खण्डन करते हुए डा० बागची ने यह मत व्यक्त किया कि 'वस्तुतः दोहा कोषों की रचना बहुत कुछ परिनिष्ठित अपभ्रंश मे ही हुई है जो पछाही भाषा थी । उनमें केवल कहीं-कही कुछ स्थानीय प्रभाव तथा लिपिशैली के कारण पूर्वी प्रदेश की बोली के लक्षण

(१) डा० जी० वी० तगारे, हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश—भूमिका—पृ० १५-३८ ।

(२) डा० नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान : पृ० ५३ ।

दिखाई पड़ जाते हैं।[१] चर्यापदो की भाषा में पूर्वीपन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अत. पूर्वी अपभ्रंश को परिनिष्ठित अपभ्रंश की विभाषा माना जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रश का विस्तार पूर्व, एवं दक्षिण के अलावा उत्तर में भी था। उत्तरी अपभ्रंश का प्रयोग 'लल्लेश्वरी वाक्यानि', 'महानयप्रकाश', 'परात्रिंशिका' आदि रचनाओ मे किया गया है। अपभ्रश की मध्यवर्ती स्थिति सिद्ध करने के लिए पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इसमें प्राकृत और आधुनिक भाषाओं (हिन्दी) के प्रभूत तत्त्व समाहित हैं। सर्वप्रथम प्राकृत की कुछ ऐसी भाषिक विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है जो अपभ्रंश मे भी मिलती हैं—

ध्वनि संबंधी विशेषताएँ

(१) प्राकृत मे संयुक्त व्यंजनो के स्थान पर द्वित्त्व हो गया है जैसे अग्र <अग्ग, इष्ट <इट्ठ, खर्जूर <खज्जूर आदि।

(२) प्राकृत मे प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की ऋ, लृ ध्वनियो का लोप हो गया और उनके स्थान पर अ, इ, उ शेष रही जैसे—नृत्य <णच्च, तृण <तण, मृग <मअ, मातृ <माई, आदि।

(३) ऐ और औ के स्थान पर प्राकृत मे क्रमश. ए और ओ पाया जाता है, इनके अइ और अउ रूप भी मिलते है। शैल<सेल, कौशलम् < कउसलं < कोसलं।

(४) स्वाराघात के अभाव में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये सीताम् <सीयं, अवमार्गः < अवमग्गो।

(५) जिन शब्दो मे स्वाराघात सुरक्षित है उन शब्दो में दीर्घ स्वर भी बना रहा।<पीठिका <पीढिआ।

(६) संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये—यथा शान्तः < सन्तो, दान्तः, < दन्तो।

(७) प्राकृत में विसर्ग का प्रयोग नहीं हुआ है।

(८) स, ष, श के स्थान पर एक ही ध्वनि स या श हो गयी।

(९) दो स्वरों के बीच में आनेवाले क, ग, च, ज, त द का प्रायः लोप हो गया जैसे—कदलि <कअलि, वदन <वअण।

(१) डा॰ प्रबोध चन्द बागची, ओरिएंटल जर्नल, कलकत्ता, जिल्द १। ए नोट आन द लैंग्वेज आफ द बुद्धिस्ट दोहाज

(१०) त वर्ग की ध्वनियों मे अघोष का सघोष और सघोष का अघोष मे परिवर्तन हुआ जैसे—गच्छति <गच्छदि, काक <कागो, कम्बोज. < कम्बोचो।

(११) त वर्ग के स्थान पर ट वर्ग भी पाया जाता है—पत्तन, < पट्टनं, वृत्ति < वट्टि।

(१२) ऊष्म ध्वनियो में परिवर्तन हो गये तथा स्प के स्थान पर प्फ, त्य के स्थान पर च्च, क्व के स्थान पर क्क एवं एन् के स्थान पर न्न् ध्वनि आ गयी।[1]

क्रिया—प्राकृत में संज्ञा शब्द तो घिसे ही है किन्तु क्रियापद और भी घिस गये है।

वर्तमान काल—प्राकृत में सामान्य समाप्ति सूचक क्रिया का रूप आमि, के साथ अमि भी मिलता है। अपभ्रंश मे इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं। जैसे—वड्ढमि, भाममि, मध्यम पुरुष मे अपभ्रंश में समप्ति सूचक चिह्न सि के साथ हि भी मिलता है—मरहि—मरसि, मागधी प्राकृत मे समाप्ति सूचक चिह्न "शि" है।[2] उत्तम पुरुष वर्तमान काल मे अर्धमागधी और अपभ्रंश के पद्य मे अइ का ए बन जाता है। अपभ्रंश मे अन्त मे समाप्ति सूचक चिह्न ह, हु लगता है। शौरसेनी और मागधी मे भी ह आता है।[3]

ऐच्छिक रूप—महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री तथा अपभ्रंश में सु लगता है जैसे करिज्जसु, सलहिज्जसु।[4]

आज्ञावाचक—वट्ट, वट्टसु, वट्टेसु, वट्टे, अर्धमागधी मे वट्टाहि रूप मिलते है अपभ्रंश मे वट्टु तथा वट्टहि।[5] प्राकृत के रक्खसु की तरह ही अपभ्रंश किज्जसु बनता है। भू धातु के होइ, हुवइ आदि रूप प्रचलित हैं।

---

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री · प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९-२०।

२. पिशेल, अनु, हेमचन्द्र जोशी—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६७२।

३. पिशेल : अनु, हेमचन्द्र जोशी, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६७५।

४. वही पृ० ६७९।

५. वही, पृ० ६८९, ७०१।

स्पर्श नियमित रूप से अर्धमागधी मे फुसइ बनता है। अपभ्रंश में भी यही रूप स्वीकृत है।[1]

प्राकृत के तत्वों को ग्रहण करते हुए भी अपभ्रंश की कुछ निजी भाषा-वैज्ञानिक विशेषताएँ हैं जिन्हे हिन्दी ने बहुत कुछ ज्यों का त्यो ग्रहण किया है।

(१) प्राकृत मे संस्कृत के अनुस्वार के स्थान पर "ओ" हो जाता है किन्तु अपभ्रंश मे "उ" हो जाता है। यही कारण है कि अपभ्रंश उकार बहुला भाषा बन गयी है। यह प्रवृत्ति प्राकृत से ही शुरू हो गयी थी। प्राकृत धम्मपद (उजुओ नाम सो मगु अभय नमु स दिश) तथा ललित विस्तर' (पूरि तुम नरवर सुनु नृपु यदमृ) मे ही इस परिवर्तन के बीच वपित हो चुके थे। यह प्रवृत्ति हिन्दी में सीधे चली आयी। अवधी पर इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

(२) द्वित्व व्यंजन को एक करके उसके पूर्व के स्वर को दीर्घ कर देना अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। क्षतिपूरक दीर्घीकरण की इस प्रवृत्ति की शुरुआत अपभ्रंश से हुई किन्तु हिन्दी में पूर्णतः नियम बन गयी।

(३) अपभ्रंश मे शब्द के आदि में आये य का ज हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश मे य ध्वनि निर्मूल्य है। हिन्दी बोलियो विशेषतः अवधी में य के ज उच्चारण का प्रमाण मिलता है जैसे यमुना < जमुना, यव < जौ, यावक < जावक, यश < जस आदि।

(४) म का अधिकतर वं, ष्ण, का न्ह हो गया जैसे कमल < कवंल, कृष्ण < कान्ह। हिन्दी मे ये शब्द पर्याप्त संख्या मे प्रयुक्त मिलते है।

(५) अपभ्रंश तक कारक विभक्तियाँ छंटकर तीन ही रह गयी १—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया और सम्बोधन, २—तृतीय तथा सप्तमी ३—पंचमी और षष्ठी।

(६) अपभ्रंश में अपेक्षाकृत अधिक वियोगात्मकता है जो आधुनिक आर्य भाषाओं की प्रमुख विशेषता है।

धातु रूप :

(१) अपभ्रंश में ध्वनि परिवर्तन के द्वारा अनेक धातुओं के ऐसे रूप बने जो हिन्दी में ज्यों के त्यों प्रयुक्त होने लगे जैसे खा, न्, तुट, जल, चूम आदि।

(२) अपभ्रंश में संस्कृत की विकरणयुक्त धातुओं को सीधे धातु रूप मे

---

[1] पिशेल : अनु० हेमचन्द्र जोशी, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६८६, ७०१।

स्वीकार कर लिया गया। जैसे नृत्य < नच्च < नाच, श्रु < सुन, ज्ञा < जानना आदि। हिन्दी मे भी ये धातुये उसी रूप में मान्य हुईं। हार्नले ने हिन्दी धातुओ की जो सूची प्रस्तुत की है उसकी अपभ्रंश धातुओ मे समुपस्थिति अपभ्रंश में आधुनिक आर्य भाषाओ की प्रवृत्ति को लक्षित करती है।[1]

(३) अपभ्रंश मे भ्वादि गण अधिक प्रभावशाली है। कभी-कभी भविष्यत् काल के रूपो को वर्त्तमान के अर्थ में निर्मित किया गया है। जैसे द्रक्ष-देक्ख-देख।

(४) कृदन्त युक्त धातुओ की संख्या अपभ्रंश और हिन्दी दोनो में अधिक है।

(५) अपभ्रंश में कुछ धातुये देशी आधार पर बनायी गयी हैं जिनका स्रोत संस्कृत मे नही मिलता है। जैसे छडु < छोड, चड् < चढ, ढक्क < ढक, चक्ख < चख। हिन्दी में भी ये धातुये प्रयुक्त हुई हैं।

(६) ध्वनि परिवर्तन से अस्ति का असति, अछइ, अहइ रूप बना। अहइ का प्रयोग 'वर्ण रत्नाकर' मे मिलता है। अवधी मे है के लिए अहइ का ही प्रयोग होता है। अच्छि तथा आछे का प्रयोग, मध्यकालीन काव्य में यत्र-तत्र मिल जाता है—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४।३३८)

भलहि जो आछे पास (पद्मावत)

(७) अपभ्रंश में वर्त्तमान काल के रूप करइ, करहि, करहु, करउं, करहुं आदि हैं। हिन्दी मे भी इनके प्रयोग ज्यों के त्यों हुए हैं जैसे—

बसौं (बसउं) ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन

ऊधो विरहौ प्रेम करैं (करइ सूरसागर)।

सर्वनाम : हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले अनेक सर्वनाम अपभ्रंश के ही है। जैसे—

हउं—**हउं झिज्जउं तउ केहिं (हेम०)**

संदेसडउ सवित्थरउ हउं कहणह असमत्थ (संदेस० ८०)

हौं रानी पद्मावति सात सरग पर वास-पद्मावत

हौं इन बेची बीच ही (बिहारी सतसई)

मइं—ढोला मइं तुहुं वारिया (हेम०)

तं तइय मुक्ख खल पाइ मइ। (संदेशरासक, १६१)

---

१. बंगाल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल, जिल्द ४९, खण्ड १ (१८८० ई०), पृ० ३३-८१।

मो—धरणि सुण रणि बल नाहि मो (कीर्तिलता)
सुनि भैया याके गुन मो सो (सूरसागर)

मज्झ, मुज्झ—जं विरहग्गि मज्झ सावकंतह (संदेशरासक ११४)
सो प्रिय होइ न मुज्झ (हेम०)
मुझ में रही न हूँ।
ना तूं मिलै न मैं खुशी ऐसा बेदन मुज्झ (कबीर ग्रंथावली)

तुहु, तू तुहु पुण कज्जि हिआवलउ (संदेशरासक ८८)
जिहि अंगिहि तू विलसियउ (वही ७७)
तुहुँ करुनामय देव दयानिधि—(विद्यापति पदावली)
तू जागी तप करु मन जथा—(पद्मावत)

इसके अलावा तइ (हिन्दी में तै) पइ, तुअ (तू) तुह, मु, सो, तं, तिणि (तिन्ह हिन्दी मे) तसु (हिन्दी तासु) तहि (हिन्दी तेहि) इहु, एहु, एह, एउ, इउ, जु, जो, ज (हिन्दी में जो का बाहुल्य) जिण (हिन्दी जिन) को, कवणु (हि कौन,) आदि सर्वनाम आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी से भिन्न नही है।

परसर्ग—धीरे-धीरे विभक्तियों के घिस जाने से वाक्य के संगठन को विशृंखलता से बचाने के लिए अपभ्रंश में परसर्गों का प्रयोग होने लगा। आधुनिक आर्य भाषाओं मे ये परसर्ग सम्बन्धसूचक रूप मे प्रयुक्त होते हैं। मध्यकालीन हिन्दी कवियो के काव्य मे पाये जानेवाले अनेक परसर्ग अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध होते हैं—

केर—जसु केरअ हुँकारएं (हेम०)
काहू केर बिकाइ (पद्मावत)

मज्झे—जामहि विसमी कज्ज गइ जीवहि मज्झे एइ (हेम०)
मांझ मंदिर जनु लाग अकासा (पद्मावत)

उप्परि—सायरु उप्परि तणु धरइ (हेम०)
हम पै कोप कुपावति (सूरसागर)

तण-तणि—तसु लइ गइतणि णिदणहु (संदेशरासक)
पिय तन चितइ भौंह करि बांकी (रामचरित मानस)

सम-हिन्दी में स्यूँ—कावि केण सम दर हसइ (संदेशराशक ४७)
कलिजुग हम स्यूँ लड़ि पड़ा। (कबीर ग्रंथावली)

हुँतउ—तिह हुँतउ हउं इक्कणि लेहु उपेसियउ । (संदेशरासक ६५)

मोरि हुँति विनय करउ कर जोरि—तुलसी

हिन्दी तथा अपभ्रंश दोनो मे शब्दो के निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते है—

केहउ मग्गण एहु (हेम०)

बहुरि राम मायहिं सिरु नावा (मानस)

सख्यावाचक विशेषण अपभ्रंश मे हिन्दी के समान ही मिलते हैं—

एक्कबीस—इक्कीस

चउरासी—चौरासी

छप्पण—छप्पन

चउंतीस—चौंतीस

छयालीस—छियासिल

सठि—साठ

अपभ्रंश में प्रयुक्त संख्यावाचक विशेपणों में से अधिकांशतः प्राकृत में ही बन गये थे जैसे एक्क, दुवे, बे, बयालीस, छब्बीस, अठहत्तरि, चालीस, चउबीस। शब्द भण्डार की दृष्टि से बहुत से तत्सम, तद्भव तथा देशी शब्द प्राकृत अपभ्रंश तथा हिन्दी की समान सम्पत्ति हैं। किसी लेखक ने इन्ही शब्दों को प्राकृत शब्द-भण्डार के रूप में उद्घृत किया है तो किसी ने अपभ्रंश के अन्तर्गत[1] जैसे—रंडी, रेल्ल, रोग्ग, हांडी आदि।

इस तरह भापा-वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश का हिन्दी भाषा के विकास मे बहुत बड़ा योगदान है। चूंकि भाषा और साहित्य का विकास साथ-साथ होता है विशेषत. भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने के बाद, अतः यह स्वाभाविक है कि अपभ्रंश की साहित्यिक परम्परा हिन्दी में भी विकसित हो। हिन्दी का मध्यकालीन साहित्य अपभ्रंश से भिन्न होता हुआ भी उससे मूल-प्रवृत्तियों के आधार पर एक कडी के रूप मे जुडा हुआ है।

ख साहित्यिक दृष्टि से

अपभ्रंश ने संस्कृत-प्राकृत से चली आती हुई परम्पराओं को अपनाते हुए कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियो को जन्म दिया जो आधुनिक आर्य-भाषा हिन्दी मे भी चलती रहीं।

---

१. 'अनुसंधान पत्रिका' अंक ३, पृ० ५१, जैन विश्व भारती, लाडनू।

अपभ्रंश के प्रबन्धात्मक चरित-काव्य :

रामकथा को लेकर स्वयम्भू ने जैन आदर्शों के आधार पर 'पउम चरिउ काव्य की रचना की। यह कृति प्राकृत जैन कवि विमलसूरि के 'पउम-चरिउ' से काफी प्रभावित है। इसकी मूल कथा का निर्माण, लोक मे प्रचलित कुछ शकाओ के निवारणार्थ गौतम गणधर द्वारा कथा का प्रारम्भ, प्रचलित राम-कथा में जैन-धर्म के अनुकूल परिवर्तन, प्रधान पात्रो का जैन धर्म स्वीकार करना आदि बातें विमलसूरि के 'पउम-चरिउ' से मिलती-जुलती है।

अपभ्रंश में रचित अनेक धार्मिक चरित काव्यों की परम्परा प्राकृत में भी पायी जाती है। चरित-काव्य सस्कृत में भी पाये जाते है परन्तु उनमे धार्मिकता का उतना आग्रह नहीं है जैसे रामायण, रघुवंश आदि। धार्मिक उद्देश्यो से चरितों का निर्माण जैन-धर्म के अनुकूल करने की प्रवृत्ति प्राकृत मे ही शुरू हुई। 'महापुराण', 'णायकुमार चरिउ', 'जसहर चरिउ', 'पासनाह चरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ', 'जंबूसामि चरिउ', 'करकंडु चरिउ', 'पउमसिरी चरिउ' आदि चरित काव्यो मे किसी महापुरुष के पूर्व जीवन का चित्रण वर्त्तमान जीवन मे अनेक व्रतों से मिलने वाले लाभ, वैराग्य तथा नश्वरता, दैवी घटनाएँ, शुभ तथा अशुभ कर्म का प्रभाव आदि वर्णित किये गये है। प्राकृत मे इस तरह के समान उद्देश्यों वाले कई चरित काव्यों की रचना हो चुकी थी जैसे—'सुपासनाह चरिउ', 'महावीर चरिउ' (गद्य पद्यबद्ध) 'कुमारपाल चरिउ' (प्राकृत अंश, 'विजयचन्द्र चरित' आदि। अपभ्रंश मे इन्ही चरित काव्यों का स्वाभाविक विकास हुआ। रामायण तथा महाभारत की कथाओ को ग्रहण करके संस्कृत मे अनेक काव्यों का प्रणयन हुआ। यह परम्परा प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी प्रवाहित रही। प्रवरसेन का महाकाव्य 'सेतुबन्ध या रावण वध', राम की कथा पर आधारित है 'श्री चिह्नकाव्यं' (सिरि चिंध कव्व) श्रीकृष्ण की लीला पर आधारित है। इन काव्यों में शुद्ध साहित्यिकता का दर्शन होता है तथा ये कृतियाँ धार्मिक घटाटोप से मुक्त हैं। अपभ्रंश में 'पउम चरिउ' के अलावा 'बलभद्द चरिउ' मे भी रामकथा को ही अपनाया है। कुछ कृतियो मे हरिवंश पुराण से भी कथाएँ चुनी गयी है। पुष्पदंत का 'महापुराण' धवल का रिट्ठ-णेमि चरिउ' इसी तरह की रचनाएँ है। वैसे इनमे तीर्थंकरो का चरित्र वर्णन ही अधिक प्रधान है। प्राकृत-अपभ्रंश में लौकिक नायकों को लेकर भी काव्य रचनाएँ हुई है जैसे 'गौडवहो' तथा 'भविष्यदत्त कहा'। रासो काव्य की विस्तृत परम्परा अपभ्रंश से ही शुरू हुई। जैन कवियो ने किसी धार्मिक व्यक्ति या व्रतादि कथाओं के आधार पर जंबू-स्वामी रास

रास', 'यशोधर रास', 'बाहुबली रास' आदि रचनाओं को ब्रजभाषा मे प्रस्तुत किया। वीररसात्मक भावों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी के आदि काल मे 'पृथ्वीराज रासो', 'हम्मीर रासो', 'खुमाण रासो' आदि की रचना हुई। इन रासों काव्यों पर अपभ्रंश के चरित काव्यों का अधिक प्रभाव पडा है। अपभ्रंश मे 'उपदेश रसायन रास', 'बाहुबलि रास' आदि मे वीर-भावो का विकास नहीं हुआ है। विरह तथा प्रेम की विभिन्न भंगिमाओ को व्यक्त करने के लिए अपभ्रंश मे 'संदेशरासक' की रचना हुई तो, ठीक इसी तरह हिन्दी मे क्षीण प्रबन्ध धर्मा मुक्तक 'बीसलदेव रासो' रचा गया।

हिन्दी साहित्य में सूफ़ी काव्य के अन्तर्गत प्रेमाख्यानो का जो रूप उपलब्ध होता है उसे अपभ्रंश ने पहले से सुरक्षित कर रखा था। कुतुबन कृत 'मृगावती', 'मंझन कृत 'मधुमालती', उसमान कृत 'चित्रावली', नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' आदि प्रेम कथायें बहुत कुछ कल्पना प्रसूत ही है। जायसी की रचना 'पद्मावत' की कथा मे ऐतिहासिकता पायी जाती है। इन प्रेम कथाओ मे कवियो का उद्देश्य कथा कहना ही है परन्तु कुछ धार्मिक दृष्टिकोण के कारण कही-कही पारलौकिक भावों को भी व्यंजित किया गया है। इनमें सभी चरित्रो के सौन्दर्य एवं पुरुषार्थ, नायक-नायिका की परस्पर प्रगाढ अनुरक्ति के चित्रण समान रूप से मिलते हैं। बीच-बीच मे प्रेम की दैवी परीक्षा भी होती है। अपभ्रंश की 'भविष्यदत्त कथा', 'सुदर्शन चरित', 'उपमश्री चरित', 'जिनदत्त चरित' आदि कृतियाँ इसी आदर्श पर रची गयी है। हिन्दी के अधिकतर कवियों ने इनकी कडवक बद्ध शैली को भी अपनाने में सकोच नहीं किया। अपभ्रंश में प्राप्त वे समस्त काव्य-रूप समयानुसार हिन्दी में गृहीत होते गये। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अपभ्रंश के चरित-काव्यो की ही विशिष्ट, मौलिक तथा उत्कृष्ट परिणति है। इसमे भी धार्मिकता का तत्त्व पाया जाता है चाहे वह जैन धर्म से भिन्न वैष्णव धर्म ही क्यो न हो। स्वयभू ने अपने काव्य के आरभ मे कहा है कि मेरे समान कुकवि कोई नहीं होगा, न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न मैने वृत्ति-सूक्तिका व्याख्यान किया है। मैंने न तो पाँचों महाकाव्यों को सुना है और न पिंगल प्रस्तार आदि छंदों के लक्षण ही जानता हूँ। भामह दंडी के अलकार शास्त्रो से भी मेरा परिचय नहीं है—

> बुहयण सयंभु पइ विन्नवइ मइं सरिसउ अण्णु णत्थि कुकइ।
> वायरणु कयावि न जाणियउं न वि वित्ति सुत्तु वक्खाणियउं।
> ण उ पच्चाहारहो तत्तिकिय ण उ संधि हे उप्परि बुद्धिथिय।[1]

१ स्वयभू पउम चरिउ १.२।

इस की पद्धडिया-घत्ता शैली ही चौपाई दोहा शैली में बदल गयी। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में 'कवि न होउं नहिं चतुर कहाउं' आदि मे इसी बात को दोहराया है। तुलसीदास द्वारा 'रामचरितमानस' मे दुर्जन-सज्जन स्मरण[1] रामकथा को सरोवर का रूपक देना आदि बाते अपभ्रश के कवि स्वयंभू के समान है :—

रामकहाणइ एह कमागय।
अक्खरपास जलोह मणोहर सुअलंकार सहमच्छोहर।
दीह समान पवाहावंकिय स वकयपायय पुलिणालंकिय।
देसी भासउभयतडुज्जल कवि दुक्कर घणसद्दसिलायल।[2] आदि

विविध छन्दों से युक्त शुद्ध साहित्यिक महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' की तरह अपभ्रंश में सुदर्शन चरित है। दोनो में छन्द-वैविध्य की दृष्टि से समानता है।

सूरदास के 'सूरसागर' में क्षीण-कथा तंतु से जुड़े गेय पद पाये जाते हैं। सिद्धो के चर्यागीत भी इसी तरह अनेक रागो मे निबद्ध है परन्तु उनमे कथा तत्त्व बिलकुल नहीं है। सिद्धो के पदो मे भाव-विह्वलता तथा गीतिपरकता के साथ-साथ विषय-विवेचन भी खूब पाया जाता है। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' तथा 'सूरसागर' के कुछ पदो में विवेचन तथा वर्णन की प्रवृत्ति मिलती है। अपभ्रश मे प्राप्त होनेवाली अनेक प्रेमकथाओ की भाव धारा प्राकृत मे ही विकसित हो चली थी। संघदास गणि रचित 'वसुदेव हिंडि' कथा का मूलाधार महाभारत तथा हरिवंश है। इसमे मुख्य कथा के साथ अनेक अवान्तर कथायें ग्रथित हैं। 'समराइच्च कहा' दिव्यमानुष वस्तु से युक्त धर्म कथा है। इस कथा मे भारतीय जीवन के विविध पहलू परिलक्षित होते हैं। महेश्वर सूरि ने 'पंचमी कथा' का प्रणयन किया। जिनहर्ष गणि रचित 'रयणसेहरी कहा' एक प्रेमाख्यान है। इसमे रत्नपुर के राजा रत्नशेखर तथा सिंहलदीप की राजकुमारी रत्नावती के जन्म-जन्मान्तर वाले प्रेम का चित्रण है। प्राकृत की 'लीलावती कथा' में देव स्तर के पात्र भी मनुष्यो के समान ही प्रेमादि व्यापार करते हैं जिसके आधार पर 'लीलावती कथा' विशुद्ध प्रेमाख्यान माना जा सकता है। अपभ्रंश मे 'भविष्यदत्त कथा', 'उपमश्रीचरित', 'सुदर्शन चरित' आदि कथाओं में प्राकृत—कथाओ की तरह ही शिल्प-विधान, घटनाओं की योजना तथा परिणति पायी जाती है। अन्य बहुसंख्यक अपभ्रंश-चरित-काव्यो मे किसी न

---

१. रामचरितमानस . तुलसीदास १.४६।
२. पउमचरिउ १.३७।

किसी रूप मे प्रधान अंश प्रेमकथात्मक ही है। कृति को सद्परिणाम पर्यवसायी बनाने के लिए प्रधान पात्रों की धार्मिक प्रवृत्ति को चित्रित किया गया है और इस प्रकार कृतियों की धर्मकथा का रूप दे दिया गया है।[1]

अपभ्रंश मुक्तकों की दोहरी प्रवृत्ति प्राकृत मे ही शुरू हो गयी थी। जैन मुक्तकों मे 'पाहुड' नाम की रचनायें प्राकृत मे ही मिलने लगती है। आत्मा, परमात्मा, निर्जरा, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि का वर्णन अपभ्रंश जैन कवियो की तरह ही हुआ है। कुंदकुदाचार्य रचित 'मोक्ख पाहुड', 'भावपाहुड' आदि ऐसी ही रचनाये है। कार्तिकेय मुनि द्वारा रचित 'कार्तिकेयाणुपेक्खा', जैन धर्म से सम्बन्धी ग्रंथ है। अपभ्रश में जैन धार्मिक भावों को व्यक्त करने के लिए 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', 'पाहुड दोहा', 'दोहानुपेहा' आदि इसी से संयुक्त हैं। सिद्ध काव्य का कोई प्राकृत रूप नही मिलता है।

लौकिक मुक्तको के अन्तर्गत अपभ्रश मे जो प्रवृत्तिया परिलक्षित होती है वे सभी प्राकृत के मुक्तक सग्रह 'गाहासतसई', 'वज्जालग्ग' मे मिल जाती है। रचना शैली की दृष्टि से अपभ्रश ने प्राकृत की परम्परा से बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण नही किया। फिर भी च·ित काव्यो के प्रभाव मे वह मुक्त भी नहीं है। पीछे निर्देश किया जा चुका हे कि स्वयभू का 'पउमचरिउ' प्राकृत में लिखित 'पउमचरिउ' से काफी प्रभाविन है। अपभ्रश के चरित काव्यो से हिन्दी के चरित काव्य बाह्य रूप से प्रभावित है।[2] मुक्तक काव्य के अन्तर्गत कवि द्वारा अपना नाम जोड़ने की परिपाटी अपभ्रंश से ही शुरू हुई जिसे हिन्दी के मुक्तक कवियों ने खूब अपनाया।

अपभ्रंश मे प्राकृत के छन्दों का प्रयोग कम हुआ है, परन्तु प्राकृत का प्रिय छन्द 'गाहा' का प्रयोग 'संदेशरासक' में हुआ है। वर्णिक वृत्तों मे स्रग्धरा, मालिनी आदि संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश मे आये। अपभ्रश के विशिष्ट छन्द दोहा, पद्धडिया, घत्ता आदि छन्द हिन्दी मे अधिक लोकप्रिय हैं। मिश्रित छन्दों की परम्परा का विकास अपभ्रंश मे हो गया था जिससे छप्पय, सवैया आदि निर्मित हुए। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने सवैया के अनेक भेदो मे

---

१. डॉ० रामसिंह तोमर, प्राकृत और अपभ्रश साहित्य तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० २३२।

२. डॉ० रामसिंह तोमर, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० २४०।

से कुछ के बीज अपभ्रंश छन्दो में ही निर्दिष्ट किया है।[१] अपभ्रंश के ताल छन्दों (पज्झटिका, हरिगीता) की ताल, अपभ्रंश के चरित काव्यो से ध्रुवा या ध्रुवक के प्रयोग की प्रथा, सिद्ध कवियो को राग-निबद्ध चर्यागीत आदि तत्त्वो को ग्रहण करके पद शैली का उत्कृष्ट विकास किया गया। अपभ्रंश मे दो छंदों के मेल से निर्मित मिश्र बंध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि का पद की बनावट पर प्रभाव पड़ा।

अपभ्रंश के मुक्तकों मे अलकरण के लिए उपमानो तथा प्रतीको के चुनाव के लिए लोक जीवन की ओर दृष्टि-निक्षेप किया। प्राकृत के काव्यों 'गाहा-सतसई' आदि में सिधाई के लिए सरकडा, हंसी के लिए कपास, उष्णता के लिए पलाल, सूखती विरहणी के लिए घर के बन्दनवार आदि अप्रस्तुतों को लोक जीवन से ग्रहण किया गया है। अपभ्रंश के मुक्तक-काव्य (धार्मिक और लौकिक) मे अप्रस्तुतों के चुनाव की यह मौलिकता और समृद्ध हुई। हिन्दी के सन्त कवियो तथा रीति-कवियों ने इस परम्परा को अपने-अपने ढंग से अपनाया।

अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्राकृत साहित्य से अपभ्रंश मे केन्द्रित हुईं फिर अपभ्रंश की मौलिक छाप तथा कुछ नवीनता लेकर आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी में वितरित हो गयी।

---

१ डॉ० भोलाशंकर व्यास प्राकृत पैंगलम्, भाग २ पृ० ५६७

मुक्तक काव्य की परिभाषा, स्वरूप और वर्गीकरण

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने पद्यबद्ध काव्य को दो भागो मे विभक्त किया है—१ दीर्घ आकार के पूर्वापर घटनाओ से सम्बद्ध, सर्गबद्ध प्रबन्ध काव्य २—निर्बन्ध स्फुट मुक्तक काव्य।

'मुक्तक शब्द की व्युत्पत्ति 'मुक्त' मे कन् प्रत्यय जोडकर होती है और उससे स्वतन्त्र, निर्बन्ध, पूर्वापर निरपेक्ष रचना का बोध होता है। मुक्तक शब्द मे निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय भी लगा है जो भूतकाल के कर्मकारक मे प्रयुक्त होता है और फलाश्रय के समानाधिकरण विशेषण का प्रत्यायन करता है। फिर विशेषण से संज्ञा की निष्पत्ति के लिए 'कन्' प्रत्यय जोडा गया है। अतः मुक्तक का अर्थ हुआ—'मुच्यते स्थेति मुक्तकम्' जो छोड़ा गया है। कन् प्रत्यय से छन्दो की लघुता का भी द्योतन होता है। मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये है :—

१—फेंककर मारा जानेवाला कोई अस्त्र (सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी)

२—एक प्रकार का गद्य जिसमे समास का प्रयोग बिलकुल न हो (साहित्य दर्पण उल्लास ६)

कल्पद्रुम—कोश मे मुक्त शब्द के निम्नलिखित अर्थ किये गये है :—

बिना कृतं बिरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निष्यूहे मुक्तं योवातिशोभनः॥

संस्कृत के आचार्यो की मुक्तक विषयक धारणा :

संस्कृत में मुक्तक काव्य-रूप की चर्चा सर्वप्रथम 'अग्नि पुराण' मे मिलती है जहाँ अर्थद्योतन मे स्वत सक्षम श्लोको को मुक्तक की संज्ञा दी गयी है :—

मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।[1]

आचार्य भामह ने पद्य बद्ध रचनाओं के प्रबन्ध और मुक्तक ये दो भेद माने। परन्तु उन्होने मुक्तको की कोई परिभाषा नही दी। दण्डी ने मुक्तकों को प्रबन्ध के आश्रित मानकर उसकी महत्ता को न्यायपूर्वक आँकने का प्रयास

१. अग्नि पुराण, अध्याय ३३७ श्लोक ३३, पृ० ४२१

नही किया । इसी कारण से उन्होने मुक्तक का विस्तृत विवेचन न करके केवल इतना ही उल्लेख किया कि मुक्तक, कुलक, कोश सघात आदि सर्गबद्ध महाकाव्य के अवयव मात्र है :—

मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः ।
सर्गबन्धाग रूपत्वादनुक्तः पद्य विस्तारः ।।[२]

वामन ने मुक्तक के महत्व को और कम कर दिया—

असंकलित रूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।
न प्रत्येक प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ।।

अर्थात् असंकलित काव्य रूपों मे चारुता नहीं आती जैसे अग्नि के अलग-अलग परमाणु नही चमकते । मुक्तक-काव्य की महत्ता की परख करनेवाले सर्व प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होने मुक्तको की परिभाषा केवल रूप के आधार पर नही की, बल्कि उसकी रसात्मक आधार देकर रसवादी विवेचना प्रस्तुत की । 'ध्वन्यालोक' के लोचनकार अभिनव गुप्त व्याख्या करते हुए लिखते है :—

मुक्तमन्येनऽनालिगितम् । तस्य संज्ञायां कन् ।
तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाक्षार्थमपि प्रबन्ध—
मध्यवर्ती मुक्तमित्युच्यते ।......पूर्वापरनिरपेक्षणापि
हि येन रस चर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।[३]

आगे पीछे के पद्यो से जिसका सम्बन्ध न हो, अपने विषय को स्पष्ट करने में स्वत. पूर्ण हो ऐसे पद्य को मुक्तक कहते है । स्वतन्त्र और निरपेक्ष अर्थ द्योतन में समर्थ होने पर भी वह प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है । पूर्वापर निरपेक्षता के बावजूद जिससे रस-चर्वणा सम्भव हो सके उसे मुक्तक कहते हैं ।

काव्य-मीमासाकार ने मुक्तक पर अर्थ की दृष्टि से विचार किया और वस्तु के आधार पर मुक्तक तथा प्रबन्ध की समानता स्थापित की । राजशेखर ने यह माना कि प्रबन्ध के समान मुक्तक मे भी वस्तु के पाँचो रूप शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, सविधानक और आख्यानवान् प्रयुक्त हो सकते है ।[४] 'काव्या-

---

१. काव्यादर्श, दण्डी, अध्याय १, श्लोक ६

२. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन, ३ उद्योत, पृ० १४३-१४४

३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, नवम अध्याय ।

नुशासन' मे हेमचन्द्र ने काव्य के दो रूप निर्धारित करते हुए मुक्तक को श्रव्य काव्य की अनिबद्ध कोटि मे रखा :—

अनिबद्धं मुक्तकादि[1]

कविराज विश्वनाथ ने सर्वथा मुक्तक को मुक्त अर्थ में लिया :—

छन्दोबद्ध पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।[2]

संस्कृत में मुक्तक को जिस रूप में पारिभाषित किया गया उसका यही आशय निकलता है कि पूर्वापर निरपेक्ष रसमय काव्य को मुक्तक कहते है परन्तु उसमे रस की अवस्थिति की अनिवार्यता निर्विवाद नहीं मानी जा सकती क्योंकि बहुत से ऐसे मुक्तक प्राप्त है जिनमे दार्शनिकता, उपदेशात्मकता, स्तुति-परकता की प्रधानता है और जिनमें शास्त्रीय रस नही है किन्तु मानवीय कल्याण तथा अभिव्यक्ति की कुशलता के कारण उन्हें काव्य की कोटि मे माना जाता रहा है। मुक्तक को प्रबन्ध या सर्गबद्ध काव्य मानने वाले आचार्य दण्डी जैसे विद्वानों का मत सर्वथा ग्राह्य नही है। 'मुक्तक काव्य जब भी रचा जायेगा स्वतन्त्र रूप मे ही उसकी अवस्थिति होगी और आत्मपर्यवसित रचना रसपूर्ण एवं नीरस दोनो ही प्रकार की हो सकती है'।[3] सम्भव है कि दण्डी का ध्यान ऐसे मुक्तको के ऊपर रहा हो जो प्रबन्ध काव्य मे गुंफित होते हुए भी अपने अलग अस्तित्व की उद्घोषणा करते रहते है। रामचरितमानस की यह पंक्ति 'परहित सरिस धरम नहि भाई' मुक्तक ही है। इस तरह की बहुत सी पंक्तियाँ संस्कृत और हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों मे मिलती हैं। हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति मे भूला हुआ पाठक निमग्न हो जाता है और हृदय मे स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छीटें पडते हैं जिससे हृदय कलिका थोडी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा सघटित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नही होता बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य सहसा सामने ला दिया

---

१. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, अ० ८ सूक्त ५, ६ पृ० ४४६।

२. विश्वनाथ कविराज : साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद।

३. डॉ० शकुन्तला दुबे : काव्य रूपो के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० ४६२।

जाता है।"[1] प्रस्तुत कथन का विश्लेषण करने पर प्रबन्ध की तुलना मे मुक्तक की तीन विशेषतायें उभर कर सामने आती है :—

(१) प्रबन्ध मे रस की अजस्र धारा बहती है किन्तु मुक्तक मे रस के छीटे पड़ते हैं। इस मंतव्य को अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट लक्षित होता है कि यह अवधारणा निर्दोष नही है। रामचन्द्र शुक्ल ने इस मत की स्थापना 'रामचरितमानस' जैसे प्रबन्ध काव्य के आधार पर की जिसमे राम की कथा स्वतः रुचिकर है। यही नहीं राम की कहानी को यदि बिना किसी प्रबन्ध काव्य का आश्रय लिये सुनाया जाय तो श्रोता को उसमें कहानी का आनन्द तो मिलेगा ही। पाठक या श्रोता का ध्यान कथात्मक प्रबन्ध काव्य में इसलिए भी आकर्षित रहता है कि ध्यान चूक जाने पर वह आगे आनेवाले प्रसंगों को समझ नही पाता। शास्त्रीय दृष्टि से प्रबन्ध काव्य की हर पंक्ति मे रस निष्पत्ति नही होती है। उसमें अधिकांश भाग तो वर्णनात्मक ही रहता है। पूरे काव्य मे कुछ मार्मिक स्थल होते है जहाँ रस की पूर्ण व्यंजना होती है और पाठक कथा क्रम के चक्कर को भूलकर उसमे डूब जाता है। प्रबन्ध मे रस की धारा नहीं बल्कि कथा का प्रवाह होता है जिसका सहगमन करता हुआ पाठक कभी रस का आस्वाद लेता है कभी घटना वैचित्र्य मे फँसकर चमत्कृत होता है, कभी रस मे पूर्णतः निमग्न होता है और कभी केवल कथा ही उसके साथ होती है। मुक्तक काव्य में रस की धारा बहेगी या छीटे पड़ेगे या शुष्कता ही रहेगी यह सब तो मुक्तक रचना की प्रकृति पर निर्भर करता है। रसात्मक मुक्तकों मे रस का आस्वाद किसी भी प्रबन्धगत रस से कम नही होता। 'अमरुकशतक', 'चौर पंचासिका', 'सूरसागर' आदि मुक्तक रचनाएँ नीरस नही है। अमरुक के एक एक श्लोक को सौ प्रबन्धों के बराबर माना जाता है। इस अतिशयोक्ति का कारण आकारगत नहीं है बल्कि रसगत है। रसहीन मुक्तको मे महत्त्वहीनता तथा अर्थहीनता नही होती उनका अपना एक विशिष्ट लक्ष्य होता है। फिर रस का कोई स्तर भेद भी नही माना जा सकता।

(२) प्रबंध को शुक्ल जी ने वनस्थली कहा और मुक्तक को चुना हुआ गुलदस्ता। इस कथन में मुक्तक की सीमित जकड़न चुनाव कला प्रधानता और प्रबंध की स्वाभाविकता या स्वत. विकास प्रक्रिया की व्यजना निहित है। प्रबंध का विकास बिलकुल सहज, अप्रयासित नही है। प्रबंधकार पूरी घटना को अपने प्रयोजन के अनुसार सुसज्जित करता एवं कथा का चयन तथा नियोजन

१ शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २७५

कलात्मक सजगता के साथ करता है। माघ के 'शिशुपाल-वध' मे शब्द-योजना तथा कलागत कारीगरी की उच्चता देखी जा सकती है जिसके संबंध मे यह उक्ति है—नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते। वनस्थली मे विस्तृति और गुलदस्ता मे संक्षिप्तता का जो भाव है वह प्रवंध तथा मुक्तक के अन्तर को अवश्य ही निर्दिष्ट करता है। मुक्तक के अन्तर्गत कोई दोष छिप नही पाता इसलिए मुक्तककार को विशेष सजग रहना पड़ता है। यह सजगता कलात्मक स्तर पर भी होती है क्योंकि उसे तो थोड़े मे बहुत कुछ कह देना है। इन्ही सब कारणो से मुक्तक मे चयन, संचय और मंडन की प्रवृत्ति बढ जाती है।

(३) प्रबंध मे पूर्ण जीवन आता है किन्तु मुक्तक मे एक रमणीय खण्ड का दृश्य आता है। रसोत्पत्ति के लिए मुक्तक मे दृश्य-विधान को विशेष महत्त्व दिया गया है। बिना इन दृश्यों की अनोखी उद्भावना के मुक्तक में रसोत्पत्ति सभव नही।[1] अतः मुक्तक की अत्यन्त संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—

मुक्तक ऐसी निबंध काव्य रचना है जिसमें रस, भाव, उक्ति वैचित्र्य या किसी महत्त्वपूर्ण मानवीय संदेश की कलात्मक निष्पत्ति होती है।

पाश्चात्य साहित्य मे मुक्तक की स्थिति :

प्राचीन तथा नव्य पश्चिमी काव्य परम्परा मे भारतीय मुक्तक जैसी कोई रचना नही हुई। प्राचीनकाल मे यूनान में मुक्तकों के साथ गेयता अभिन्न रूप से जुड़ी थी। यह स्थिति प्राचीन वैदिक सूक्तों से मिलती-जुलती है किन्तु वैदिक साहित्य मे कुछ ऐसे मुक्तक मिलते है जो गेयता से मुक्त हैं। सामवेद का निर्माण ऋग्वेद के गेय मुक्तको के चयन से हुआ अर्थात् अवशिष्ट मुक्तको मे उतनी गेयता न थी जितनी सामवेद के संग्रहीत मुक्तकों में। आगे चलकर उपनिषदो के बीच मे जो पद्यात्मक रचनाएँ समाहित हुई उनसे शुद्ध मुक्तक-काव्य की परम्परा बिलकुल स्पष्ट हो गई। पाश्चात्य काव्य मे मुक्तक, गीति-मुक्तक के रूप में ही विकसित हुए यद्यपि डा० रामअवध द्विवेदी ने यूरोपीय लिरिक के एक ऐसे भेद की ओर संकेत किया जिसमे सहजानुभूति कलात्मक उपकरणों से आच्छादित रहती है।[2] ऐसे मुक्तकों के उदाहरण स्वरूप उन्होने

१. डा० शकुन्तला दूबे . काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० ४६०।

२. डा० रामअवध द्विवेदी : साहित्य रूप, पृ० २३८

लघु मुक्तकों को प्रस्तुत किया । मुक्तक के दूसरे भेद में ऐसे मुक्तक आते है जिनमे तीव्र भावनाओं की सीधी अभिव्यक्ति होती है जिनमे सगीतमयता प्रचुर परिणाम में विद्यमान रहती है ।[1] शोक गीत, इडिल तथा सानेट मुक्तक काव्य के ही प्रारूप हैं :—

शोक गीत—यूरोप में भारत की अपेक्षा अधिक शोक गीत लिखे गये। शोक काव्य मृत्यु से संबंधित होता है और उसमे प्रियजन के निधन पर विषाद प्रकट किया जाता है। इसका एक भेद पैस्टोरेल एलेजी है जो प्रकृति और गडेरियों के जीवन से संबंधित कतिपय रूढियो को आत्मसात करके विकसित हुई।

इडिल—प्राचीनकाल में चित्रात्मक लघु काव्य को इडिल कहा जाता था जिसमे प्राकृतिक सौन्दर्य तथा शान्तिपूर्ण मनोवृत्ति को अभिक्त किया जाता था किन्तु उन्नीसवी शताब्दी मे ब्राउनिग और टेनीसन ने लम्बे रोमांटिक आख्यानक काव्यो को इडिल नाम से अभिहित किया तब से उसके रूप-विधान की धारणा अनिश्चित सी हो गयी।

सानेट—इसमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं। अंग्रेजी ने पहले पहल इसे पेट्रोक से प्राप्त किया था और फिर धीरे-धीरे उसका रूप अपने ढंग से परिवर्तित करती गयी। इस प्रकार अग्रेजी मे सानेट के कई भेद हो गये।

मुक्तक काव्य का क्षेत्र और भेद :

मुक्तक का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मुक्तक ही किसी कवि के काव्य जीवन मे प्रवेश करने का प्रथम द्वार है । वामन ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा कि अनिबद्ध रचना में सिद्धि पा लेने के पश्चात् ही निबद्ध रचना मे सिद्धि मिलती है। बहुत से कवि अपने को मुक्तक काव्य रचना तक ही सीमित रखना चाहते हैं यह उचित नही है। अग्नि के अणु की तरह मुक्तक रचना चमकती नही है। राजशेखर का भी कथन है कि मुक्तक रचनाकार असंख्य कवि होते हैं प्रबन्धकार एक समय मे सौ ही मिल सकते है। महाकाव्यकार एक समय मे केवल कोई एक या दो हो सकते हैं। तीन का मिलना तो कठिन ही है। काव्य की महत्ता कवियो की सख्या पर आधारित मानना उचित नही है। मुक्तक काव्य की रचना करनेवाले बाल कवियो की संख्या भले ही ज्यादा हो किन्तु सिद्ध मुक्तककार कम ही मिलते हैं। काव्य के किस रूप की उन्नति

1 डा० एम अग्रम त्रिवेदी साहित्य रूप पृष्ठ २३८

कब अधिक होगी कब कम यह समय सापेक्ष अधिक है। संपूर्ण ऋग्वैदिक काल मे तथा हिन्दी साहित्य के मध्यकाल मे मुक्तक ही अधिक रचे गये। रीतिकाल का एक ही कवि अपने मुक्तक तथा प्रबध काव्य रचना मे मुक्तककार के रूप मे अधिक कुशल सिद्ध हुआ। सामान्यतया मुक्तक के क्षेत्र मे स्वमात्र विश्रान्त वे समस्त पद आ जाते हैं जो किसी प्रबंध के अग न हो और रमणीयता का सपादन करने में समर्थ हों। मुक्तक काव्य का रचना क्षेत्र प्रबध से कम विकसित नही है। वैदिक युग की जितनी सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक उपलब्धियां है वे सभी मुक्तको में अभिव्यक्त है। इन्ही मुक्तक रचनाओ का संग्रह ही वेद सहिता के नाम से प्रसिद्ध है।

मुक्तकों का वर्गीकरण :

मुक्तकों के वर्गीकरण के कई आधार है। प्राचीत भारतीय आचार्यो ने मुक्तक काव्य के भेद मुख्यत· श्लोकों की गणना के आधार पर किये है।—

१ –**मुक्तक**—एक श्लोक की निर्बंध रचना मुक्तक है।

२—**युग्मक**—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसमे श्लोकों का एक युग्म होता है। इन दो श्लोको मे पूर्ण अर्थ की प्रतीति होती है.

(३) **विशेषक**—तीन श्लोकोवाली रचना को विशेषक कहते है।

(४) **कलापक**—चार श्लोकोंवाली रचना कलापक कहलाती है।

(५) **कुलक**—इसमे पॉच या ५ से लेकर चौदह तक श्लोक होते हैं। कुछ आचार्यों का मत है 'पंचभि' कुलकं' हेमचन्द्राचार्य ने कहा कि 'पंचभिश्चतुर्दशान्तैः कुलकं। अग्नि पुराणकार ने पॉंच से अधिक श्लोको के अन्वय को कुलक माना है।

(६) **कोश**—परस्पर असम्बद्ध मुक्तकों के संग्रह को कोश कहा जाता है। स्वैपर कृति सूक्ति-समुच्चयः कोशः सप्तशतकादिः (काव्यानुशासन हेमचन्द्र आठवा अध्याय)।

(७) **प्रघट्टक**—एक कवि रचित श्लोक समूह का नाम प्रघट्टक है।

(८) **विकर्णक**—अनेक कवियों द्वारा लिखित मुक्तको का संग्रह है। यह भी कोश का ही एक रूप है।

(९) **संघात या पर्यायबन्ध**—एक कवि द्वारा एक विषय पर रचित छन्दो को संघात कहते हैं 'एकार्थ विषय. एककर्तृकपद्यसंघातः'।

द्वितीय आधार : छन्द :

छन्दों के आधार पर मुक्तकों को दोहा, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, छप्पय, बरवै और सोरठा आदि रूपों में विभक्त किया जाता है ।

तृतीय आधार : रस और भाव :

इसके अनुसार मुक्तक के दो भेद किये जाते हैं :—

(१) रसात्मक मुक्तक—रसात्मक शब्द उपलक्षण है इसके अन्तर्गत भावों मे सम्बन्धित सभी प्रकार के मुक्तक आ जाते है । इन भावों के आलम्बन मे प्रकृति, परमात्मसत्ता या अन्य कोई दिव्य शक्ति चित्रित हो सकती है । इसमे भगवद्भक्ति स्तोत्र, राज विषयक रति का भी सन्निवेश हो जाता है । किन्तु रसात्मक मुक्तक की संज्ञा उन्ही मुक्तको को मिल सकती है जिनमें किसी न किसी भाव की अभिव्यंजना होती है । रसात्मक मुक्तको के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भाव-शबलता आदि का वर्णन करने वाले निबंध पद्यों का सन्निवेश किया जाता है ।

धार्मिक मुक्तक :

प्राचीन साहित्य में कुछ ऐसे मुक्तक मिलते है जिनमें लौकिकभाव की अभिव्यक्ति पर बल नही दिया गया है । यद्यपि इन मुक्तको में भाव व्यजना तथा उक्ति वैचित्र दोनों का हल्का सस्पर्श मिलता है । इन्हे न तो शुद्ध रसात्मक कहा जा सकता है न सूक्ति । धार्मिक वर्णनो से सम्बद्ध मुक्तको को धार्मिक मुक्तक कहा गया है ।

मुक्तको का ऐसा वर्ग भी मिलता है जिसमें रस को कोई स्थान नही केवल कथन का चमत्कार ही प्रमुख रूप से उपलब्ध होता है—

(१) प्रतीकात्मक भाषा मे लिखे गये मुक्तको-सन्ध्यभाषा, उलटवासियाँ, दृष्टकूट की प्रमुख विशेषताएँ भाषिक अस्पष्टता तथा प्रतीकात्मकता है ।

(२) सूक्ति—सूक्ति का अर्थ होता है सुन्दर उक्ति । सुभाषित को भी सूक्ति का ही समानार्थी माना जाता है । सूक्तियो मे अधिकतर नीति तथा उपदेश के मुक्तक होते हैं । अतः इसके दो उपभेद है :—

नीति प्रधान मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तकों के माध्यम से कवि अपने महत्त्वपूर्ण अनुभवो को कलात्मक ढंग से सप्रेषित करके मानव को सचेष्ट करने का प्रयास करता है ।

वह समाज के निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग, प्रजा से लेकर राजा तक को नीति की बातें बताता है।

उपदेश प्रधान मुक्तक :

सन्त-महात्मा आत्म कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण की भावना से व्यग्र रहते है। अत: वे सांसारिक कर्म के जालो मे फँसी मानवता के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होते हैं। एतदर्थ उन्हें जन-प्रबोधन की जरूरत होती है। राग, विराग, ईश्वर महिमा आदि विषयों को लेकर वे सामान्य जनो को उपदेश देते हैं जिन्हें उपदेशात्मक मुक्तक कहते हैं। उपदेशात्मक मुक्तकों में कुछ आचारपरक होते हैं।

समस्यापूर्ति—इसमे किसी दी हुई पंक्ति के आधार पर छन्द को पूरा किया जाता है। इसका प्रारभ सस्कृत काल से हुआ।

मुकरियाँ—इस काव्य रूप का प्रयोग खुसरो ने किया है। इसमें कुछ पक्तियों मे ऐसा वर्णन होता है जो साजन के ऊपर घटित होता है किन्तु ऐ सखि साजन को नकार कर (मुकर कर) दूसरा उत्तर दिया जाता है।

झूलना—इसमे उक्ति चमत्कार ही प्रमुख है। संतो ने इसका अधिक प्रयोग किया है।

ककहरा—इसमें मुक्तक का आरभ वर्णमाला के अक्षरो के क्रम से होता है।

पहाड़ा—इसमे संख्यावाचक शब्दों से छन्द का आरम्भ होता है।

मुक्तक का प्रकृतिगत विभाजन :

कवि जिस भाव की प्रेरणा से कवि कर्म में प्रवृत्त होता है वह भाव उसके काव्य मे द्रवित हो जाता है। यदि पूरे मुक्तक का निचोड़ लिया जाय तो प्रस्तुत पद का भाव कवि रचना दृष्टि से जुडकर जीवन दृष्टि की झलक देने लगता है। लौकिक तथा अलौकिक दृश्यो को कवि अपने अभिप्रेत के अनुसार मोड देता है। इसी तरह मुक्तक की पूरी प्रकृति इच्छित दिशा मे ढल जाती है। लौकिकता तथा अलौकिकता के आधार पर मुक्तक को लौकिक मुक्तक तथा अलौकिक मुक्तक दो भागों में बाँट देते हैं।

(१) **लौकिक मुक्तक**—लौकिक मुक्तक के अन्तर्गत समस्त सासारिक क्रियाकलापों से सम्बद्ध मुक्तक आ जाते हैं। डा० शकुन्तला दुबे के शब्दो मे लौकिक भावना इस लोक के समस्त क्रियाकलापो को लेकर चलती है। अतः

उसके भीतर अन्यान्य भावनायें स्थान पा लेती हैं। उसकी शृंगारिक, वीर, रसमयी नीति और उपदेशात्मक प्रवृत्तियाँ लौकिक मुक्तकों में अभिव्यक्त होने लगती हैं।'[1]

(२) **अलौकिक मुक्तक**—कुछ कवि मूल रूप से भक्त, सन्त या आध्यात्मिक व्यक्तित्ववाले होते है। उनका मन न तो पायल की रुनझुन मे रमता है और न तलवारो की खनखनाहट मे ही रमता है। वे यह मानते है कि मानव को मदमस्त करनेवाली महिला, मनुष्यो का सब से बड़ा शत्रु नारी पारलौकिक आनन्द से विरक्त करनेवाली है। वे सब तरह की सासारिकता को तिलांजलि देकर आध्यात्मिक साधना मे लीन हो जाते है। उनका उद्देश्य कविता करना नही बल्कि जनता को उद्बोधित करना होता है। ऐसे कवियों की मुक्तक रचनायें आमुष्मिकता के भावो से भरी होती हैं। उनमे मूलतः शान्त और भक्ति रसो की निष्पति होती है।

अलौकिक मुक्तको को पाँच भागो मे बाँटा जाता है—

(१) स्तुति प्रधान

(२) प्रार्थना प्रधान

(३) वैराग्य प्रधान

(४) सतोष प्रधान, कथनी प्रधान[2]

धार्मिक मुक्तकों को भी इसी मे सम्मिलित किया जा सकता है।

रचना-शिल्प के आधार पर :

मुक्तक रचना के लिए किसी इतिवृत्त या बडी घटना की आवश्यकता नही होती। इतिवृत्त तथा घटना का प्रयोग यदि किया जाय तो उसे एक हद तक सीमित रखना पडता है। मुक्तक की सामासिक शैली में घटनाओं तथा इतिवृत्तों का थोडा सा संकेत मिलता है। सम्पूर्ण अर्थ को उद्घाटित करने के लिए अलग से प्रसंग कल्पना करनी होती है। कभी कोई कवि ऐसे प्रसंगों को अपनी रचना प्रक्रिया का अंग बना देता है। अत: उसके काव्य में एक छोटे मोटे कथानक की सृष्टि हो जाती है। फलस्वरूप उसमे कुछ कुछ प्रबन्धात्मकता के गुण आ जाते हैं। ऐसी रचनाओं को प्रबन्धात्मक मुक्तक कहा जाता है।

---

१. डा० शकुन्तला दुबे : काव्य रूपो के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० ५२२।

२. वही

मेघदूत, संदेशरासक, गीति-गोविन्द, उद्धवशतक, आँसू इसी तरह की रचनाये है। संदेशरासक पर विचार करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस संबंध मे कुछ तथ्य उद्घाटित किये—वस्तुतः दोनो में (मेघदूत, सदेशरासक) कथा वस्तु को बहाना बनाकर विरह- वर्णन का चित्रण करना ही कालिदास और अद्दहमाण का उद्देश्य है······। इन कथा सूत्रो का अपने आप मे कोई महत्त्व नही है।··· ·········इस प्रकार के क्षीण-प्रबन्धधर्मा मुक्तक काव्यो की भारतीय साहित्य मे कमी नहीं है।

'मेघदूत, ऋतुसंहार, गीतगोविन्द, चौर-पंचाशिका, रम्भा शुक संवाद, बीसलदेव रासो, ढोला मारूरा दोहा और उद्धवशतक आदि इसी प्रकार के काव्य है जिनमे प्रबन्धात्मकता केवल नाम मात्र के लिए है और जो शुद्ध मुक्तक काव्यों से दूर नहीं पड़ते।[1] इस प्रकार मुक्तक के दो भेद हो जाते हैं :—

१. शुद्ध मुक्तक।
२. प्रबन्धात्मक मुक्तक।

इसी सन्दर्भ मे श्री जितेन्द्र पाठक ने मुक्तक के अन्य भेद मुक्तक प्रबन्ध की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन्होने प्रबंध मुक्तक और मुक्तक प्रबन्ध दोनों मे भेद दर्शाते हुए लिखा प्रबन्ध मुक्तक मे यदि उपस्थान शैली प्रबंधात्मक होती है और वक्तव्य-विषय प्रगीतात्मक तो मुक्तक प्रबंध मे उपस्थान शैली मुक्तकात्मक और वक्तव्य विषय कथाश्रयी।[2] वास्तव में प्रबन्धात्मक मुक्तक के अन्तर्गत दोनो के सामान्य तत्त्व सम्मिलित हैं। गेयता काव्य का एक अलग धर्म है। इसके आधार पर मुक्तकों के विभाजन की चर्चा आगे की जायेगी।

माध्यम के आधार पर मुक्तक का वर्गीकरण :

इस आधार पर मुक्तक को दो भागों मे बाँटा जाता है :—

१. अगेय या पाठ्य मुक्तक।
२. गीति-मुक्तक।

पाठ्य या अगेय मुक्तक मे कवि अपनी अनुभूति को कलात्मक सजगता के साथ अभिव्यक्त करता है। किन्तु जब वह सुख दुख की गहराई मे निमग्न हो जाता है तो बुद्धि भी भावना मे डूब जाती है। सारे भाव पिघल कर स्वतः ही बह निकलते हैं। आत्म निष्ठता तथा तरलता से युक्त ऐसे मुक्तक गीति-मुक्तक

१. विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक (भूमिका), पृष्ठ ८७-८८
२. जितेन्द्र नाथ पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २५।

कहलाते हैं। कुछ विद्वान् मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य दोनो को अलग-अलग मानते हैं। डा० शकुन्तला दुबे ने गीति तथा मुक्तक का भेद निम्नलिखित आधारो पर किया है—

१. स्वानुभूति के निरूपण में कवि उन्मुक्त पक्षी की भाँति गान करता है जिसमे कला पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष की प्रधानता होती है। उसे गीत कहते हैं। जब अनुभूति पर शास्त्रीयता तथा बौद्धिकता का अधिक दबाव पड़ता है तो अभिव्यक्ति सहज न रहकर अलकृत तथा सचेष्ट हो जाती है और तब मुक्तक का निर्माण होता है।

२. मुक्तक में शास्त्र संपादित अन्यान्य व्यापारों की सहायता से रस व्यंजना की जाती है। गीतिकाव्य की रस व्यंजना मुक्तक की भाँति कलात्मक अथवा रूढ़िगत नही होती है।

३. मुक्तक मे छन्द-विधान आवश्यक तत्त्व है। गीत काव्य तो एक बार इस छन्द के बन्धन को अमान्य करके आगे बढ सकता है किन्तु मुक्तक विना उसे अपनाये आगे बढ़ ही नही सकता।

४. मुक्तक मे किसी कथा अथवा कथाश का वर्णन नही होता तथापि उसमें कोई प्रसंग अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य वर्तमान रहता है।

५. मुक्तक में समुचित रसावगाहन के लिए काव्यगत रूढ़ि का ज्ञान आवश्यक है।

ऊपर जितने भेद गिनाये गये हैं वही भेद कम वेश गीत तथा अगीत मुक्तकों मे है। मुक्तक तथा गीतिकाव्य को बिलकुल अलग मानना तर्क सगत नही है क्योकि इन दोनो के बीच कोई स्पष्ट रेखा नही खीची जा सकती। वैदिक मुक्तको में एक तरफ गीतिमयता है तो दूसरी तरफ कलात्मक सजगता भी है। उषा के वर्णन मे किसी भी लौकिक कवि द्वारा वर्णित दृश्य से कम आलकारिता नहीं है जो कि प्रमुखतया मुक्तक का ही गुण माना जाता है। ये मत्र गीतात्मक तत्त्वों से विरहित नहीं हैं। वेदो का सस्वर पाठ होता था यह सर्वविदित है। लेखिका महोदया ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है 'अस्तु संगीत तो वैदिक सूक्तों में है ही क्योंकि बिना लय के उनका पाठ या गान संभव नहीं। उनके प्रणयन में स्वरों का तो इतना ध्यान रखा गया है कि कहीं भी स्वरों मे हेरफेर समस्त अर्थ को बदल कर उसके सौन्दर्य को नष्ट कर देता।

सामवेद की रचना तो बहुत ही गीतात्मक है जिसका प्रत्येक सूक्त संगीत से लिपटा हुआ है'।[१]

वैदिक सूक्तों की रचना किसी न किसी छन्द मे अवश्य हुई है जो मुक्तक का गुण माना गया है। आधुनिक काल मे ऐसे बहुत से गीत-अगीत काव्य लिखे गये हैं जो छन्दों से मुक्त है। लौकिक संस्कृत में अमरुक कुशल मुक्तक-कार के रूप मे प्रसिद्ध हैं। अमरुक द्वारा लिखित असरूशतक को मुक्तक काव्य का निकष माना जाता है। वाह्याडम्बर से मुक्त इन मुक्तकों मे भावाभिव्यजना उच्चकोटि की है। शार्दूल विक्रीडित छन्दोबद्ध इन श्लोको मे सामासिक क्लिष्टता नही है। कीथ महोदय ने इसे लिरिक (गीति काव्य) की कोटि में रखा है। भाव और कला दोनो दृष्टियो से इस समोत्कृष्ट काव्य को केवल मुक्तक काव्य कहा जाय या केवल गीतिकाव्य ? वास्तव में इसे गीति-मुक्तक कहना ही उचित है। वैदिक मुक्तको को भी इसी कोटि मे रखना चाहिए। मुक्तक के रसावगाहन के लिए काव्यगत रुढ़ि का ज्ञान आवश्यक है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन परवर्ती मुक्तककारों बिहारी आदि के मुक्तकों का अध्ययन करके किया गया है। सम्पूर्ण मुक्तक परम्परा पर यह सिद्धान्त लागू नही होता। निष्कर्ष यही निकलता है कि मुक्तक को गेयता के आधार पर गीत मुक्तक, पाठ्य या अगीत मुक्तक दो भागों मे बाँटना ही उचित है।

समस्त काव्य रूपों का विकास अलगाव की ओर होता रहा। अपभ्रंश तथा हिन्दी तक आते-आते मुक्तक काव्य के एक रूप ने अपनी अलग स्थिति ना ली। अपभ्रश में पद शैली का विकास हुआ जो कि मुक्तक काव्य के ामान्य रूप से अभिव्यक्ति तथा भाव दोनो मे भिन्न थी। भक्तिकाल में पद-शैली का प्रचुर प्रयोग हुआ तथा उसके साथ गेय तत्त्व अनिवार्यतः जुड़ता गया। सूर, मीरा आदि ने जिन पदो की रचना की उनका निजी वैशिष्ट है। पद मे एक ही भाव केन्द्र मे होता हैं। अन्य बाते उसी केन्द्र के चारो ओर घूमती रहती है। भाव किसी विस्तृत विषय की अपेक्षा नही करता और उसमें न तो बाह्य रचना संबंधी कलात्मक चमत्कार ही होता है। गीतकार के प्रकाश का फोकस किसी भाव पर पड़ता है जिससे मूलभाव चमक उठता है तथा उसका परिवेश भी थोड़ा-थोड़ा प्रकाशित हो उठता है। मुक्तक मे फोकस किसी विषय

१. डा० शकुन्तला दूबे : काव्य रूपो के मूलस्रोत और उनका विकास, पृ० १५२।

या तथ्य पर होता है तथा उसे कई रंगो में तरह-तरह से चमका दिया जाता है। इसलिए उसमे एक विशेष चमत्कृति आ जाती है।

पद गीत मे पहले आरोह होता है फिर अवरोह किन्तु मुक्तक रचनाओं मे अवरोह से आरोह होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मुक्तक वह सपाट या अवरोह से आरोह की ओर अग्रसित होनेवाली काव्य-रचना है जिसमें किसी भाव या विषय को चमत्कारिक ढंग से प्रकाशित कर दिया जाता है।

अपभ्रंश तथा हिन्दी के कुछ छन्दो को लेकर मुक्तक की रचना प्रक्रिया को और अच्छी तरह से परखा जा सकता है। सर्वाधिक लोकप्रिय मुक्तक छन्द दोहा, कुंडलिया, सवैया, तथा कवित्त रहे है। दोहा एक लघु छन्द है। इसमे कवि का कथ्य बड़ी संक्षिप्तता से कलात्मक कसावट के साथ तुरन्त व्यक्त हो जाता है। किसी महत्त्वपूर्ण बात को समझाने के लिए बिना विस्तार किए दोहे का प्रयोग किया जा सकता है। इसीलिए धार्मिक उपदेशों के लिए इसे बहुत उपयुक्त समझा गया। इससे श्रोताओ को उपदेश के किसी विस्तृत क्रम को ध्यान में नहीं रखना पडता। उसका ध्यान कवि द्वारा उद्‌घाटित तथा प्रकाशित किसी एक तथ्य पर टिक जाता है जैसे —

जसु हरिणच्छी हियइ वसइ तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समन्ति बढ बे खण्डा पडियारि॥[1]

इस दोहे मे कवि कहना चाहता है कि साधना के मार्ग में स्त्री अवरोधक है। इसके लिए वह कोई लम्बा चौडा व्याख्यान नही देता वलिक चुने चुनाये कुछ शब्दो मे ही पूरी बात समझा देता है। जिसके हृदय मे हरिणाक्षी स्त्री निवास करती है उसे ब्रह्म विचार नहीं हो सकता। यह तो मात्र एक कथन हुआ जो उत्सुकता को शान्त नहीं करता वलिक नये प्रश्न को उठाता है क्यो ? फिर कवि मूल भाव को दूसरी पक्ति से चमकाता है और प्रचलित मुहावरे को रखकर मुक्तक छन्द को पूर्ण कर देता है। 'बढ' के प्रयोग से वह श्रोताओ तथा पाठको को एक बार झकझोर देता है और कहता है (क्या) एक म्यान मे दो तलवारे रह सकती हैं? अर्थात् नहीं। श्रृंगारिक भावों को चमत्कारिक ढंग से व्यक्त करने के लिए भी दोहे को इसी तरीके से पूर्ण प्रभावोत्पादक बनाया जाता है जैसे :—

मइं जाणिउपिअ विरहिअहं कवि धर होइ विआलि।
णवर मिअङ्कु वि तिहतवइ जिह दिणयरु खय गालि॥[2]

---

१. परमात्म प्रकाश, प्रथ० महा०, पृष्ठ १२२।

इस दोहे मे प्रथम पद साधारण है, मुक्तक का पूर्ण चमत्कार दूसरी पंक्ति मे स्पष्ट होता है जिसमे नायिका को मृगाक (चन्द्रमा) प्रलयकालीन दिनकर की तरह चमकता दिखाई पड़ता है। हिन्दी के मुक्तककारो ने शब्दो की क्रियाओ की ऐसी नियोजना की कि वे अपने अर्थ-विस्तार की गरिमा से ही सारे भावो को उजागर कर देते है। ऐसे मुक्तको के हर शब्द अपने अपने स्थान पर ऐसी चुस्ती से पिरोया रहता है कि उसे यदि वहाँ से हटा दिया जाय तो सारा काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो जायेगा—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों त्यो उज्जलु होइ।।

इस दोहे मे स्याम शब्द अर्थगर्भित है जो कृष्ण तथा काले दोनो के लिए प्रयुक्त है। उज्जलु से कृष्ण का ईश्वरत्व भी सिद्ध हो जाता है।

लटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पटु ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि।।

इस छन्द मे हर शब्द बराबर गति से अग्रसरित होता है किन्तु कवि की सौन्दर्यानुभूति का गहरा चित्र 'पावक झर सी झमक' मे उजागर होता किन्तु सम्पूर्ण भाव-चित्र पूरे दोहे की व्यंजना पर आधारित है।

कुंडलिया में लय अवरोह से आरोह की होती है। एक के बाद एक स्वर ऊँचा होता जाता है तथा अन्त मे बडे ओज के साथ अभीप्सित प्रभाव छोडता है। इस तरह की गति तथा लय के कारण कुडलिया छन्द वीर रस के वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त होता है। शिक्षाप्रद अन्योक्तियाँ भी कुंडलिया द्वारा व्यक्त की गयी हैं। एक उदाहरण देखिये—

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महं मुच्छिअ मेच्छसरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर।
चलिअ बीर हम्मीर पा अमर मेइणि कंपइ।
दिग मग णह अंधार धूलि साह रह झंपइ।
दिग मग णह अंधार आण खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख, मारू, ढिल्ली मह ढोल्ला।

इस छन्द मे कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति होती है अत. वह पुन. पुनः अनुरणित होता है। कवित्त तथा सवैया मे शब्दों की पुनरावृत्ति तो नही होती पर सारा भाव हर पंक्ति में फैलता-फैलता अन्त की पंक्ति में बिलकुल केन्द्रित हो जाता है।

मुक्तको की पद शैली जिन्हे गीत-मुक्तक कहा गया है की रचन

प्रक्रिया अगीत या पाठ्य-पुस्तकों से भिन्न होती है। पदो मे टेक य ध्रुवक जोडकर प्रचलित छन्द से थोडा भिन्न कर दिया जाता है। छन्दो के प्रयोग मे अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्दता बरती जाती है। इस तरह कभी-कभी छन्दोभंग हो जाता है। अपभ्रंश मे चर्याओ के लिए जो पद संज्ञा का प्रयोग हुआ है उसकी रचना-विधि हिन्दी पदो की रचना विधि से भिन्न है। उसमे अधिकतर दो-दो पंक्तियो मे तुक साम्य परिलक्षित है। टेक या ध्रुवक का प्रयोग नही है जैसे—

> **आलिएं कालिए बाट रुन्धेला।**
> **ता देखि काह्नु विमन भइला॥**
> **काहु कहि गइ करिब निवास।**
> **जो मनगोअर सा उआस॥**

अपभ्रंश की सभी चरित-कृतियो मे संधि के प्रारम्भ मे ध्रुवक या ध्रुवा के प्रयोग की प्रथा मिलती है। संभव है इसी का विकसित रूप हिन्दी की पदशैली हो। अपभ्रंश मे दो छन्दो के मेल से नये छन्दो के गढ़ने की परम्परा चल पडी थी जो सूर आदि भक्त कवियो की पद शैली के रूप में और भी पुष्ट हो गयी। दोहा के पहले दूसरे और तीसरे चौथे चरणो के बीच में दो मात्राओ की ध्वनि डालकर विशेष लोच पैदा किया जाता था तथा उसे लयात्मक बनाया जाता था जैसे—

> **दीपक पीर न जानई (रे) पावक परत पतंग।**
> **तन तौ तिहिं ज्वाला जर्‌यौ (पै) चित भयो रसभग।**[1]

सूरदास ने फाग का वर्णन करते हुए दोहा के दूसरे और चौथे चरणों में ११ मात्राओ की एक पंक्ति और जोड़ दी है—

> **झुंडनि मिलि आवत चली हो, झूमक नन्द कुवार मनोरा झूम करो।**
> **आजु परब हँसि खेलियै मिलि संग नन्द कुमार मनोरा झूम करो॥**[2]

चौबोला, चौपाई, चउपई को मिला जुलाकर भी प्रयोग किया गया है। सूरसागर में चौपई या चौपाई के दो चरणों के बाद १२ या १३ मात्राओं की

१. सूरसागर—पद—३२५।
२. वही, पद ३४८२।

एक पक्ति जोड़कर तीन-तीन चरणो के समूहों का एक द्विपदी छंद भी बनाया गया है। अंतिम मात्राओ की पक्ति प्रत्येक छद मे दुहराई गई है जिससे नवीन वर्णन शृंखलाबद्ध बना रहता है—

> पढ़ै पढ़ावै सुनै सुनावै
> ते बैकुंठ परम पद पावै
> सरस रसहि फूल डोल
> सूरदास कैसे करि गावै[१]

१. डा० ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास पृ०. ५७३ ।
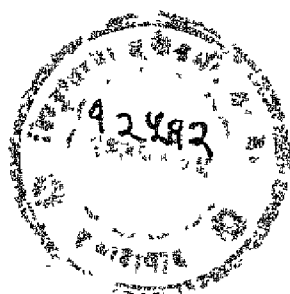
मुक्तक काव्य का स्वरूपात्मक विकास

सांस्कृतिक तथ्यो की तरह प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ऋग्वेद मे साहित्यिक तत्त्वों का भी सार्थक अन्वेषण किया जाता है। वैदिक सहिताओ मे उच्चकोटि की कविता के दर्शन तो होते ही हैं उनमे आगे विकसित होनेवाले अनेक काव्य-रूपों के बीज भी विद्यमान दिखाई देते है। ऋग्वेदादि में जो मन्त्र उपलब्ध है वे अनेक ऋषियो द्वारा (रचित) मत्रों के संग्रह ही है। ये रचनाये पूर्वापर निरपेक्ष तथा अर्थाभिव्यक्ति मे स्वत: पूर्ण है। कुछ सूक्तो मे अलकरण तथा कला की प्रधानता है। जिस तरह कुछ प्रसिद्ध या रोचक दृश्यो को लेकर मुक्तककार अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते है उसी तरह वैदिक ऋषियो ने किसी एक देवता को लेकर उसकी स्तुति तथा प्रसशा के गीत गाये।

वैदिक-मुक्तक काव्य :

वैदिक मुक्तको का कथ्य महाकाव्य की तरह अत्यन्त विस्तृत है। उसमे तत्कालीन जीवन के विविध पक्षो का उद्‌घाटन किया गया है।

वेदों में सृष्टि रचना, प्रकृति, आत्मा और जीव का स्वरूप धर्म-नीति, चरित्र, सदाचार, परोपकार और मनुष्य के वास्तविक कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है साथ ही समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति, गणित, ज्योतिष, भूगोल, रसायन या मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है। अथर्ववेद अन्नसिद्धि, बुद्धिवर्धन के उपाय, ब्रह्मचर्य, व्यापार, स्वास्थ्य आदि का विज्ञान है। यजुर्वेद में कर्म काण्डों की प्रधानता है। इसमे यज्ञो के विधि विधान के साथ ही राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिल्प, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित बातों पर भी प्रकाश डाला गया है। सामवेद ऋग्वेद के गेय मुक्तको का सग्रह है।

कोटि निर्धारण :

वैदिक मुक्तको मे श्रृंगार और वीररस की सहज निष्पत्ति हुई है। शृंगार के आश्रय रूप में सशरीरी भौतिक नारी को प्रत्यक्षत: चित्रित नहीं किया गया है और न तो प्रकृति को निर्जीव रूप रसोद्दीपन का कारण माना गया है। वास्तव में उत्तरकालीन रस प्रक्रिया से वैदिक कालीन रस प्रक्रिया भिन्न है।

वैदिक ऋषियों ने ऐसी दिव्य, सार्वभौम, शाश्वत देवियो को अपने काव्य का आधार चुना जिनमे लौकिक नारी का सारा व्यक्तित्व सिमट जाता है। दिव्य नारियो की परिकल्पना वायवी नही है उसमे उदात्त कल्पना, सौन्दर्यांकन की अद्भुत चेष्टा परिलक्षित होती है। उषा के वर्णन मे शृंगारिकता का भाव निखर पड़ता है।

इन्द्र के द्वारा वृत्त वध की चर्चा बार-बार की गयी है। शत्रु की भयकरता, व्यापकता आदि का चित्रण करते हुए इन्द्र की वीरता का जो आख्यान किया गया है साहित्य शास्त्रीय विभावानुभाव आदि प्रपंचो से मुक्त होता हुआ भी वीररस को व्यंजित करता है। पर्यजन्य और वायु के प्रसंग मे वीररस की पुष्ट व्यजना अधिक है। इस तरह के मुक्तक सूक्तो को रसात्मक मुक्तक काव्य की कोटि मे रखा जा सकता है। शेष मुक्तकों को रसहीन मुक्तक कहा जा सकता है। प्रचलित अर्थ में तो वे रसहीन है परन्तु ऋषियों की दृष्टि मे वे ज्ञान रस के अन्तर्गत मानने योग्य है। एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करते हुए कहता है :—

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
मध्वा रजांसि सुक्रत (सामवेद, उ० १-२५ (१) पृ० १६६)

हे मित्र वरुणा हमारी इन्द्रियों के घर रूप देह (और मन) प्रकाश युक्त ज्ञान रस से सीचो और उत्तम रस से हमारे पारलौकिक स्थानो को भी सिंचित करो। वेद मे ऐसे बहुत से कथन है जिन्हें सूक्ति काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमे उपदेशात्मकता तथा नैतिकता दोनो भाव धार्मिकता के धरातल पर सयुक्त हैं।

वैदिक ऋचाओ की यही धार्मिकता अनुभवों की गहराई के साथ दार्शनिकता में बदलती गयी है। इस दृष्टि से वैदिक मुक्तको को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) दार्शनिक भाव के मुक्तक।
(२) धार्मिक भाव के मुक्तक।
(३) लौकिक भाव के मुक्तक।

(१) दार्शनिक मुक्तको में ब्रह्म, जगत्, सृष्टि-रचना, आदि विषयो पर विचार किया गया है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त, प्रजापतिसूक्त की कतिपय ऋचाएँ इसी कोटि की है। मोक्ष के उपाय भी दार्शनिक सूक्तो में बताये गये हैं।

(२) धार्मिकता तथा भक्तिभाव से परिपूर्ण इन सूक्तों की रचना देवी-देवताओं की स्तुति के लिए की गयी है। देवी-देवताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के साथ-साथ उनसे ज्ञान, अन्न, जल आदि भौतिक सुख-सुविधाओं की याचना की गयी है। इन्ही स्तुत्यात्मक मुक्तकों का परवर्ती विकास प्रशंसात्मक मुक्तकों के रूप मे हुआ।

(३) भौतिक जीवन के अनेक पक्षों का चित्रण करते हुए ऋषियो की दृष्टि शुद्ध लौकिकता की भूमि पर विचरण करने लगती है। मानवीय पुरुषार्थों मे मोक्ष को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए भी उन्हें इसका कटु अनुभव था कि जो व्यक्ति लौकिक जीवन को सज्जनोचित एवं कुशलता से व्यतीत नहीं कर सकता वह अलौकिक जीवन को सुश्रेष्ठ बनाने का यत्न कैसे कर सकता है। धन-धान्य तथा बाह्य आडम्बर पर आकर्षित होनेवाली स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए वह वैवाहिक संस्कार के प्रति सतर्कता की चेतावनी देता है।[1]

साहित्यिक गौरव :

वेदों के सकलन की मूल दृष्टि धार्मिक है। परन्तु सभी मुक्तक यज्ञ या धार्मिक परम्परा से ही सम्बद्ध नहीं हैं। बहुत से मुक्तक न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये हैं, न अग्निदेव को, न आकाशदेव को, न वायुदेवों तथा जलदेवो को, न ऊषा देवी को ये सूक्त अर्पित किये गये हैं किन्तु स्वय प्रकाशमान सूर्य रात्रि के आकाश में चमकता हुआ चन्द्र, वेदी या चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटें अथवा मेघों के मध्य से फूटनेवाली बिजली की दीप्ति दिन का निर्मल आकाश अथवा रात्रि का नक्षत्रो से भरा हुआ आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघों अथवा नदियों में प्रवाहित होता हुआ जल, प्रकाशमयी उषा और विस्तीर्ण फलवती भूमि इन समस्त प्राकृतिक दृश्यो का कवित्तमय वर्णन किया गया है, पूजा की गयी है प्राथनायें की गयी हैं।[2]

इन प्राकृतिक वर्णनों को दैवत्य प्रदान करते हुए भी मानवीय धरातल पर रखा गया है। उनके शारीरिक अंग आलंकारिक निदर्शन के सिवाय कुछ भी नही है। इसके द्वारा उनकी प्राकृतिक प्रक्रिया का ही प्रतिनिधित्व होता है।

---

१ कियती योषा मर्यतो वध्योः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयंसा मित्रं वनुते जनेचित्॥

२. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : भारतीय मुक्तक परम्परा पृ० १३।

सूर्य की भुजाएँ किरणों का और अग्नि की जीभ और बाहें उसकी लपटों का ही मानवीयकरण है। मनुष्य का प्रिय भोजन ही देवों का प्रिय भोजन है।

काव्य प्रयोजन की दृष्टि मे वैदिक काव्य को न तो शुद्ध रूप से मनोरंजनार्थ रचित कहा जा सकता है और न ज्ञानार्थ। उसमे मनोरंजन, ज्ञान जिज्ञासा, आनन्द आदि की समन्वित भावनाएँ विद्यमान है। इन सब के ऊपर अथ से इति तक सम्पूर्ण मानवीय सृष्टि के कल्याण की कामना प्रतिष्ठित की गयी है। भौतिक सुख सुविधाओ की कामना करने वाले वैदिक कवियों के मन में प्रकृति और मानव के शाश्वत सम्बन्धों की कल्पना सुदृढ़ थी। यही कारण है कि प्रकृति अपने विभिन्न क्रिया-कलापो के साथ अपने साकार रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। यद्यपि इस काल मे काव्य के कोई लक्षण या प्रयोजन निर्धारित नही किये गये थे। उत्कृष्ट अनुभवो की सहज अभिव्यक्ति मे काव्य गुण स्वतः ही समाहित हो गये है। डॉ० रामसागर त्रिपाठी का विचार है 'जिस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में ऋग्वेद एक बड़ी सी मनोरम तथा महत्त्वपूर्ण रचना है उसी प्रकार साहित्य के दूसरे क्षेत्रों में भी इसका महत्त्व कम नहीं है चाहे अविवक्षित वाच्य हो चाहे विवक्षितान्यपर वाच्य के रस-ध्वनि भाव-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि में कोई भेद हो, चाहे शब्द शक्ति-मूलक ध्वनि हो हमें ऋग्वेद मे प्रत्येक के उदाहरण बड़ी ही सुगमता से प्राप्त हो जायेंगे। ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियों का भण्डार है।'[1] यज्ञ-कर्त्ता ऋषिजन वैदिक मंत्रो का सस्वर गायन करता रहा होगा तो सोमपान की मस्ती के साथ संगीत लहरी से सारे श्रोतागण झूम जाते रहे होंगे। यह विभोर कर देने वाला आनन्द किसी अन्य लौकिक काव्य के श्रवण या पाठ से होनेवाले आनन्द से कम नहीं है।

शृंगाररस का उत्कृष्ट रूप उषा की उदात्त तथा रागरंजित कल्पना मे मिलता है। तेजस्वी रथ पर चढी हुई, सर्वव्यापिनी, यज्ञों में उत्तम प्रकार से पूजनीय, अरुण वर्णवली, सूर्य के पहले आनेवाली उषा की ऋत्विगण स्तोत्रों से स्तुति करते हैं। दर्शनीय रूप वाली उषा सोते हुए आदमियों को चैतन्य करती है और मार्गों को दिखाती हुई विस्तृत रथ पर चढकर सूर्य के आगे-आगे चलती है। लाल किरणों मे संयोग करती हुई उषा सुख से जाने के लिए मार्गों को चमकाती है।......वह नित्य प्रति सूर्य का अनुगमन करती हुई दिशाओ को मापती है।......स्नान करके सुन्दर अलंकारो मे सजी हुई रमणी के समान

---

१ डॉ० त्रिपाठी भारतीय मुक्तक परम्परा पृ० १३।

अपने रूप दिखाती हुई उषा प्राची में प्रकट होती है।[1] आगे उषा को सूर्य की पुत्री तथा नित्य तरुणी कहा गया है।

गेय तत्त्व :

वैदिक मंत्रो का ऊँचे स्वर में गायन किया जाता था। आन्तरिक विधान अर्थात् भाव-प्रवणता मे कोई विशेष अन्तर न होने के कारण इनमें मुक्तक काव्य तथा गीतिकाव्य जैसा कोई स्पष्ट विभाजन नही किया जा सकता है। पहले भी इस बात की ओर सकेत किया चुका है कि वैदिक काल में काव्य-रूपो की समन्वित स्थिति थी। उनके बीच के विभेदक तत्वो का स्पष्ट विकास नही हुआ था। गेयता का रूप गानेवाले के राग तथा शैली के अनुसार बदलता रहता था। पतंजलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में कहा है "सहस्रवर्त्मा सामवेद." सामगान के हजारो भेद है। गायक प्रवीण होने के बाद गायन का अपना नया ढंग तैयार कर लेता था। इस सामगान की पद्धति मे और आधुनिक पद्धति मे थोड़ा सा अन्तर है, सामगान के स्वर को ऊँचे आलाप से शुरू करके उसे धीरे-धीरे नीचे आलाप पर लाया जाता है उसके कारण मन को शान्ति मिलती है और भड़का हुआ मन सामगान को सुनकर शान्त हो जाता है।......आधुनिक पद्धति के गाने में ऊँचे और नीचे तानों के मिश्रण होने के कारण उस गाने से मन शान्त होने के बजाय और अधिक विकारवश हो जाता है।[2]

पालि-मुक्तक काव्य—भाषिक विकास की दृष्टि से पालि संस्कृत के बाद विकसित हुई किन्तु पालि साहित्य का विकास बहुत कुछ संस्कृत साहित्य के विकास के समानान्तर हुआ। मुक्तक काव्य को जब हम अन्य साहित्यिक विधाओ से अलग करके देखते है तो यह कालक्रम की दृष्टि से संस्कृत मुक्तक काव्यो के पूर्व का सिद्ध होता है। अपनी विशिष्ट रचना प्रक्रिया तथा कुछ मौलिक दृष्टिकोण के कारण पालि मुक्तक रचनाएँ संस्कृत रचनाओं से काफी भिन्न है। पालि मुक्तकों का रचना उद्देश्य, शिल्प विधान, भाषिक आदर्श बहुत कुछ वैदिक मुक्तकों के समान ही है। इस दृष्टि से भी इन मुक्तको को विकास परम्परा में द्वितीय स्थान पर रखकर मूल्यांकित किया गया है।

१—ऋग्वेद, मण्डल ५, अध्याय ४, सूक्त ८०।

२—ब्रह्मर्षि श्रीपाददामोदर सातबलेकर : सामवेद—भूमिका- पृ० ४।

कथ्य :

वैदिक मुक्तको का कथ्य अत्यन्त विस्तृत था। उसमे ज्ञान-विज्ञान संबंधी तथ्य भी समाहित हो गये थे। सभी प्रकार के सांस्कृतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति वेदों मे बड़ी कुशलता से की गयी थी। जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है कि इन सब के ऊपर धार्मिकता की भावना हावी थी। यही धार्मिक भावना ही उपलब्ध पालि मुक्तकों की मूल प्रेरक शक्ति मानी जा सकती है। पालि साहित्य के विकास तथा ह्रास दोनों का ही कारण धर्म में विशेष दखल देना ही है। वास्तव में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का वर्णन ही इन मुक्तको का मूल विषय है। यदि बौद्ध साहित्य तथा पालि साहित्य दोनो को पर्याय माना जाय तो असंगत न होगा।

वर्गीकरण :

पालि मुक्तकों का मूल स्वर धर्मपरक है इसलिए उन्हे धार्मिक मुक्तक की कोटि में रखा जा सकता है। रस की दृष्टि से विचार करने पर ऐसे धर्म सापेक्ष काव्यो में यह निर्णय कर पाना कठिन होता है कि इनमें कौन सा रस प्रधान है। उपलब्ध मुक्तको में बहुत कम ऐसे चित्रण मिलते है जो कि सीधे सासारिक या लोक जीवन के सुख विलासो से सम्बन्धित हों। बौद्ध धर्म मे भिक्षु और भिक्षुणुओं के लिए आचार सम्बन्धी कठोर नियम थे। संगीत, चांदनी रात, बसन्त सेवन आदि तो उनके लिए वर्ज्य थे। इससे शृगार चित्रण के लिए सारी ही सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। युद्ध वर्णन का कोई प्रसग ही नही है। क्षात्र धर्म की महत्ता अवश्य ही स्वीकारी गयी है लेकिन उसे दानवीर का उदाहरण नहीं माना जा सकता। अधिकांश कृतियो मे शान्तरस की व्यंजना होती है। शुद्ध रूप से शान्त रस को व्यंजित करने वाले स्थल भी कम ही हैं। अधिकतर स्थल उपदेशात्मक हैं। थेर और थेरी गाथा मे भिक्षु और भिक्षुणुओं के आत्म उद्गार हैं। उनके प्रारंभिक जीवन के सुख वैभव तथा पारिवारिक सम्बन्धों की स्मृति आदि में कही-कहीं करुण रस तथा शृंगार रस का आभास मिलता है। वैसे ये लोग त्यागमय जीवन को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं जिसमें शान्त रस ही है। शृंगार की किंचित झलक आते ही ये उस पर वीभत्स भाव को आरोपित कर देते हैं ताकि इन्हें त्यागमय जीवन बिताने की प्रेरणा मिल सके। संसार की कठोर यातनाओ तथा कर्मों की अनित्यता देखकर भिक्षुओं ने संसार से वैराग्य लिया। चित्त की शान्ति ही उनकी

असीप्सित वस्तु है जीवन के प्रति न लालसा है न लगाव। वे तो जीवन और मरण का समान रूप से अभिनन्दन करते हैं :—

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकंखामि सम्पजानो पतिस्सतो ॥[1]

एक तरफ भिक्षुओं ने अलंकृता, सुन्दर वस्त्रों से युक्त, मालाधारणी, चन्दन से लिप्त नर्तकी को नृत्य करते देखा तो दूसरी तरफ श्मसान में स्त्री के सड़ते हुए शरीर को कृमि आदि से खाये जाते हुए देखकर स्थविर कुल ने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की :—

अलंकता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा।
मज्झे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी

... ...

ततो में मन सीकारो ततो चित्तं विमुच्चि में गाथा।

उपर्युक्त मुक्तकों में किसी न किसी भाव तथा मनःस्थिति का चित्रण है अतः इन्हें रस-भाव युक्त सरस मुक्तको की कोटि में रखा जा सकता है।

प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण :

पालि मुक्तकों में आदि से अन्त तक उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह उपदेश भावना आत्म प्रबोधन और सिद्धान्त निरूपण दोनों रूपों मे व्यक्त होती है। इन मुक्तकों की प्रवृत्ति का विश्लेषण करके इन्हे निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है :—

(१) नीतिपरक मुक्तक :

इस वर्ग में उन मुक्तको को सम्मिलित किया जा सकता है जो कि धार्मिक नीति से संबंधित हैं। सुभाषित के रूप में कुछ तत्त्व करीब-करीब सभी धर्मों मे मान्य होते हैं। सत्य भाषण, अहिंसा, दान महिमा, अप्रमाद, क्रोध न करना आदि ऐसी बातें हैं जो धर्म साधना तथा समाज व्यवस्था दोनो के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। "धम्मपद" में आये बहुत से मुक्तक इसी प्रकार के हैं।

(२) वैराग्यपरक मुक्तक :

बुद्ध धर्म में सन्यास तथा विरक्तिपूर्ण जीवन का बड़ा महत्व माना गया है। सांसारिकता में आसक्ति ही अनेक पापो तथा दुःखों की उत्पत्ति का कारण

1—वायु-थेरगाथा-थेरीगाथा, गाथा, १९६।

है । इन्द्रिय संयम करने तथा राग-द्वेष छोडकर काषाय धारण करने का वर्णन अनेक गाथाओं मे मिलता है ।

आचारपरक मुक्तक :

आचारपरक गाथाओं में दो प्रकार के निर्देश है । एक तो भिक्षुओ के आचार से सम्बन्धित है जिनमें अपेक्षाकृत अधिक दुरूहता है । 'विनयपिटक' तथा 'सुत्तपिटक' मे संघ जीवन, भिक्षुओ के निवास, वस्त्र, औषधि तथा नित्य प्रति के आचरण संबंधी जो वर्णन हैं वे सब आचारपरक है । दूसरे प्रकार के चित्रणों मे ऐसी गाथाये सम्मिलित हैं जिनमें सामान्य गृहस्थों को आचरण के उपदेश दिये गये हैं ।

दार्शनिक मुक्तक

धर्म की शुरुआत चाहे जितने ऋजु मार्ग से हो किन्तु आगे चलकर वह अन्य धर्मों तथा दर्शनों की प्रतिस्पर्धा तथा होड में आकर दार्शनिक तत्त्वो से टकराने लगता है । उसके अनुगामियों को प्रचलित दार्शनिक प्रश्नो का उत्तर तो देना ही पड़ता है । फिर अपनी मौलिक मान्यताओं की विवेचना करनी होती है । बौद्धधर्म के साथ भी बहुत कुछ ऐसा ही घटित हुआ । इस तरह की गाथाएँ पूरे पालि साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है किन्तु 'अभिधम्मपिटक' इस तरह के मुक्तको का सर्वप्रमुख संग्रह है ।

मूल्यांकन—पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि पालि-मुक्तक अधिकतर धार्मिक तथा उपदेशात्मक हैं । इस मूल प्रवृत्ति के बावजूद उसमे पर्याप्त साहित्यिक गरिमा आ गयी है । उपदेश देकर अपने मंतव्य को सम्प्रेषित करना भी एक कला है जिसमे काफी मनोवैज्ञानिक सतर्कता की जरूरत पड़ती है । इस विषय मे भीड़ मनोविज्ञान, जनरुचि आदि चीजें विशेष ध्यातव्य होती है । भगवान् बुद्ध इस कला मे विशेष पारंगत थे । वह एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश देते थे । पहले वे इस बात का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे कि जो व्यक्ति उनके दर्शनार्थ आया है वह किस स्तर का हैं तथा किस व्यवसाय से संबधित है । वह सिपाही है या राजा है या परिव्राजक । फिर बुद्ध भगवान् उसी के परिचित जीवन से उपमाएँ चुनते थे । किसी बात को ग्राह्य बनाने के लिए उसी का बार-बार कथन किया गया है जो साहित्य की दृष्टि से अनुचित होते हुए भी धार्मिक तत्त्वों को बोधगम्य बनाने के लिए अनिवार्य था । बुद्ध के साथ हुए गृहस्थ श्रमण आदि के संवाद भी सुन्दर बन पड़े हैं । 'सुत्त-निपात'

में गृहस्थ गोप तथा बुद्ध दोनो के संवाद भाषिक एकरुपता पर आधारित है। 'छन्ना कुटि' का 'उत्तर' 'विवतावुटि' 'सुन्दर तरुणी' का उत्तर 'सुन्दर तरणी से दिया गया है। 'थेरगाथा' मे प्रकृति का मनोरम चित्रण मिलता है जो कि किसी लौकिक कवि के द्वारा चित्रित प्राकृतिक सुषमा से किसी भी रूप मे कम नही है :—

नदन्तिमोरा सुसिखा सुपेखुणा,
सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो।
सुसद्दला चा पि महामही अयं,
सुब्यापतम्बु सुबलाहकं नभं ॥[1]

वर्षा ऋतु का कैसा सुन्दर वर्णन है। इसी तरह बहती हुई नदी का रमणीय रूप में एक थेर रमने लगता है। पद शैली की तरह कई पदों मे उसी भाव की पुनरावृत्ति होती जाती है। अनेक पदों का अन्त तथा नदी अजकरणी रमेति मं[2] से होता है। पालि मुक्तको मे प्रयुक्त भाषा अत्यन्त सहज तथा सरल है। संस्कृत की तरह उसमे लम्बे-लम्बे समासो का प्रयोग नही है।

पालि मुक्तकों में अधिकतर गाथा छन्द का प्रयोग है। यह गाथा छन्द प्राकृत मुक्तकों में प्रयुक्त मात्रिक गाथा नही है। यह मूलत: अनुष्टुप् या अनुष्टुप वर्ग का वर्णिक छन्द ही है। अधिकतर गाथाये ८, ८ वर्णो की है जो कि अनुष्टुप छन्द का लक्षण है। विद्वानो ने वाद में विकसित होनेवाले मात्रिक गाथा छन्द का जन्म द्राविड़ संपर्क से माना है। पंक्ति, जगती, त्रिष्टुप आदि अन्य छन्दों का प्रयोग भी पालि मुक्तकों मे किया गया है ;[3]

गीति-तत्त्व

यद्यपि बौद्ध संघ में संगीतादि का श्रवण वर्जनीय था फिर भी कुछ उद्‌गारो में प्रगीतात्मक तत्त्व आ गये हैं। विशेषकर 'थेर और थेरीगाथा' में ये तत्त्व स्पष्ट लक्षित होते हैं। 'थेर तथा थेरीगाथा' में कहीं-कहीं वैयक्तिक भावना प्रबल हो गयी है। अहं शब्द के प्रयोग से पाठकों का भाव उनके भाव के साथ

---

१. थेरगाथा, पृ० २७७

२. थेरगाथा (सम्यक थेरगाथा) पृ० २६० ।

३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् (भाषा शास्त्रीय तथा छन्द-शास्त्रीय अध्ययन) पृ० ४१२ ।

सरलता से जुड़ जाता है। ऐसा लगता है कि कोई अपनी दुख-दर्द की कहानी सुना रहा हो—

> दुग्गताहं पुरे आसिं, विधवा च अपुत्तिका।
> विना मित्तेहि आतीहि, भत्तचोलस्स नाधिगं ॥[1]
> उच्चे कुले अहं जाता, बहुवित्ते महद्धने
> वण्णरुपने सम्पन्ना, धीता मज्झस्स अत्तजा ॥[2]

प्रकृति के साथ अपने भावों को जोडकर एक शब्द की बार-बार आवृत्ति करता हुआ एक थेर गाता है। उसे कितना संतोष है तथा कितनी शान्ति है। उसका चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है। वह कामासक्ति से वियुक्त है। वह अपनी छायी हुई कुटिया मे सुख अनुभव करता है। उधर देव के सुन्दर गीत की तरह् बरसता है और इधर उसकी भावना बरसती है :—

> छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।
> चित्तं मे समाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा,
> वस्सति देवो यथा सुगीतं छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता,
> तस्सं विहरामि वूप सन्तो, अथ चे पत्थयसि पवस्स देव ॥[3]
>
> —गाथा

संस्कृत मुक्तक—संस्कृत वाङ्मय भाषा तथा साहित्य दोनों दृष्टियो से उत्कृष्ट है। यहाँ तक साहित्य के विविध रूपो नाटक, गद्य, महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि का स्वतन्त्र विकास हो गया। यह साहित्यिक विविधता विकास परम्परा में संस्कृत की अपनी मौलिकता सिद्ध हुई। संस्कृत साहित्य ऋषिओ तथा महात्माओं की वाणी मात्र न रहकर शुद्ध लौकिक धरातल पर उतर कर प्रतिभा संपन्न कवियों के हाथो से राजाओं महाराजाओं के आश्रय में पुष्पित तथा पल्लवित हुआ। वैदिक ऋषि तथा बौद्ध भिक्षु अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण सामान्य मानवीय जीवन के स्पन्दनों को महसूस न कर सके थे। अप्रत्यक्ष रूप से जो लौकिक भाव आये है वे अनादृत होने के कारण बहुत सहमे तथा दबे से हैं।

संस्कृत मुक्तक काव्य उपदेशात्मक तथा नीरस कथनों का संग्रह मात्र नही है, बल्कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभवो तथा भावो की सरस अभिव्यक्ति है जिसमे

---

१. थेरीगाथा, (चन्दा थेरी) पृ० ४२१।
२. थेरीगाथा, (सोणा थेरी) पृ० ४२३।
३. थेरगाथा-गाथाएँ ३२५-२६।

कलात्मक कसावट है तथा हृदय और बुद्धि दोनो को झंकृत करने की शक्ति है।

कथ्य—संस्कृत मुक्तक काव्यो का कथ्य पर्याप्त संकुचित हो गया है। वर्ण्य का विस्तार तथा विविधता महाकाव्यों के हिस्से में पड़ी। मुक्तकों को शृंगार चित्रण तथा धार्मिक कथन की सीमा तक आबद्ध रखा गया। नायिका के विविध हाव-भाव, मिलन वियोग का चित्रण ही इन शृंगारी मुक्तको के मुख्य विषय हैं। 'अमरुशतक', 'चौरपचाशिका', 'आर्यासप्तशती', 'मेघदूत' आदि ऐसे ही मुक्तक काव्य हैं। अति शृंगारिकता से ऊबकर कुछ कवियो ने वैराग्य का भी वर्णन किया जिसमें सांसारिक नश्वरता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। भर्तृहरि का 'वैराग्यशतक' ऐसा ही मुक्तक काव्य है किन्तु वैराग्य मे भी अकुंठित जीवन यापन की इच्छा इन कवियों मे बलवती है। भक्तिपरक मुक्तक जिन्हें कि संस्कृत साहित्य में स्तोत्र काव्य के नाम से वर्गीकृत किया जाता है किसी न किसी देवता या इष्टदेव की महिमा में गाये गये है।

वर्गीकरण :

संस्कृत-मुक्तक-काव्य कथ्य के क्षेत्र में यदि संकुचित हुआ तो कला के क्षेत्र मे गीतिकाव्य, खण्डकाव्य और प्रबन्धकाव्य के कुछ तत्त्वों को समाहित करके विस्तृत हो गया। कुछ मुक्तकों में प्रबन्धात्मकता आ जाने की वजह से उनका ऊपरी स्वरूप प्रबन्ध सा दीखने लगा। वास्तव में ऐसे मुक्तक भावो के आधार पर एक बिलकुल हल्के कथा सूत्र के द्वारा एक दूसरे से पिरो दिये गये हैं। यह कथा तत्त्व इतना हल्का तथा नगण्य है कि अन्य मुक्तकों की प्रसंग कल्पना से अधिक इसका महत्त्व नहीं है। अतः ये भी मुक्तक काव्य ही हैं प्रबन्ध या खण्डकाव्य नहीं। इसी प्रबंधात्मक तत्त्व को ध्यान मे रखकर संस्कृत मुक्तको को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

१—प्रबन्धात्मक मुक्तक।

२—अप्रबन्धात्मक मुक्तक।

(१) प्रबन्धात्मक मुक्तक के अन्तर्गत 'मेघदूत,' 'शीलदूत' (चरित्र सुन्दर गणि) 'हंसदूत' (वेंकटनाथ) 'गीति-गोविन्द' आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इन दूत काव्यो मे एक छोटी सी कथा का बहाना लेकर विरह का चित्रण किया गया है।

(२) अप्रबन्धात्मक मुक्तक के अन्तर्गत 'आर्यासप्तशती', 'नीतिशतक',

'वैराग्यशतक', 'श्रृंगारशतक', 'अमरुशतक', 'चौर-पंचाशिका', 'भामिनी-विलास' आदि को सम्मलित किया जा सकता है।

रस दृष्टि से संस्कृत मुक्तक काव्यो का विभाजन अत्यन्त सार्थक है क्योंकि रस-योजना संस्कृत मुक्तककारों को विशेष रूप से अभिप्रेत थी। अधिकतर मुक्तक सरस मुक्तकों की कोटि में रखने योग्य हैं। दूत काव्य, 'गीति-गोविन्द' आदि में श्रृंगाररस का उत्कृष्ट परिपाक है। 'मेघदूत' वस्तुतः विरह-पीडित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है जिसके प्रत्येक पद्य मे प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अभिव्यक्त हो रही है। भर्तृहरि का 'श्रृंगारशतक', 'अमरुशतक', 'चौरपंचाशिका' मे नायिका के विविध हावों, भावों का बड़ा मार्मिक तथा सूक्ष्म चित्रण है। 'वैराग्यशतक' तथा स्तोत्र काव्य में यत्र-तत्र शान्तरस को व्यंजित करने का सराहनीय प्रयास किया गया है। प्रेम-भाव के चित्रण में प्राकृतिक दृश्यो को समाहित कर लिया गया है। 'ऋतुसंहार' में तो शुद्ध प्रकृति चित्रण है।

'हितोपदेश' में प्राप्त उपदेशात्मक मुक्तक, 'नीतिशतक', 'चाणक्यनीति', 'राजनीति समुच्चय' आदि शुद्ध उपदेशात्मक तथा नीतिपरक हैं।

प्रवृत्ति के आधार :

वैसे तो संस्कृत मुक्तकों की मूल प्रवृत्ति का आभास अब तक के विवेचन से बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है लेकिन सारी प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद मुक्तकों के अनेक वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं तथा विभिन्न दृष्टियो से उनके प्रारूप की स्थापना की जा सकती है :—

१—श्रृंगारिक मुक्तक।

२—भक्तिपरक मुक्तक।

३—उपदेशात्मक मुक्तक।

(क) लोक जीवन से सम्बन्धित उपदेश

(ख) वैराग्यपरक उपदेश।

४—धार्मिक मुक्तक।

५—नीतिपरक मुक्तक।

१—श्रृंगारिक मुक्तक :

सस्कृत के रस-भाव युक्त मुक्तको मे श्रृंगारिक मुक्तकों का प्राधान्य है। श्रृंगाररस को रस-राजत्व की गद्दी पर प्रतिष्ठित किया गया है। कालिदास

अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य आदि मुक्तककारों ने इस धारणा को ध्वस्त कर दिया कि नाटको और प्रबन्ध-काव्यों के द्वारा ही सही रस चर्वणा करायी जा सकती है। इन कवियो ने एक-एक छन्द मे उन सारे भावो को प्रतिष्ठित तथा घनीभूत कर दिया जो कि प्रबन्धादि मे बिखरे रहते हैं। कालिदास का 'मेघदूत' धनपति कुबेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। अमरु ने अपने मुक्तकों में प्रणय की विविध स्थितियो का अंकन बडी कुशलता से किया है। मुक्तकों मे उन्होंने अधिकतर विप्रलंभ-शृंगार का ही चित्रण हुआ है विप्रलंभ में भी मान विप्रलंभ का। चौरपंचाशिका में कवि ने प्रियतमा की अनेक भगिमाओं का स्मरण किया है। विचारो मे पर्याप्त वैचित्र्य होने के कारण हर उक्ति नवीन है। शृंगारशतक मे कवि भर्तृहरि शृंगार के चटकीले चित्रण मे नही चूकते। वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखते हैं। वैसे तो सम्पूर्ण शृंगारी मुक्तकों में स्वस्थ शृंगार ही मिलता है किन्तु 'आर्या सप्तशती' जैसे कुछ ग्रंथों में कही-कही सदाचार की मर्यादा का उल्लंघन पाया जाता है। उसमें कहीं पुष्पवती नायिका के सहवास का चित्रण है तो कहीं देवर भावज की प्रेम-क्रीडा की व्यंजना है। इसमें नग्न नायिका के अंगों का अश्लील चित्रण किया गया है। प्रियतमा के चरण प्रहार का वर्णन करना तो कवि के लिए सामान्य सी बात है।[१]

२—भक्तिपरक मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तकों मे इष्टदेव की स्तुति के साथ-साथ उनके अनुपम सौन्दर्य के चित्र अंकित किये गये हैं। राम, कृष्ण, शिव, सूर्य, गंगा यमुना, बुद्ध, जिन आदि मे से कोई एक या अनेक कवियों की अपनी रुचि तथा विश्वास के आधार पर स्वीकृत हुए हैं। इन मुक्तकों में ईश्वर-रति को भावनात्मक आवेग के साथ वर्णित किया गया है। मन को भगवत्-भक्ति में तल्लीन करने के लिए सांसारिक विराग तथा इन्द्रिय निग्रह पर जोर दिया गया है।

३—उपदेशात्मक मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तकों में मूल्यवान अनुभवों तथा उपयोगी विचारों को सामान्य जनों तक सम्प्रेषित करने की चेष्टा की गयी है। ये उपदेश इहलौकिक

१—आर्या सप्तशती आर्या १८० १८४ १८८ २२५ ६८८

जीवन यापन मे तो सहायक सिद्ध हो सकते है और पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराने में भी समर्थ है। भर्तृहरि का नीतिशतक तथा हितोपदेश मे आये मुक्तक छन्द इसके उदाहरण है।

४—धार्मिक मुक्तक :

धार्मिक मुक्तक भी बहुत कुछ भक्तिपरक मुक्तको के समान ही है लेकिन भक्ति में यदि भाव की प्रधानता रहती है तो धर्म में वर्जनीयता, अवर्जनीयता तथा लौकिक नैतिकता पर बल दिया जाता है। जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैष्णव धर्म, शैवधर्म आदि से प्रभावित मुक्तकों मे कवियों की विशेष प्रकार की धार्मिक दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई पड जाती है। प्राय. धर्मपरक तथा भक्ति-परक मुक्तकों की मिली-जुली स्थिति ही मिलती है।

५—नीतिपरक मुक्तक :

संस्कृत-मुक्तक-काव्य मे नीतिपरक मुक्तकों का पर्याप्त विस्तार मिलता है। गद्यमयी भाषा मे लेखन के स्तर पर दण्डनीति, राजनीति, युद्धनीति आदि को व्यक्त करने के बजाय जो संदेश मुक्तको के माध्यम से दिये गये बहुत ही सरल तथा सदा स्मरणीय होने के कारण काफी लोकप्रिय हुए। काव्य के मान्य तथा महनीय प्रयोजनों में कान्ता-सम्मित उपदेश भी अन्यतम है। मनोरंजन के साथ शिक्षण, हृदयावर्जन के साथ तत्त्व का उपदेश यदि काव्य नही करता तो पाठको का वास्तविक आकर्षण नही हो सकता। संस्कृत के कवियों ने इस काव्य तत्त्व के मर्म को खूब ही पहिचाना है और इसलिए उन्होने उपदेशपरक या नीति विषयक काव्यों का प्रचुर प्रणयन किया है।[1]

मूल्यांकन :

संस्कृत मुक्तक काव्यो की मूल्य सम्बन्धी चर्चा करने के पूर्व उन दो नयी परिस्थितियों की जिक्र कर देना आवश्यक है जिनसे संस्कृत मुक्तक-काव्य विशेष रूप से प्रभावित हुआ :—

(१) प्राचीन भारत मे अन्य शास्त्रो के साथ कामशास्त्र का उदय हुआ। इससे अमरुक आदि शृंगारी कवि अवश्य ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से

१—बलदेव उपाध्याय . संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६६।

प्रभावित हुए जैसा कि आचार्यों ने 'अमरुकशतक' जैसे मुक्तक काव्यो को नायिका भेद के रूप मे व्याख्यायित किया है। उस समय के साहित्य शास्त्र ने भी कामशास्त्र से काफी प्रेरणा ग्रहण की।

(२) महान् साम्राज्यों के उदय के साथ महान् नगरियों का आविर्भाव हुआ। राजाओं तथा महाराजाओं के जीवन मे काव्य विमर्श भी एक मनोरंजन का साधन बना। सारा जीवन आभिजात्य तथा संस्कृत हो गया। इससे साहित्य का परिवेश बदलने लगा। मुक्तकों पर भी इसका कुछ कम प्रभाव नहीं हुआ। संस्कृत मुक्तकों में भाव प्रवणता तथा कलात्मकता दोनों ऐसे घुल-मिल गये है कि यह निर्णय करना कठिन हो गया कि संस्कृत मुक्तकों को गीतिपरक-मुक्तक या गीतिकाव्य की कोटि मे रखा जाय कि शुद्ध कलात्मक, वैचित्र्यपूर्ण मुक्तक की कोटि मे। अधिकांश इतिहासकारो ने उन्हें गीतिकाव्य की कोटि मे रखकर मूल्याकित करने का प्रयास किया है। विदेशी इतिहासकार ए० बी० कीथ आदि के सबंध मे तो यह तर्क दिया जा सकता है कि उनके यहाँ चूँकि मुक्तक काव्य जैसा कोई काव्य रूप नही था इसलिए उन्होंने संस्कृत मुक्तको को लिरिक के अन्तर्गत रखकर ही विवेचित किया किन्तु बलदेव उपाध्याय जैसे भारतीय विद्वानो ने भी इन्हें गीति काव्य के अन्तर्गत माना। आचार्य आनन्दवर्धन ने अमरुक के एक-एक श्लोक को सौ-सौ प्रबन्धो के बराबर कहकर उसके कलागत एवं भावगत उत्कर्ष को उद्घाटित किया है। कला का प्रभाव भक्तिपरक भावो की अभिव्यक्ति में भी बढ़ता गया है। यही कारण है कि 'गीत-गोविन्द' 'गंगा-लहरी' आदि भक्ति-भावमय काव्यों के संबंध में यह संदेह होने लगता है कि इन कवियो का उद्देश्य शुद्धरूप से भावाभिव्यक्ति है कि अपनी काव्य प्रतिभा का दिग्दर्शन।

इन कवियों द्वारा प्रयुक्त भाषा अधिक सजी तथा निखरी हुई है। यथा-स्थान सामासिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उक्ति-वैचित्र, नाटकीयता, शब्द-वैचित्र आदि इनकी अन्यतम विशेषताये हैं। भावमय संगीतात्मक स्थलों पर भाषा के प्रवाह तथा गतिमयता पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है।

मुक्तककारो ने अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। उपमा, रुपक, अन्योक्ति, विशेषोक्ति, निदर्शना, उत्प्रेक्षा आदि उसके प्रिय अलंकार है। 'भामिनीविलास' मे ही इन समस्त अलंकारों के प्रयोग की कला को देखा जा सकता है। इनमें अलंकरण की प्रक्रिया प्रचलित परिपाटी पर ही निर्भर है।

अपह्नुति, असंगति आदि अलकारो का उपयोग केवल उक्तिवैचित्र तथा चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही हुआ है।

प्राकृत-मुक्तक काव्य—प्राकृत मुक्तकों की रचना ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से ही होने लगी थी। प्राकृत का प्रयोग और विकास बहुत कुछ जैन धर्म के साथ संबंधित है। जिस प्रकार पालि के माध्यम से बौद्धों ने अपनी धार्मिक भावनाओ तथा मान्यताओ को जनता तक संप्रेषित करने का प्रयास किया उसी तरह जैन धर्म के अनुयायिओं ने प्राकृत को अपनी धार्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम चुना। ईसवी सन् के पूर्व पाँचवी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी तक प्राकृत काव्य जैनियों के द्वारा समृद्ध तथा विकसित गया गया। लगभग इसी काल में लौकिक कवियो ने प्राकृत मे सरस काव्यों की रचना की। 'गाथासप्तशती', तथा 'वज्जालग्ग' प्राकृत मुक्तक काव्य की प्रवृत्तियों को संदर्शित करने वाले दो उपलब्ध काव्य संग्रह है। इन मुक्तक सग्रहो मे अनेक कवियों की मुक्तक रचनायें संग्रहीत की गयी हैं जिनका समय छठी शती तक माना जाता है। प्राकृत मुक्तकों मे धर्म तथा लोक जीवन दोनों को काव्य का विषय बनाया गया है। जैन-धर्म संबंधी ग्रंथो में जो मुक्तक अश उपलब्ध है वे धार्मिक कट्टरता से संयुक्त न होते हुए भी जैन-धर्म की महत्ता को ही व्यंजित करते है।

लौकिक मुक्तक तथा शुद्ध काव्य की दृष्टि से 'गाथासप्तशती' तथा 'वज्जालग्ग' के काव्य विषय पर दृष्टिपात करने पर संपूर्ण लौकिक मुक्तकों की प्रवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है। विक्रम की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी मे रचित (कुछ अंश परवर्ती भी है) हाल की 'गाथासप्तशती' मे मुक्तक काव्य की नई गति विधि का दर्शन होता है। पूर्व चर्चित जिन परिस्थितियों ने संस्कृत मुक्तक काव्य को प्रभावित किया उन्ही परिस्थितियो ने प्राकृत मुक्तको को भी प्रभावित किया। संस्कृत-मुक्तक काव्य धारा उन्मुक्त प्रकृति चित्रण से हटकर राजदरबारो तथा सामाजिक धरातलों की ओर उन्मुख होने लगी अत: उसमे प्रकृति सौन्दर्य के स्थान पर स्त्री सौन्दर्य प्रधान होता गया। विषय तथा अभिव्यक्ति के स्तर पर आभिजात्य का विशेष आग्रह होने लगा। किन्तु प्राकृत-मुक्तक-काव्य विषय की दृष्टि से राजघराने में होनेवाले प्रेम व्यापारो तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उसमे ग्रामीण नायक नायिकाओ के हास-विलास को बडी सजीवता से व्यक्त किया गया। शृङ्गार के संयोग, वियोग

दूत-संदेश, नखक्षत, सौतियाडाह आदि परम्परित विषय इन लौकिक काव्यो मे पूर्ववत् प्रतिष्ठित रहे ।

वर्गीकरण—संपूर्ण प्राकृत मुक्तक काव्यो मे विषय, दृष्टिकोण, उद्देश्य आदि का स्पष्ट अन्तर झलकता है । रस की दृष्टि से विचार करने पर धार्मिक काव्य में यदि रस का अभाव दिखाई देता है तो लौकिक काव्य मे रस की प्रधानता । जैन धर्म सबधी उपदेशो मे अधिकतर शान्तरस ही पाया जाता है । उन्हे आत्म कल्याण के लिए लौकिक साधनों तथा क्षणिक रसानन्द की आवश्यकता थी ही नही । वे सुख-दुख दोनो से रहित मोक्ष की खोज मे तल्लीन थे । अत. न तो वे आनन्द चाहते थे न परमानन्द । नारी तो उनकी सबसे बडी दुश्मन थी तो शृङ्गाररस में उनका मन कैसे लीन होता । 'मूलसूत्र-उत्तराध्ययन' में कहा गया है कि ये काम भोग कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस के बूंद के समान है । ऐसी हालत में आयु अल्प होने पर क्यों न कल्याण मार्ग को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय—

कुसग्गमेता इमे कामा सान्निसद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउ जोगक्खेमं न संविदे ॥

हिन्दी के भक्त कवियो ने स्त्रियो के प्रति जो कटु तथा तिक्त दृष्टिकोण रखा वह इसी परम्परा से प्रेरित जान पडता है । इन धार्मिक मुक्तकों मे अनेक मुक्तक नीरस है ।

'गाथासप्तशती' 'वज्जालग्ग' तथा नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृत-मुक्तक सरस हैं । इस में शृङ्गाररस की प्रधानता है । विस्तृत से दृष्टि विक्षेप करने से प्राकृतिक मुक्तकों मे शृङ्गार का परिवेश अत्यन्त विस्तृत परिलक्षित होता है । कुछ मुक्तको मे यदि राधा, कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम का वर्णन है तो कुछ में ग्राम-वधूटी तथा व्याध-पत्नी के अलहड़ तथा सहज सौन्दर्य का निरूपण मिलता है । अभिसार के नवीन स्थानो की खोज लोकजीवन के सानुकूल है । कपास तथा सनई के खेत ही इन नायक नायिकाओं के रमण स्थल बन गये हैं ।

प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण :

नीरस या रसहीन मुक्तको की प्रवृत्तियो के आधार पर प्राकृत मुक्तकों के अधोलिखित वर्ग बन सकते हैं

१—उपदेशात्मक मुक्तक :

उपदेश का रूप बहुत कुछ उपदेशक के स्वभाव तथा कर्म से सम्बद्ध है। किसी धर्म विशेष में आस्था रखनेवाले व्यक्ति अधिकतर उसी धर्म से सबंधित बातों को प्रचारित करने तथा अन्य लोगो को उसमें दीक्षित करने के लिए उपदेश देते हैं। जैनियो ने अपनी मान्यताओं को थोपने के लिए कहीं-कहीं उपदेशों में बड़ी कट्टरता बर्ती क्योंकि इनका अपना बना बनाया आदर्श था। इन उपदेशात्मक मुक्तकों के कई रूप हैं।

नैतिक मुक्तक :

इन मुक्तको को आचारपरक मुक्तक भी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक उन्नति मे नित्य प्रति के कुछ अनुष्ठानो तथा मतों का संपादन करने के अतिरिक्त इन्द्रिय निग्रह, माया का त्याग, दुश्चरित्र का त्याग आदि बातो पर बल दिया गया जो कि बौद्ध धर्म तथा अन्य धर्मों मे समान रूप से मान्य रही है। अपभ्रंश तथा हिन्दी के उपदेशात्मक नैतिक मुक्तको मे इन्ही वर्जनाओ का विस्तार होता चला गया है। जैन ग्रन्थो में स्त्रियो को साधना के मार्ग मे सबसे बडा अवरोध माना गया है। स्त्री के अनेक पर्यायवाची शब्दों का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि स्त्री हर रूपो मे पुरुष का शत्रु है। नारी के समान पुरुषो का कोई और अरि नही है (नारी समा न नराणा अरीओ इति नारीओ) इसलिए उसे नारी कहा जाता है। नानाविध कर्मों से वह पुरुषो को मोहती है (नाणा विहेहिं कम्मेहि सिप्पइयाएहि पुरिसे मोहन्ति ति महिला ओ)। पुरुषों को मदयुक्त करने के कारण प्रमदा, रमणीय लगने के कारण रामा, पुरुषो के अंग मे राग जगाने के कारण अंगना, युद्ध, कलह, सग्राम, अटवी, शीत, उष्ण, दुख, क्लेश आदि उपस्थित होने पर पुरुषो का लालन करने के कारण ललना, पुरुषो को वश मे करने के कारण योषित तथा पुरुषो का अनेक प्रकार से वर्णन करने के कारण उसे वनिता कहते है। समूचे कथन पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि कवि की दृष्टि में स्त्री अनेक तरह से पुरुष को अपने जाल मे फँसा रखती है जिससे ससार की यथार्थता का न तो उसे अनुभव हो पाता है न वैराग्य की भावना जगने पाती है। कबीर, तुलसी आदि का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुत कुछ इसी परम्परा पर आधारित था जो कि उन्हे सन्त संस्कारों से प्राप्त हुआ था।

दार्शनिक भाव के मुक्तक :

इस प्रकार के मुक्तकों में द्रव्य, पुद्गल, माया, समाधि, महाव्रत आदि के

स्वरूप को समझाया गया है। साख्यमत, अज्ञानवाद, कर्मचयवाद, कषायप्राभृत आदि का खण्डन-मण्डन किया गया है।

लौकिक व्यवहार के मुक्तक :

लोक कवियो के द्वारा प्रणीत कुछ मुक्तको में बिलकुल यथार्थ नीति की झलक मिलती है। आदर्श का बाना त्यागकर कवि कहता है कि आत्महित करना चाहिए यदि हो सके तो परहित करना चाहिए। आत्महित तथा परहित मे आत्महित ही करना चाहिए—

अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्व।
अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्व॥

प्राकृत भाषा को साहित्यिक प्रतिष्ठा तथा यश प्राप्त करने के पूर्व मौजूदा संस्कृत साहित्य से होड लेनी पड़ी। यही कारण है कि प्राकृत कवियो ने संस्कृत साहित्य के लोकप्रिय तत्त्वो को आत्मसात् करने का प्रयास किया। यही इन कवियो की परिवेशगत प्रतिबद्धता है। अपने युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति सजगता इन कवियो के लिए कुछ हद तक हानिकर सिद्ध हुई। सस्कृत साहित्य के शृंगारिक वातावरण मे प्राकृत कवियों ने लोक जीवन के भावों को चित्रित करना चाहा किन्तु वे शृंगारिकता तथा प्रेम क्रीड़ा तक सीमित रहे। उस समय के लौकिक मुक्तकों की यह सीमा स्वाभाविक थी। प्राकृत कवियों ने ग्रामीण भावो को अपनाकर प्रेम चित्रण में विस्तार तथा नयी सजीदगी ला दी। अपने कुछ मौलिक चित्रणों के कारण संस्कृत कवियो को प्राकृत भाषा मे लिखित साहित्य के प्रति स्पृहा जागृत हुई। गोवर्धनाचार्य जैसे कुछ कवियो ने 'गाथा सप्तशती' जैसे काव्य के अनुकरण पर काव्य रचना करने का प्रयास किया। मुक्तककारो ने अपने काव्य को अमृतमय कहा। ऐसे प्राकृत काव्य को पढना, सुनना जो नहीं जानता वह काम की चिन्ता करता हुआ लज्जित क्यो नही होता।

अमिअं पाउअ कव्वं का औचित्य :

यह गर्वोक्ति कि प्राकृत का काव्य अमृत से भरा है तथा काम की चिन्ता करनेवाले को इसका अध्ययन तथा श्रवण जरूरी है कुछ सीमा तक उचित कहा

---

१ अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणान्ति।
कामस्स तत्त तन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥

जा सकता है। अमृत तथा काम दोनो शब्द प्राकृत मुक्तको के लालित्य तथा माधुर्य को द्योतित करते है। प्राकृत कवियों ने रत्यात्मक चेष्टाओ को अकृत्रिम भाषा मे ऐसा घोल दिया है कि दोनो का बिलगाव असभव हो जाता है। उसने सुरति, वियोग, मान, आगिक सौन्दर्य, नायक तथा नायिका के हास-विलास, अभिसार आदि भावो का बडी कुशलता से अकन किया। उनका यह प्रेम व्यापार बडे-बडे राजाओ महाराजाओ के अन्तःपुर की चहारदीवारी की जकड़न को तोड़कर गाँव की सिवान-कपास, धान, सनई के खेतो मे सपन्न होने लगा। उनकी दृष्टि मे भिक्षाजीवी युवक धनहीन भले ही हो लेकिन भावहीन नही होता। नायिका सदैव धन दौलत पर ही जान नही देती। स्वस्थ यौवन भी कभी-कभी उसके खिचाव का कारण हो जाता है। इसी भाव को एक कवि इस प्रकार चित्रित करता है। भिक्षाजीवी पुरुप नायिका के नाभि मण्डल की ओर स्निग्ध दृष्टि से ताक रहा है। वह नायिका भी उसके मुख चन्द्र की ओर निहार रही है। इस अवसर पर कौआ उसके चटुक और करङ्क से अन्न लेकर भागता रहता है।[1] यह रूपाकर्पण और भावमग्नता का कितना उत्कृष्ट चित्र है सहज अनुमेय है। अनेक मुक्तको में प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण मिलता है। पर्वत के प्रतिनितम्ब में लग्न, बादलो का एक चित्र देखिये। ये मेघसमूह पर्वतों मे विघटमान होकर सारे दिशाओं में फैले हुए ऐसे प्रतीत होते है मानो विन्ध्य पर्वत अपनी शरीर से झिल्ली छोड रहा है। कही-कहे प्रकृति नायक तथा नायिका के भावो से जुड़कर अस्फुट होती हुई भी अजीब ध्वनि सौन्दर्य प्रकट करती है। वर्षा ऋतु सबसे अधिक कामोद्दीपक मानी जाती है। एक किसान दिन भर श्रम करके शाम को सो गया। अप्राप्त सुरत सुखा पामर वधू इस पर वर्षा काल को अभिशाप देने लगती है। जीवन की यथार्थता, कठोरता तथा पति (नायक) की विवशता को न अनुभव करनेवाली शुद्ध वासना से युक्त वधू निश्चय ही पामरी है। कवि की दृष्टि मे प्रेम का यह रूप काम-विकारो से युक्त होने के कारण निन्दनीय है।[2]

धार्मिक तथा लौकिक दोनो प्रकार के काव्यो मे भाषा का सुबोध, सरल तथा अकृत्रिम रूप प्रयुक्त हुआ। भाषा की दुर्गमता तथा पाडित्य पर जोर न देकर कथन की भंगिमा तथा वाणी-वैचित्र्य को उभारा गया है। प्राकृत भाषा की प्रकृति ही कुछ इस तरह की है कि उसमे गीतिमयता तथा लालित्य सहज

---

२. गाथा ६०, द्वितीय शतक।

१. गाथासप्तशती, पृ० ७८ चतुर्थ शतक।

ही उत्पन्न हो जाता है। स्वरों के बाहुल्य तथा संस्कृत के उपसर्गों के स्थान पर ओ, ए हो जाने की वजह से उच्चारण में अनायास कोमलता का आगमन हो जाता है। प्राकृत में सन्धि तथा समास के नियम भी काफ़ी ढीले पड़ गये थे। अतः मुक्तकों में लम्बे समासों से युक्त भाषा का सर्वथा अभाव है। देशी शब्दों के प्रयोग से भाषा में और जीवन्तता आ गयी है।

प्राकृत गाथाओं में अलंकार का बड़ा स्वाभाविक प्रयोग हुआ। सादृश्यमूलक अलंकारों को विशेष रूप से अपनाया गया। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत अतिशयोक्ति आदि प्रमुख अलंकार हैं। इस काव्य में लोक जीवन के विविध पहलों की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। गाथाओं के दृश्य अधिकतर सरल ग्राम्य-जीवन से लिये गये हैं।

अपभ्रंश मुक्तक काव्य

अपभ्रंश की उपलब्ध रचनायें छठी शताब्दी या उसके बाद की हैं और तभी से साहित्य में इसका अविरल प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश काव्य ने संस्कृत प्राकृत आदि की कुछ परम्पराओं को सुरक्षित रखा कुछ को उत्कर्ष प्रदान किया और कुछ को त्याग दिया। मुक्तक काव्य के संदर्भ में इस बात को देखना है कि अपभ्रंश मुक्तकों का रूप परम्परा और मौलिकता के बीच किस तरह निश्चित हुआ।

अपभ्रंश मुक्तकों का कथ्य प्राकृत के कथ्य के समान धार्मिक अधिक है। इसका कारण यह है कि पूर्व-कालीन जैन धर्म के कवियों ने जिस उत्साह से प्राकृत भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था उसी उत्साह से पश्च-कालीन कवियों ने अपभ्रंश को माध्यम के रूप में चुना। सिद्ध और नाथों के धार्मिक और साहित्यिक योगदान से भी अपभ्रंश मुक्तकों के परिमाण में वृद्धि हुई। इन कवियों ने धर्म के ऊहा-पोह या दार्शनिक संबद्धता को स्वीकार नहीं किया। कुछ पारिभाषिक शब्दावलियों तथा एकाध स्तुतिपरक ग्रंथों को छोड़कर इन मुक्तकों का विषय समाज तथा लोक जीवन के श्रेय से संबंधित मूल तथा निर्विरुद्ध भावों से सम्बद्ध है। बाह्याडम्बर का विरोध, माया का त्याग, विरक्ति की महिमा, राग की निन्दा, इन्द्रिय वशीकरण, गुरु महिमा, आत्म साक्षात्कार के उपाय आदि इनके वर्ण्य विषय हैं। हिन्दी के भक्ति भाव-परक मुक्तकों की विषयगत पृष्ठभूमि यहीं से तैयार हो जाती है। लौकिक मुक्तक परिमाण की दृष्टि से तो कम ही उपलब्ध हैं किन्तु उनका साहित्यिक स्तर निःसंदेह रूप से उच्च है। करीब-करीब सभी भाव से संबंधित लौकिक

मुक्तक अधिक तो नही किन्तु प्रतिनिधि रूप मे उपलब्ध है जिससे अपभ्रंश मुक्तको के विषयगत विस्तार तथा प्रवृत्तिगत श्रेष्ठता का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कृत के संदेश काव्य की जो परम्परा प्राकृत में शुष्क हो गयी थी अपभ्रंश मे फिर हरी हो गयी। इस तरह का यद्यपि एक ही काव्य 'सदेश-रासक' उपलब्ध है किन्तु चित्रण कुशलता में यह कालिदास के 'मेघदूत' से कम नही ठहरता। हेमचन्द्र के व्याकरण मे उद्धृत अपभ्रंश मुक्तकों, प्राकृत पैंगलम् तथा अन्य ग्रंथो मे उद्धरण रूप से दिये अपभ्रंश के मुक्तको के विषय अधिकतर शृंगारिक है। कही-कही दारिद्रय की पीडा, युद्ध का वर्णन भी किया गया है। कुछ मुक्तको मे नीति के उपदेश दिये गये है।

वर्गीकरण

अपभ्रंश मुक्तको मे जैसा निर्देश किया गया है धार्मिकता का भाव काफी प्रबल है। इस दृष्टि से इसके दो विभाग किये जा सकते हैं—

धार्मिक भाव के मुक्तक

'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', 'पाहुड दोहा', चर्यापद आदि धार्मिक भाव के मुक्तक है। इन मुक्तको के भी दो रूप है। एक जैन धर्म से सबधी जैसे—'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', 'पाहुड दोहा', 'सावयधम्म दोहा', 'दोहापाहुड', 'कालस्वरूप कुलक', संयममंजरी' आदि।

दूसरे प्रकार के धार्मिक मुक्तको के अन्तर्गत सिद्धो के मुक्तक आते है जिसमे 'दोहाकोश' तथा 'चर्यागीत' को शामिल किया जा सकता है।

धार्मिक ग्रंथ के कुछ मुक्तको मे भी पुद्गल, सम्वर, मोक्ष, समाधि, आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप के विवेचन की गहराई आ जाने के कारण कुछ मुक्तक धार्मिकता की सीमा को लांघकर दार्शनिकता के क्षेत्र मे पहुँच जाते है। ऐसे मुक्तको में कवि की दृष्टि भाव-अभाव, पाप-पुण्य, जागरण-स्वरूप आदि मे ऊँचे संस्थित होती है। आचारपरकता पर बल न देकर ऐसे मुक्तको में शुद्ध अनुभूति पर जोर दिया गया है। लौकिक मुक्तक की कोटि मे 'सदेशरासक' तथा 'प्रबध-चिन्तामणि', हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण, छन्दोऽनुशासन,' 'प्राकृत पैंगलम्' के उद्धृत अशो को सम्मिलित किया जा सकता है।

रस भाव की दृष्टि से :

रस तथा भाव की दृष्टि से अपभ्रंश मुक्तकों का विभाजन प्राकृतादि की तरह सहज नहीं है। दार्शनिक तथा धार्मिक मुक्तकों में भी कुछ इस तरह की

उद्भावनायें मिलती है जो निःसन्देह रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। वैराग्यपरक मुक्तकों मे शान्तरस को व्यंजित करने का प्रयास किया गया है। कहीं-कही कुछ मुक्तक नीरस भी है। उनमे मात्र वस्तु विवेचन पर ही जोर दिया गया है। सिद्धों की मान्यता मे पंचमकारों का प्रवेश उनके दार्शनिक पतन का कारण भले ही हो किन्तु काव्य मे प्रतीकात्मकता की नई शुरुआत के लिए यह पर्याप्त स्पृह्य है। सन्त साहित्य को इससे पर्याप्त प्रेरणा मिली। प्रज्ञा को डोमिनी नारी के रूप में कल्पित करके उससे मिलन का प्रयास करना इन सिद्ध कवियों की आध्यात्मिक कामना थी। यही से रत्यात्मक भक्ति को एक नई दिशा मिलती है। जिन आध्यात्मिक भावों को इन सिद्ध तथा नाथ कवियो ने काव्य में द्रवित करने का प्रयास किया वही आगे आनेवाले भक्त कवियो की भावधारा मे मिलकर उसको काव्य सीमा के दुकूलों के ऊपर से उमड़ने के लिए बाध्य किया।

'सदेशरासक' मे शुद्ध रूप से वियोग शृंगार की पुष्टि होती है। 'प्राकृत पैंगलम्' में वीर रस का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है।

स्तुतिपरक आशीर्वादात्मक मुक्तक :

शिव (कल्याण) काव्य के अन्य उद्देश्यों मे एक प्रमुख उद्देश्य है। अपभ्रंश मुक्तकों मे यह कल्याण कामना स्तुतिपरकता के साथ संश्लिष्ट होकर व्यक्त हुई है।

उपदेशात्मक मुक्तक :

उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति प्रायः सभी धार्मिक कृतियो में पायी जाती है। कुछ मुक्तको का नामांकन तक इसी प्रवृत्ति के आधार पर किया गया। 'उपदेश रसायन रास' इसकी प्रतिनिधि स्वरूप कृति मानी जा सकती है। इसमे मानव जीवन की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए कवि उसे सफल बनाने का उपदेश देता है। इसके अलावा वह सुगुरु, कुगुरु, सुपथ, कुपथ, लोकप्रवाह तथा विविध धर्मों के स्वरूप को विवेचित करता है। कवि का विश्वास है कि उपदेश तो स्वयं रसायन है इसलिए उसमें काव्यरस मिलाने की चेष्टा व्यर्थ ही है। 'सावयधम्म दोहा' भी श्रावकों को दिये गये उपदेशों का संग्रह है किन्तु उसमें वर्णित बातें सामान्य जनों के लिए भी उपयोगी हैं। चोरी न करना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, मदिरापान का निषेध, वेश्यावृत्ति की अवहेलना आदि ऐसी बातें हैं जो कि पूरे भारतीय जनमानस के लिए किसी न किसी स्तर पर

उपयोगी हो सकती हैं। मुनि रामसिंह आदि की कृतियों में भी वैराग्य इन्द्रिय-निग्रह मन को वश मे करने का प्रयास आदि परम्परित धार्मिक तथ्य उपदिष्ट किये गये है। वास्तव मे ये सारे भाव संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे समान रूप से चर्चा के विषय बने रहे। हिन्दी का मुक्तक काव्य इन भावो मे काफी प्रभावित हुआ। उपदेशों की कहीं-कहीं कट्टर विरोधों के रूप मे परिणति हुई है।

अपभ्रंश मुक्तकों का परम्परा के संदर्भ मे मूल्यांकन :

जैसा पहले लक्षित किया गया है कि अपभ्रंश मुक्तक काव्य का भावगत प्ररूप बहुत कुछ परम्परा के विकास के फलस्वरूप निर्मित हुआ है। धार्मिक मुक्तको के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यहाँ तक आते-आते कवियों मे धार्मिक सम्बद्धता तथा दार्शनिक पेचीदापन काफी क्षीण हो गया। हर सम्प्रदाय के कवियो ने मुख्यत. उन्हीं बातो को अपनाया जो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को कुछ सोचने के लिए विवश करती हैं। सिद्धो, जैनों सभी ने अपने अपने धर्म की परम्परागत मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन किया। उन्होंने धार्मिक तथा दार्शनिक विषयो को सहज बनाकर काव्य मे ढालने का प्रयास किया। सरहपाद के विषय में कही गयी निम्नलिखित बाते पूरे धार्मिक मुक्तको के लिए लागू है 'सरह के साथ एक नये धार्मिक प्रवाह को हम जारी होते देखते है जो आज भी सन्त परम्परा के रूप मे हमारे सामने मौजूद है। सन्तो के साथ जिस योग और भावनाओ का सम्बन्ध है, वह भी इसी समय अपने नये रूप मे प्रकट होते हैं। उनकी भावना या योग वही नही है जिसे पतंजलि के योग दर्शन या पुराने बौद्ध सूत्रो मे देखते हैं।'[1]

शिल्प विधान :

अपभ्रंश मुक्तको में शिल्प की दृष्टि से गीतिकाव्य और मुक्तक काव्य का अलगाव अधिक स्पष्ट होने लगा। 'थेर तथा थेरीगाथा' में पद शैली का जो बीज वपन हुआ था वह अब अंकुरित होकर बढने लगा। सिद्धो के चर्यागीत मे इसका विकासमान रूप देखा जा सकता है।

अपभ्रंश मुक्तको मे भावानुकूल तथा उद्देश्यानुकूल भाषा पर अधिक जोर दिया गया। रहस्यवादी मुक्तकों में गूढ़ भावों को सरल तथा प्रतीकात्मक

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दोहा कोश, भूमिका, पृ० ५।

भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा की गयी। जोइन्दु, रामसिंह, महचंदि, छीहल आदि कवियों को इसमें विशेष सफलता भी मिली। अपभ्रंश भाषा के प्रकृतिगत विकास के कारण भी मुक्तकों में अनुप्रास या वर्णमैत्री का स्वत. आगम हुआ जो कि शाब्दिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि मे सहायक सिद्ध हुआ। उपदेशात्मक मुक्तकों मे (भावपक्षम्म दोहा आदि) तथ्यपरकता तथा विषय बोध पर बल दिया गया। किन्तु मुक्तककारों का ध्यान इस बात पर सदैव टिका रहा कि उपदेशों की भाषा शैली आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण हो। उन्होंने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए भाषा को गूढ उलझनों से बचाने का उद्योग किया। लौकिक मुक्तकों 'सदेशरासक' तथा स्तुतिपरक मुक्तक 'चर्चरी' मे भाषा का आदर्श बहुत कुछ संस्कृत से मिलता जुलता है। कोमलता, लय, मधुरता इन मुक्तकों की भाषा की सामान्य विशेषताएँ हैं। सिद्धों ने सिद्धान्तों को गोपनीय रखने के लिए कहीं-कहीं अस्पष्ट तथा प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया। लौकिक मुक्तककारों ने परम्परागत भावों को मौलिकता से रंजित करके नवीन भाषा शैली मे प्रस्तुत किया। 'संदेशरासक' मे एक तरफ उन समस्त काव्य परि-पाटियों स्तुतिपरकता, कलात्मकता, भावनात्मक गहनता तथा सघनता आदि मुक्तक काव्य के विशिष्ट गुणों को आत्मसात किया गया तो दूसरी तरफ अपभ्रंश में विकसित ध्वन्यात्मक शब्दों को रचनात्मक स्तर पर संप्रयोजित किया गया। अपभ्रंश कवियों ने लोकजीवन से भी काफी संपर्क बनाये रखा। धार्मिक मुक्तककारों मे कुछ निम्न जाति से सम्बन्धित थे अत उन्होंने स्वभावतः सामान्य लोगों के बीच के अनुभवों को व्यक्त किया किन्तु धार्मिक तत्त्वों मे ये सारे अनुभव ऐसे घुल मिल गये है कि उन्हें अलग कर पाना कठिन है। उपमानों तथा रूपकों में ही ये तत्व मुखरित होते है। लौकिक कवियों की दृष्टि प्राय. समाजोन्मुखी थी। अपभ्रंश मे विषय सम्बद्धता तथा भावानुकूलता इतनी बढ़ती गयी कि परवर्ती काल में भाषा के डिंगल तथा पिंगल दो रूप बिल्कुल स्पष्ट हो गये। डिंगल भाषा जिसमें ट, ड, ढ आदि का बाहुल्य था वीररस की व्यंजना में अधिक सहायक सिद्ध हुई। पिंगल भाषा मे कोमल भावों को व्यक्त किया गया। हिन्दी मुक्तक काव्य परम्परा इससे काफ़ी प्रभावित हुई।

हिंदी मुक्तक काव्य .

वैदिक, पालि, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश मुक्तकों के विकासमान स्वरूप पर दृष्टिपात करने के बाद मुक्तक काव्य की समस्त साहित्यिक विशि

परंपरा, क्षेत्र, सीमा आदि का ज्ञान आसानी से प्राप्त हो जाता है। हिन्दी मुक्तकों का स्वरूप इसी परम्परा की अन्तिम बेजोड़ कड़ी के रूप से ही परिलक्षित होता है। हिन्दी मुक्तक काव्य में चार धारायें अलग-अलग बहने लगी। प्रथम जैनियो द्वारा रचित काव्य की परम्परा अन्य धाराओ की साहित्यिक गरिमा तथा लोकप्रियता के कारण क्षीण होती हुई भी सत्रहवी अठारहवी शताब्दी तक चलती रही। सिद्धो तथा नाथो की भावधारा तथा विचार परम्परा सन्तो से घुल मिलकर प्रबल वेग से बह चली। यही नही योग का प्रसरित भाव सूरदास, मीरा, जायसी आदि अन्य भक्त कवियो को प्रभावित किया। तीसरी धारा उन सगुण भक्तो की है जिन्होने आत्म-प्रपत्ति, वैराग्य, भगवत्-निवेदन, ईश्वर-स्तुति आदि के भावपरक कलात्मक गीत गाये। चौथी धारा उन रीतिकालीन लौकिक तथा रीतिकवियो की है जिन्होंने संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश की काव्य रूढियो के सहारे नयी-नयी उद्‌भावनाये करके हिन्दी मुक्तक को मुक्तक काव्य परम्परा मे महत्वपूर्ण तथा विकसित स्थान दिलाने का उद्यम किया।

कथ्य :

हिन्दी के मुक्तक कवियों ने कथ्य की दृष्टि से अपनी परिवेशगत सजगता जाहिर की। उन्होने सहज रूप से विकसित तथ्यो को ग्रहण करते हुए निकटतम भाषा साहित्य के पार सुदूर परम्पराओं को भी अपनाने का मौलिक यत्न किया। वर्ण-व्यवस्था का विरोध, शुद्ध अनुभूति की प्रधानता पूजा-पाठ तथा तीर्थादि की निरर्थकता का भाव सिद्धो तथा नाथो से होता हुआ कबीरादि सन्त कवियो मे युगानुकूल विकसित हुआ। सिद्धो ने प्रज्ञा को डोमनी के रूप मे कल्पित किया तथा उससे मिलने की आकांक्षा व्यक्त की थी तो कबीरदास स्वयं ही राजाराम भर्तार की अनुपम दुल्हन बन गये। गुरु-महिमा का वर्णन तो पूरे भक्ति-काव्य में पाया जाता है। सन्त-साहित्य मे सिद्धों और नाथो की समाधि, वैराग्य, मन को मारने के उपाय, इन्द्रियो को वश करने के प्रयत्न, माया, ब्रह्म तथा आत्मा के बीच के सम्बन्धों आदि का निरूपण हुआ है। स्त्रियो को तप में बाधक मानकर सगुण तथा निर्गुण दोनों भक्तों ने कही-कही पर उनकी कटु निन्दा की है। सगुण कृष्ण भक्त कवियो मे कथानक की दृष्टि से अपभ्रंश मुक्तको के साथ कोई खास समीपता नही है। कथा तत्व को 'भागवत' मे ग्रहण करते हुए माधुर्य, वचन भंगिमा, शृंगारिकता आदि का चित्रण संस्कृत मुक्तको के अधिक निकट है। अपभ्रंश में राधा कृष्ण सम्बन्धी

जो छन्द उपलब्ध है उनमे कृष्ण और राधा को नायक और नायिका के रूप मे ही चित्रित किया गया है। कृष्ण की बाल, किशोर तथा यौवन की अनेक लीलाओं ने सूरदास, नन्ददास आदि को विशेष आकर्षित किया। विरक्ति, गुरु महिमा, विनय, भगवत्कृपा, वनिता त्याग आदि का चित्रण अन्य भक्तों के समान ही है। तुलसीदास के मुक्तकों ने राम के जीवन सम्बन्धी आदर्शों को लोक जीवन तथा युग परिवेश से मिला जुलाकर ग्रहण किया किन्तु उनमे आत्म-निवेदन का भाव अधिक मुखर है। जैनमत की धार्मिक भावनाओ का विकास छीहल, बनारसीदास, भगवतीदास, रूपचन्द्र, ब्रह्मदीप, आनंदघन आदि मे मिलता है। रीतिकालीन लौकिक कवियो ने शृंगारिकता से सम्बन्धित स्त्री सौन्दर्य वर्णन नायक नायिका के विलास, मान, प्रवास, विरह आदि को चित्रण का विषय बनाया।

वर्गीकरण :

हिन्दी मे संस्कृत अपभ्रंश आदि की तरह ही कुछ मुक्तक काव्यो मे कथा का बिलकुल हल्का सूत्र मिलता है। जिसके कारण उनमे प्रबन्धत्व के कुछ गुण प्रविष्ट हो गये है। काव्य-नियोजना से अलग इन मुक्तक छन्दो की अर्थगरिमा तथा भावाभिव्यक्ति किसी विशिष्ट कथा प्रसंग की अपेक्षा नही करती। कभी संकलनकर्त्ता भी ऐसे मुक्तकों को सकलित करते समय कथाक्रम मे जोड देते है। किन्तु शुद्ध वर्णनात्मकता के अभाव तथा एक ही भाव के विस्तार और पुनरावृत्ति के कारण झीना कथासूत्र बार-बार टूट जाता है। 'बीसलदेव रासो' 'ढोला-मारूरा-दोहा', 'सूरसागर', 'गीतावली', कवितावली आदि इसी तरह की रचनाएँ है। इन्हे प्रबन्धात्मक मुक्तक की कोटि मे रखा जाता है। शेष रचनाये जो काव्य संकलनो मे तथा उनसे अलग सर्वत्र कथासूत्र से मुक्त होती हैं को अप्रबन्धात्मक मुक्तक की कोटि मे रखा जाता है। सन्तकाव्य, विनय-पत्रिका, शिवराज-भूषण, मीरा पदावली, बिहारी सतसई, रहीमदास के नीति के दोहे, 'मतिराम सतसई' तथा रीतिमुक्त कवियों घनानन्द, बोधा, ठाकुर, आलम आदि की रचनायें इसी तरह की है।

रस की दृष्टि से :

अपभ्रंश की तुलना में परिमाण की दृष्टि से हिन्दी मे सरस मुक्तको का आधिक्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अपभ्रंश तथा प्राकृतादि के शुद्ध उपदेशात्मक, नैतिकतापरक तथा धार्मिक भाव के मुक्तकों का भक्तिपरक

मुक्तको में विलय हो गया। वे विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण से सबद्ध अपनी नीरसता खो बैठे। किन्तु बहुत से स्थानो पर इनका अस्तित्व सुरक्षित है। उदाहरण के तौर पर 'सूरसागर' से एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। माया को स्त्री रूप में परिकल्पित करके सूरदास ने उसका एक ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है जिसमे माया एक शरीरी भौतिक जगत् की मोहक नारी के रूप मे सजधज कर उपस्थित हो जाती है। अपभ्रंश तथा प्राकृतादि मे माया आदि से सावधान रहने के लिए उपदेश दिया गया था लेकिन उसे ऐसी मधुर पृष्ठभूमि नही प्रदान की गयी।

> गोपाल तुम्हारी माया महा प्रबल, जिहि सब जग बस की कीन्हो (हो)
> नैक चितै, मुसक्याइ कै, सब को मन हरि लीन्हौं (हो)
> पहिरै राती चूनरी, सेत अपरना सोहै (हो)
> कहि लहंगा नीलो बन्यो को जो देखिन मोहै (हो)
> अंतरौहा अवलोकि कै, असुर महामद मातै (हो)।[1]

इसी तरह का चित्रण कबीर ने "माया महाठगिनि हम जानी' में किया।' उन्होने गुरु के उपदेश को भी प्रभावात्मक तथा मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है भक्त कवियो ने माया मोह की दुनिया त्याग करके एक नयी काल्पनिक दुनिया की सृष्टि कर डाली। अपने अद्भुत काव्य कौशल के सहारे वे स्वयं भगवान्‌मय विश्व के सफल उद्‌गाता बने। उनका काव्य सेव हर बिन्दु पर ब्रह्म का संस्पर्श करता है। लोकभावनाये उनमें कड़ी के रूप मे जुड़ी है क्योकि ये भक्त कवि भी इसी कठोर तथा संघर्षमय दुनियां के जीव थे जोकि ऊर्ध्व-गमन के लिए छटपटा रहे थे। प्रेम के शाश्वत तथा माधुर्य-भाव को इन्होंने अपने ढंग मे स्वीकार किया। इनके आगे यह प्रश्न था क्या लौकिक प्रेम के स्थान पर ईश्वर विषयक प्रेम को काव्य का विषय बनाया जा सकता है? फलत. इस दृष्टि से इनकी सारी काव्य सामग्री सस्कृत काव्य मे प्रेम के लिए प्रयुक्त काव्य शास्त्रीय मान्यताओं के बीच मे ग्रहण की गई है। इसके अन्तर्गत उन्होंने लौकिक शृंगार की ही भांति नायक, नायिका, दूत, दूती, संयोग विप्रयोग उसके समस्त विभाव अनुभाव सचारि को अपने काव्य का आधार बनाया।[2]

---

१. सूरसागर (सभा) प्रथम स्कंध प० सं० ४४।

२. डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह : हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य : काव्यादर्श और काव्य सिद्धान्त,—पृ० ४२।

लौकिक शृंगार की परिपुष्ट परम्परा हिन्दी साहित्य के आदिकाल (बीसलदेव-रासो-ढोला मारूरा दोहा[1] से चली आ रही थी जो रीतियुग के दरबारी वातावरण में अनेकशः विकसित हुई। यही कारण है कि सरस मुक्तक काव्य के अन्तर्गत शृंगारिक मुक्तकों का प्राधान्य है। मोटे तौर पर पूरे हिन्दी मुक्तक काव्य को दो कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) सरस भाव युक्त मुक्तक।

(२) नीरस उपदेशात्मक तथा नीतिपरक मुक्तक।

सरस मुक्तको मे उन सभी मुक्तको को सम्मिलित किया जा सकता है जिनमे किसी भावानुभूति या भाव का वर्णन है। भाव चाहे पुष्ट होकर रस बने हो या नही। सरस मुक्तको मे शृगाररस, वीररस, शान्तरस को व्यंजित किया गया है। वैसे शृंगार से सबंधित चित्रणों का अत्यधिक विस्तार है। शृंगार के भी दो रूप है जैसा कि पहले निर्देशित किया जा चुका है—

(१) लौकिक शृंगार।

(२) भक्ति शृंगार।

आदिकाल के 'वीसलदेव रासो' तथा 'ढोला मारूरा दूहा' मे एक क्षीण कथा के माध्यम से शृंगार के वियोग तथा सयोग पक्ष को चित्रित किया गया। कुछ आलोचक इसी कथा को आधार मानकर इन्हे खण्डकाव्य के अन्तर्गत डाल देते है। परन्तु इनमे वर्णनों के बीच कवि भावात्मक तथा मार्मिक स्थलो पर ऐसा रम जाता है कि कथा क्रम के चक्कर को विलकुल विस्मृत कर देता है। इन शृंगारिक प्रबन्धात्मक मुक्तको मे किसी प्रकार की अलौकिकता तथा आध्यात्मिकता का भ्रम नही है। लौकिक पात्र तथा लोक जीवन के घटना सापेक्ष मे 'गीत गोविन्द' जैसे काव्य की तरह इनमे लौकिकता तथा अलौकिकता की द्विविधा नही प्रस्तुत की गयी। यह लौकिक शृगार रीतिकाल मे पुनः बहुविध विकसित हुआ। रीतिकाल में मुक्तक कवियों ने चमत्कार उक्ति वैचित्र, दूरारूढ कल्पना, अलंकृति आदि पर इतना अधिक ध्यान केन्द्रित किया कि मुक्तक काव्य अपने उत्कर्ष काल में कला प्रधान काव्य बन गया। भावोन्मेष तथा भाव-विह्वलता हार्दिक-तरलता आदि क्षीण हो गये। लौकिक शृंगार के अन्तर्गत संयोग तथा वियोग दोनो पक्षो को सूक्ष्म से सूक्ष्म ढग से विकसित किया गया।

सयोग शृगार के अन्तर्गत नखशिख, नायक-नायिका भेद, षट्ऋतु वर्णन, हावचित्रण. मिलन परिहास. हाव मिलन. क्रीडा विलास आदि का सुखद

कथन हुआ है और विप्रलंभ शृंगार में पूर्वराग, मान प्रवास, वियोग रस की दशायें, दूती, बारहमासा, सन्देश, षट्ऋतु आदि का बहुत हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।[1] विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत वियोगिनी की विविध दशाओं का चित्र उतारा गया है। कहीं-कहीं वियोग वर्णन इतना ऊहात्मक है कि सहानुभूतिपूर्ण तथा हृदयस्पर्शी न रहकर हास रस का स्थायी भाव बन गया है। रीति-मुक्त कवियों ने भाव तथा कला दोनो का सामञ्जस्य स्थापित किया। उनकी मुक्तक कवितायें संस्कृत मुक्तको के काफी नजदीक हैं। भक्ति शृंगार लौकिक शृंगार का ही एक दूसरा रूप है। इसमे लौकिक नायक की जगह कोई लीलावतारी आराध्यदेव होता है। नायिका उसके प्रेम मे अनुरक्त भावनारी आत्मा या भक्त स्वय होता है। वीररस को व्यंजित करनेवाले मुक्तककार भूषण हैं जिन्होंने शिवराज तथा छत्रसाल की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करके हिन्दुत्व की रक्षा के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। युद्ध यात्रा नायक की वीरता का शत्रुओं तथा उनके परिवार परपडनेवाले सन्त्रास का चित्रण अतिरंजित शैली तथा जोशीली शब्दावली 'हम्मीर यात्रा' जैसे संबंधित अपभ्रंश मुक्तको मे हुआ था इसी परिपाटी को भूषण ने अपने ढग से काव्य क्षेत्र मे प्रयुक्त किया। 'विनयपत्रिका', तथा सूर के विनय तथा भक्ति के पदो मे शान्त रस को प्रधान रस के रूप मे स्वीकार किया गया है

नीरस उपदेशात्मक तथा नीतिपरक मुक्तक :

हिन्दी मुक्तको मे बहुत से ऐसे मुक्तक है जिनमे रस या भाव का निरूपण नही किया गया है। उनका मुख्य उद्देश्य है किसी कल्याणकारी अनुभूति का जनता के बीच प्रचार। भक्ति काव्य तथा रीति काव्य दोनो मे इस तरह के मुक्तक पाये जाते हैं। भक्तिपरक उपदेशात्मक मुक्तको मे आचरण, त्याग तथा वाह्याडम्बरो की निरर्थकता को समझाया गया है। ये उपदेश कही-कही परार्थ न होकर आत्मसंबोधनार्थ दिये गये हैं। नीतिपरक मुक्तको में विनय, परोपकार आदि की बातो पर प्रकाश डालते हुए सामाजिक नीति तथा व्यवहार नीति को ही ग्रहण किया गया है। लोकनीति की तरफ सबसे अधिक ध्यान रहीम ने दिया 'बिहारी सतसई' मे भी नीति के अनेक दोहे है जो रसहीन है गोस्वामी जी की रचना 'दोहावली' मे धार्मिकता, राजनीति एव व्यवहार नीति से सम्बद्ध मुक्तको की रचना हुई है। इन मुक्तको मे वस्तु की ही प्रधानता है—

१. डा० किशोरी लाल, रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० २५३।

नीतिपरक मुक्तकों में व्यक्ति और धार्मिक रूढ़ियो, नश्वरता तथा अन्यान्य सामाजिक संबधो जैसे स्वामी का संबध आदि को समझाने की चेष्टा की गयी है।

प्रवृत्तियों के आधार पर

हिन्दी मुक्तको की अनेकानेक प्रवृत्तियों को ध्यान मे रखकर उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

१—शृंगारिक मुक्तक।
 (क) वियोगात्मक।
 (ख) सयोगात्मक।
२—वात्सल्य भाव के मुक्तक।
३—भक्तिपरक मुक्तक।
४—धार्मिक मुक्तक।
५—रहस्यवादी मुक्तक।
६—उपदेशात्मक मुक्तक[1]।
७—नीतिपरक सुभाषित मुक्तक आदि।

हिन्दी मुक्तको का शिल्पगत विवेचन

हिन्दी मुक्तको मे पद शैली पूर्णतया विकसित रूप मे परिपक्षित होती है। सिद्धो के चर्यागीत में पायी जानेवाली साधनागत तन्मयता कबीरदास के पदों मे भी पायी जाती है। कबीरदास के पदो के भावो को यदि समन्वित रूप से लिया जाय तो यही कहा जा सकता है कि उनमें दार्शनिक गूढ़ता, भावुकता, प्रतीकात्मकता, प्रेम विह्वलता, विवेचनात्मकता आदि सभी तत्त्व सम्मिलित रूप से पाये जाते है। पदों का बौद्धिक विस्तार तिरोहित होने लगा। सूरदास और मीरा ने पदो के अन्तर्गत शुद्ध तथा शाश्वत भावो को भर दिया है। गुण, रेखा, जाति, युक्ति हीन निर्गुण ब्रह्म को छोड़कर सूरदास ने जो सगुण ब्रह्म का लीला गान किया वह सामान्यजनो के लिए साधारणीकृत बन गया। 'सूरसागर' में वर्णनात्मक पदों का अभाव नही है किन्तु वे भी किसी न किसी राग मे निबद्ध हैं। मीरा पदावली मे पदशैली एकदम कोमल

---

१. दोहावली 'तुलसी ग्रंथावली' (सभा संस्करण) दो० ५०३।

तथा हृदयस्पर्शी हो गयी है क्योंकि वहाँ विवेचनात्मकता का क़रीब-करीब अभाव ही है। अभिव्यक्ति मे कलात्मकता तथा साज संवार न होते हुए भी मनमोहकता तथा प्रभावात्मकता की अद्भुत क्षमता है। हृदय की वाणी पदो मे बहकर सीधे हृदय मे ही बेधती है।

पद शैली का वैशिष्ट्य—

(१) एक पद मे एक ही केन्द्रीय भाव रहता है उससे संबंधित अन्य भाव इसी केन्द्र के दर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। इस केन्द्रीय भाव की अभिव्यक्ति पद की प्रथम पक्ति मे ही कर दिया जाता है। फिर यही भाव आगे एक लय मे बहता है। प्रथम पक्ति का अन्तिम वर्ण हर पक्ति के अन्त मे आकर, तुक तथा लय को केन्द्रीय भाव से बार-बार जोड देता है। पद के गान के समय प्रथम पक्ति की बार-बार आवृत्ति भावोद्रेक तथा भावोत्तेजना उत्पन्न करती है। सूरदास का एक पद उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। कृष्ण के चले जाने पर गोपिया अत्यन्त व्याकुल हो उठीं। वे अपलक नेत्रो से निहारती रहती है। इस वियोग व्यथा मे उन्हे अपनी आँखो पर ही विश्वास नही होता। इसी वेदनामय भाव को कितने सरल शब्दो में लयात्मकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। पद की हर पक्ति मे नैनों को ही कोसा गया है :—

बिछुरत श्रीव्रजराज आज सखि नैन की परतीति गई।
उड़ि न मिले हरिसंग विहंगम, ह्वै न गए घनश्याम मई।।
याते कूर कुटिल सह मेचक, वृथा मीन छबि छीन लई।
रूप रसिक लालची कहावत सो करती कछु तौ न भई।।
अब काहे जल मोचत, समय गए नित सूल नई।
सूरदास याही ते जड़ भए जब ते पलकन दगा दई।।[1]

(२) पदो की रचना लोक मे प्रचलित रागों के आधार पर हुई है। प्राकृत से ही लोक प्रचलित गीतो से प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा होने लगी थी अतः छन्दों की नियोजना का आधार धीरे-धीरे लोक राग को अन्तर्लीन करके निर्मित होने लगा था। अपभ्रंश में इस प्रयोग मे अधिक स्फटता तथा संजीवनी आयी। हिन्दी मुक्तको मे पद शैली काव्य क्षेत्र मे बहुत लोकप्रिय हुई विशेषकर भक्ति-काव्य में। सूर, मीरा आदि के पदों में राग निर्देश पदो की गीतात्मकता को भी सिद्ध करते है।

---

१. भ्रमर गीत सार-सूरदास, पद ३३३।

(३) पदो मे अन्य मुक्तको की तरह चमत्कार पर जोर नही दिया जाता बल्कि किसी भाव चित्र का ही अकन होता है। अतिरंजना की एक सीमा होती है जिसे परिपाटी पालन तक ही सीमित रखा जाता है। भावव्यजना तथा अभिप्रेत भावांकन प्रस्तुत या अप्रस्तुत दोनो चित्रणों मे प्रधान रहता है। सूरसागर का एक पद उदाहरण के लिये लिया जा सकता है। इस पद मे गोपियो ने बिरहिणी की समस्त दशाओं का आरोप यमुना के ऊपर कर दिया है। यहाँ प्रस्तुत रूप मे हिमालय से निकल कर बहती हुई यमुना का ऐसा चित्र है जो विरह ज्वर से पीडित बिरहिणी का होता है। वह हिमालय रूपी पर्यंक से नीचे गिरती है। तन से तरग रूप तड़फ पैदा होती है। तट पर की बालू उपचार की तरह है और जल पसीने की तरह बह रहा है। यहाँ पर यद्यपि कल्पना बडी विस्तृत है परन्तु सारे चित्रणो के बावजूद मस्तिष्क मे एक विरह ताप से पीडित बिरहिणी का ही बिम्ब बनता है। अन्तिम पक्ति मे यह कलात्मक अभिव्यक्ति भावो से जुडकर सारे चित्र को ही परिवर्तित कर देती है तब विरह-ज्वर से पीडित गोपी सारी अभिव्यक्ति के ऊपर छा जाती है—सूरदास प्रभु जो जमुना गति मो गति भई हमारी।[1] इस पद मे कलात्मकता पर भी काफी ध्यान दिया गया है।

(४) पदों में भावो के अंकन में पुनरावृत्ति मिलती है। जिन भावो या अगो से कवि अभिभूत होता है उनका भिन्न-भिन्न लयो तथा रागो में गायन करता है।

रीतिकालीन कवियो ने छोटे छन्दो के प्रति विशेष मोह दिखाया। अपभ्रंश का दूहा यहाँ दोहा बनकर फारसी छन्द शेर की होड़ मे उपस्थित हुआ। भक्तिकाल में जहाँ कविता स्वान्त-सुखाय है और भक्त कवि सारे लौकिक भावो को समेटकर तथा अपने प्रतिभा तथा कवित्व शक्ति से विस्तृत तथा पवित्र करके अपने आराध्यदेव के श्री चरणों मे अर्पित करता गया है। उसमे किसी तरह का बाहरी दबाव, बाजी मारने का प्रयास तथा लौकिक यश की कामना नही है। उसने कविता की रचना कविता के लिए नही की जिसमे निरुद्देश्य बौद्धिक आयास मात्र पाया जाता हो। इसके विपरीत रीति कवि राजाश्रित था वह कृपा यश तथा धन पाने की चिन्ता से ग्रसित था। यही कारण था कि वह थोड़े मे बहुत कुछ, किसी साधारण बात को भी चमत्कारिक ढंग मे कहने की चेष्टा करता था। रीति युग में मुक्तक काव्य का कलात्मक उत्कर्ष ही नही

१. स० धीरेन्द्र वर्मा—सूरसागरसार—पद ६४, पृ० १३६।

अपभ्रंश के मुक्तक कवि और काव्य

अपभ्रंश में कुछ स्वतन्त्र मुक्तक काव्य उपलब्ध है कुछ स्फुट मुक्तक अलंकार तथा छन्द के लक्षण ग्रंथों में उद्धरण रूप में पाये जाते है। उद्धरणो के रूप में प्राप्त मुक्तकों के विषय मे यह जानकारी प्राप्त करना कठिन है कि इन्हें लक्षणकार ने स्वयं रचा है कि कहीं अन्यत्र से ग्रहण किया है। कुछ मुक्तकों को छोड़कर बाकी के स्रोत का पता नही है। कालक्रम की दृष्टि से उनका अन्तिम समय उद्धरणकर्त्ता का ही समय है। नीचे मुक्तक कवियो तथा उनके मुक्तक काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :

कालिदास

अपभ्रंश मुक्तको की सर्वप्रथम रचना करनेवाले कालिदास माने जा सकते हैं। कालिदास संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य नाटककार तथा महाकवि है। इनका समय पहली शती से लेकर छठी शती तक माना जाता है। अनेक मतों का परीक्षण करने के बाद यह निश्चित किया गया है कि ये गुप्त काल के स्वर्ण-युग मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालिक (३६५ ई०-४३० ई०) रहे होगे।[1]

मुक्तक कृतियाँ

कालिदास रचित कुछ मुक्तक छन्द (द्विपदी और चर्चरी) विक्रमोर्वशीयम् चतुर्थ अंक मे आये हैं जब पुरुरवा मूर्छित अवस्था मे है। संपादनकर्त्ताओ ने इनका ऐसा रूप निर्धारित किया है जो प्राकृत के अधिक निकट है। कुछ विद्वान् तो इन्हे प्रामाणिक भी नहीं मानते। इसका कारण है कि कालिदास की अन्य कृतियो मे अपभ्रंश भाषा का प्रयोग नही मिलता। किन्तु यह भी संभव है कि अज्ञानवश प्राकृत और अपभ्रंश के भेद को निर्दिष्ट न कर पाने के कारण अपभ्रंश मुक्तको को प्राकृत के रूप मे संपादित किया गया हो। इन मुक्तको मे पुरुरवा के वियोग का वर्णन किया गया है। पुरुरवा बादलो के मध्य चमकती बिजली देखकर सोचता है कि उसकी प्रियतमा उर्वशी को कोई राक्षस उठा ले जा रहा है :—

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—पृ० ६१, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मइ जाणिअ मिअलोअणि णिसअरु काइ हरेइ।
जाव णु णवतडिसामल धाराहरु वरिसेइ॥[1]

जैन मुक्तक कवि और काव्य

जोइन्दु—कालिदास के पश्चात् अपभ्रंश मुक्तकों की रचना करने वाले किसी कवि का पता नही है। यदि ए० एन० उपाध्ये द्वारा निर्धारित जोइन्दु का समय छठी शताब्दी मान लिया जाय तो ये सर्वप्रथम अपभ्रंश मुक्तक कवि सिद्ध होते है जिनकी दो मुक्तक कृतियाँ 'परमात्म प्रकाश' तथा 'योगसार' उपलब्ध है। 'योगसार' मे इनका नाम जोगचन्द मिलता है।[2] तथा टीकाकार ब्रह्मदेव भट्ट ने जोइन्दु का संस्कृत रूपान्तर योगीन्दु का प्रयोग किया है। पर्यायवाची नामों का प्रयोग भारतीय परम्परा के अनुकूल है। जोगिचन्द (जोगचन्द) का चन्द और जोइन्दु का इन्दु दोनो पर्याय है किन्तु योगीन्द्र का इन्द्र इनके तुल्य नहीं हैं। इसी आधार पर डा० वासुदेव सिंह ने योगीन्द्र नाम का प्रयोग गलत माना है।[3]

समय निर्धारण

जैन साधक तथा कवि जोइन्दु का जीवन काल बड़ा विवादास्पद है क्योकि कवि ने स्वयं अपने विषय मे कोई उल्लेख नही किया है। थोड़े बहुत साधारण प्रमाणो के आधार पर विद्वानों ने इनके विषय में तरह-तरह के अनुमान लगाये हैं। श्री ए० एन० उपाध्ये ने देवसेन के 'तत्वसार' के कुमार सेन के 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' रामसिंह के 'पाहुड दोहा' आदि पर जोइन्दु का प्रभाव सिद्ध किया है। हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत अंशों का उल्लेख करते हुए जोइन्दु को इनके पूर्व का कवि माना है। कन्द ने अपने 'प्राकृत लक्षणम्' मे एक सूत्र को समझाने के लिए निम्न दोहे को उद्धृत किया है :—

कालु लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ।
तिम-तिम दंसणु लहइ जो णिअमे अप्पु मुणेइ॥[4]

---

१. संपादक एम० आर० काले : विक्रमोर्वशीयम्—चतुर्थ अंक परिशिष्ट (कालिदास)।

२. सं० ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश और योगसार—पृ० ३९४।

३. डा० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद—पृ० ३६।

४. परमात्म प्रकाश—प्रथम खण्ड, पृ० ८५।

जोइन्दु पूज्यपाद से काफी प्रभावित है। पूज्यवाद ५वी शताब्दी ई० के अन्तिम चतुर्थांश में जीवित थे इन तथ्यो पर विचार करके उपाध्ये महोदय ने निष्कर्ष रूप मे जोइन्दु का समय छठी शताब्दी ईसवी में निश्चित किया।[1] बिना किसी विस्तृत व्याख्या, प्रमाण आदि के श्री उदय सिंह भटनागर ने जैन साधु जोइन्दु को महान् विद्वान् तथा वैयाकरण कवि माना है तथा चित्तौड़ का निवासी सिद्ध किया है। भटनागर जी के अनुसार इनका समय १०वी शताब्दी है।[2] कामता प्रसाद जैन जोइन्दु को बारहवीं शताब्दी का पुरानी हिन्दी का कवि मानते हैं।[3] जोइन्दु के ऊपर सिद्धों तथा नाथो का प्रभाव मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हे योगियों और तान्त्रिको से बहुत भिन्न नहीं माना है।[4] आत्मसाधन तथा अनुभूति पर जोर देने वाले इन कवियो मे बाह्याचार का विरोध, चित्त शुद्धि पर बल आदि बाते समान रूप से पायी जाती हैं। सरहपाद को महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि सिद्ध मानते हैं तथा इनकी मृत्यु ७८० ई० स्वीकार करते है।[5] इसी आधार पर डा० वासुदेव सिंह इनका समय आठवी शताब्दी निर्धारित करते है।[6] किन्तु सिद्धो का समय अब भी विवाद का विषय है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। जोइन्दु के समय निर्धारण मे इसे आधार मानना अधिक उचित नही है। वासुदेव सिंह ने 'योगसार' के दो दोहो को उद्धृत किया है जो इस प्रकार हैं :

देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
इउ जाणे बिण जीव तुह अप्पा अप्प मुणेहि ॥
चउरासी लक्खहि फिरिउ कालु अणाइ अंणतु।११
पर सम्मतु ण लद्ध जिय एहउ जाणि णिभंतु ॥२५

इन दोहों में देहादिउ 'जे, परि, ते, चउरासी, लक्खहि आदि शब्द हिन्दी के

१. वही, पृ० ६७।

२. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज (तृतीय भाग) प्रस्तावना, पृ० ३।

३. कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—पृ० ५४।

४. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म साधना—पृ० ४४।

५. महापंडित राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० ४।

६. डा० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० ४०।

माने गये है। किन्तु 'जे' शब्द संस्कृत ये का रूप हैं प्राकृत मे ही य का ज होने का नियम है। 'ते' संस्कृत तद् शब्द का बहुवचन का रूप है। यही नहीं प्राकृत तथा अपभ्रंश में बहुत से शब्द रूप हिन्दी के निकट आ गये थे। इसलिए इन आधारों को अपने आपने अधिक ठोस नहीं माना जा सकता है। डा० हरिवंश कोछड़ ने लिखा है कि 'योगीन्द्र का समय आठवी शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है।'[1] बाणभट्ट तथा ह्वेनसाग के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि हर्षकालीन भारत मे धार्मिक अनेकता तथा बाह्याडम्बरो का प्रभाव अधिक था। ह्वेनसाग लिखता है 'कुछ लोग मोरपुच्छ धारण करते थे, कुछ मुण्डमाला द्वारा अपने को अलंकृत करते थे। कुछ बिलकुल नंगे रहते थे। कुछ बालो को उखाड़ते और मूँछो को कटवाते थे। कुछ सिर पर वृत्ताकार चोटी रखते थे। 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी' मे मस्करी भागवत, वर्णी, कापिल, लोकायतिक, काणाद, औपनिषदिक, ऐश्वरकारणिक, धर्मशास्त्री, पौराणिक, शाब्दिक, पाचरात्रिक, पाशुपत, शैव इत्यादि सम्प्रदायो के नाम मिलते हैं[2] आगे चलकर यह स्थिति और विगड गयी होगी। बहुत कुछ सभव है कि जोइन्दु ऐसे ही समय मे हुए हों तथा इसी कारण उन्होने चित् शुद्धि पर जोर दिया तथा बाह्याडम्बरों का विरोध किया। भारतीय दर्शन मे योग बहुत पुराना है तान्त्रिको तथा कापालिकों ने हर्षकाल में ही जोर पकड़ लिया था। हर्षवर्धन की मृत्यु ६४७ मे हुई थी। अत. जोइन्दु का समय सातवी शती का अन्तिम तथा आठवी शती के प्रारम्भ के बीच हो सकता है।

मुक्तक कृतियाँ

जोइन्दु द्वारा रचित दो मुक्तक रचनाएँ उपलब्ध है :—

(१) परमात्म प्रकाश।

(२) योगसार।

'परमात्म प्रकाश' नि.सन्देह रूप से जोइन्दु की रचना है। कवि इस कृति मे स्वयं अपने नाम का उल्लेख करता है। उपाध्ये लिखते है—वास्तव मे यह जोइन्दु की महानतम् रचना है और उनकी आध्यात्मिक ख्याति इसी पर है।[3]

---

१. डा० हरिवंश कोछड़ा : अपभ्रंश साहित्य—पृ० २६८।

२. डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० ३२२

३ ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश—भूमिका, पृ० ५८।

'परमात्म प्रकाश' की रचना शिष्य भट्ट प्रभाकर के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हुई।

ग्रन्थ का विभाजन दो खण्डों मे हुआ है तथा कृति का आरम्भ नमस्कारात्मक दोहों से होता है। 'परमात्म प्रकाश' मे आत्मा के तीन रूपों बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा का स्वरूप, जीव तथा शरीर का अन्तर, आत्मा परमात्मा मे अभेद, परमात्मा का स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति में ज्ञान का महत्त्व, चित्त शुद्धि, द्रव्य, पुद्गल, समाधि, सम्यक् चरित्र, इन्द्रियनिग्रह आदि का विशद वर्णन किया गया है।

योगसार :

'योगसार' जोइन्दु की द्वितीय कृति है जो कि "परमात्म प्रकाश' के साथ ही ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुई है। 'योगसार' का विषय भी 'परमात्म प्रकाश' की तरह आध्यात्मिक ही है। इसमे पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता, पुण्य पाप दोनो को त्यागने का उपदेश, सम्यक दर्शन, पर भाव तथा बाह्य उपकरणो का त्याग, आत्मा को गुरु तथा देव सब के रूप मे मान्यता देना, आत्मा की निर्लिप्तता, गुरु की महत्ता आदि का निरूपण किया है। 'परमात्म प्रकाश' तथा 'योगसार' मे मूल अन्तर यह है कि 'परमात्म प्रकाश' की रचना शिष्य को समझाने के लिए की गयी थी और योगसार की रचना आत्म प्रबोधनार्थ की गयी।[1]

मुनि रामसिंह

मुनि रामसिंह का जीवन-काल तथा जन्म स्थान विवादास्पद तो है ही उनके अस्तित्व के विषय मे भी विद्वानों मे मतभेद है। डॉ० हीरालाल जैन तथा डॉ० वासुदेव सिंह को 'पाहुड दोहा' की कुछ प्रतियो मे रचनाकार जोइन्दु का नाम मिला। जैन साहब को प्राप्त होनेवाली कोल्हापुर वाली प्रति मे इति श्री योगेन्द्र देव विरचित दोहापाहुडं नाम ग्रन्थं समाप्तं लिखा है। पुस्तक के दोहा न० २११ में रामसिंह का भी नाम है।[1] दिल्ली वाली प्रति में तो स्पष्ट रूप से रामसिंह का ही उल्लेख है इति श्री मुनि रामसिंह विरचिता पाहुड दोहा समाप्तं। डॉ० सिंह को प्राप्त होनेवाली जयपुर वाली प्रति में कुछ दोहों

---

१. अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण ॥ २११

का क्रमादि भिन्न है किन्तु उल्लेख रामसिंह तथा जोइन्दु दोनों का है।[1] इसके आधार पर मुनि रामसिंह तथा जोइन्दु दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम सिद्ध होते है। रामसिंह सामान्य तथा प्रारम्भिक नाम हो सकता है तथा जोइन्दु जैन धर्म मे दीक्षित तथा सिद्ध होने का नाम हो सकता है। जब रामसिंह जैन मुनि हुए हों तो अपना नाम बदल कर योगीन्द्र या जोगीन्दु कर लिया हो यह सम्भव नही[2] योगीन्द्र का अर्थ योगियो मे इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ है।

मुनि रामसिंह के जीवन से सम्बन्धित कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार नाम मे ये मुनि अर्हद्वलि आचार्य द्वारा स्थापित 'सिंह', सघ के अनुमान किये जा सकते है। ग्रन्थ में करहा की उपमा बहुत आयी है तथा भाषा मे भी राजस्थानी हिन्दी के प्राचीन मुहाविरे दिखाई देते है। इससे अनुमान होता है कि ग्रथकार राजपूताना प्रान्त के थे।[3] जैन साहब का यह अनुमान पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नही है। 'परमात्म प्रकाश' तथा 'दोहाकोष' (सरहपाद) के दोहो मे भी मन के लिए करह शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त मन-करहा-रास नाम की एक रचना भी प्राप्त हुई है।

समय निर्धारण :

अन्य बातो की तरह मुनि रामसिंह के समय का भी कोई पुष्ट उल्लेख नही मिलता है। डॉ० हीरालाल जैन ने 'परमात्मा प्रकाश' तथा सावयधम्म दोहा' दोनो रचनाओ को मुनि रामसिंह की रचना 'पाहुड दोहा' से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है।[4] व्याकरणकार हेमचन्द ने अपना पूर्ववर्ती काव्य कृतियो से उदाहरण के रूप में कुछ दोहो को उद्धृत किया है। अतः 'परमात्म प्रकाश' के रचयिता जोइन्दु 'सावयधम्म दोहा' के रचयिता देवसेन तथा 'पाहुड दोहा'

१. अणुपेहा बारह वि जिय भवि-भवि एक्क मणेण।
रामसीकु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण॥
जयपुर वाली प्रति। इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोगीन्दु विरचित दोहा पाहुडयं समाप्तानि। उद्धृत अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद— पृ० ४८।

२. वही, पृ० ४६।

३. डॉ० हीरालाल जैन : पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० १७, १८।

४. वही, पृ० २८-३३।

के रचयिता रामसिंह हेमचन्द्र के पूर्व हुए थे। हेमचन्द्र का समय सं० (११४५-१२२९) माना जाता है। देवसेन ने 'दर्शनसार' में अपने समय का स्वतः उल्लेख किया है जिसके आधार पर उनका समय दसवीं शताब्दी निश्चित होता है।[3] अतः मुनि रामसिंह १०वीं तथा १२वीं के बीच ११वीं शताब्दी में हुए थे।

पाहुड दोहा :

'पाहुड दोहा' मुनि रामसिंह की एकमात्र उपलब्ध रचना है। हस्तलिखित प्रतियों में इसका नाम 'पाहुड दोहा' तथा 'दोहा 'पाहुड' दोनों मिलता है। दिल्लीवाली प्रति में ग्रंथ का प्रारम्भ 'अथ पाहुड दोहा लिख्यते' और अन्त इति श्री मुनि रामसिंह विरचिता पाहुड दोहा समाप्तं। कोल्हापुरवाली प्रति के अन्त मे तथा जयपुरवाली प्रति के अन्त मे 'दोहा पाहुडयं' का उल्लेख है।[1] इससे भ्रम होता है कि कृति का सही नाम 'दोहा पाहुड' माना जाय कि 'पाहुड दोहा।' पाहुड शब्द संस्कृत प्राभृत का अपभ्रंश रूप है। प्राभृत का अर्थ होता है उपहार। डॉ० हीरालाल जैन ने 'पाहुड दोहा' का अर्थ किया है दोहो का उपहार।[2] पाइअसद्दमहण्णवो में पाहुड का अर्थ परिच्छेद और अध्याय भी बताया गया है।[3] डॉ० हीरालाल जैन ने 'पाहुड दोहा' नाम से इस ग्रंथ का संपादन किया है किन्तु वासुदेव सिंह दोहा पाहुड अधिक उचित मानते है क्योंकि परिच्छेद या प्रकरण और उपहार दोनों दृष्टियो से इसकी उपयुक्तता सिद्ध होती है।[4] पाहुड दोहा का अर्थ हुआ उपहार के दोहे और दोहा पाहुड का अर्थ हुआ दोहों का उपहार। दोनो मे कोई खास अन्तर नही है। चूंकि कृति का प्रकाशन पाहुड दोहा के नाम से हुआ है अतः यही नाम स्वीकृत किया जाना चाहिए।

---

१. पुव्वायरिय कयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
   सिरिदेवसेण मुणिणा धाराए संवसंतेण॥ ४९
   रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
   सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे महासुद्धवसमीए॥ ५०॥
२. डॉ० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ०५१।
३. डॉ० हीरालाल जैन : पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० १३।
४. पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ : पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ७३३।
५. डॉ० वासुदेव सिंह, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० ५२।

जैन मुनि रहस्यवादी कवि रामसिंह ने धार्मिक कट्टरता से अलग होकर अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। उन्होंने आत्मा को नित्य वर्णहीन तथा ज्ञानमय माना है। यद्यपि आत्मा का वास शरीर में ही है किन्तु वह शरीर से पूर्णतया भिन्न है। आत्म स्वरूप के ज्ञान के लिए बाह्याचार व्यर्थ है। कवि ने आत्म-साक्षात्कार के लिए गुरु की कृपा नितान्त आवश्यक मानी है। 'पाहुड दोहा' में यत्र-तत्र रूपकों तथा उपमाओं के सुन्दर चुनाव से काव्य सौन्दर्य अनायास ही आ गया है। 'पाहुड दोहा' में कुल २२२ पद्य प्रयुक्त हैं जिसमें १२ पद्य प्राकृत में है, तीन पद्य संस्कृत में हैं। शेष सब अपभ्रंश में है। कृति की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश कही जा सकती है। कृति में अधिकतर दोहा छन्द का प्रयोग किया है।

देवसेन

सावयधम्म के रचयिता देवसेन का समय अनिश्चित नहीं है। इन्होंने अपनी एक कृति 'दर्शनसार' में स्वत उल्लेख किया है। कवि कहता है कि उसने धारानगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत ९९० की माघ सुदि १०वी शताब्दी को दर्शनसार समाप्त किया यथा—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण॥ ४९
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे महासुद्धदसमीए॥[1]

अतः सिद्ध है कि इसकी रचना स० १००० ई० के लगभग मालवा प्रान्त के धारानगरी में हुई। देवसेन का समय भी यही था। इसके अतिरिक्त कवि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सावयधम्म दोहा :

'सावयधम्म दोहा' देवसेन की कृति है कि नहीं यह भी विवाद का विषय है। इस ग्रंथ के मूल भाग में कर्ता का उल्लेख नहीं है। संपादन के समय प्रो० हीरालाल जैन को तीन पोथियों के उल्लेख से ज्ञात हुआ कि इसके रचयिता लक्ष्मीधर या लक्ष्मीचन्द्र है जो सम्वत १५८२ के लगभग हुए थे। किन्तु अ प्रति के अन्तिम श्लोक से इस मत की सत्यता पर सन्देह हुआ। इस

१. देवसेन दर्शनसार : दोहा, ४९, ५०।

श्लोक में प्रस्तुत ग्रंथ के साथ मूल ग्रंथकार योगीन्द्रदेव पंजिकाकार लक्ष्मीचन्द्र और वृत्तिकार प्रभाचन्द्र मुनि का उल्लेख है। इसी कथन के साथ पहली प्रति के अन्तिम वाक्य में कहा गया है कि संवत १५५५ कार्तिक सुदि १५ सोमवार को विद्यानन्दि के पट्ट पर अधिष्ठित मल्लिभूषण के शिष्य पं० लक्ष्मण के पठनार्थ लिखी गयी।[1] जोइन्दु के 'परमात्म प्रकाश' तथा देवसेन के 'सावयधम्म दोहा' के कुछ दोहों में सादृश्य है।[2] किन्तु सम्यक् रूप से दोनों के दृष्टिकोण तथा विचारधारा में बहुत अन्तर है। 'सावयधम्म दोहा' आचार-परक काव्य है किन्तु 'परमात्म प्रकाश' रहस्यवादी काव्य है। इस ग्रंथ में किसी आध्यात्मिक प्रगति की भी सूचना नहीं मिलती जो यह सिद्ध कर सके कि योगीन्द्र अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की पराकाष्ठा पर पहुँचने के पूर्व गृहस्थाश्रम में इस ग्रंथ की रचना की होगी। इससे यह सिद्ध होता है कि 'सावयधम्म दोहा' जोइन्दु (योगीन्दु) की रचना नहीं है।

इस ग्रन्थ में कोई गूढ़ चिन्तन नहीं मिलता। कवि ने सामान्य श्रावकों को उपदेश दिया। इसमें दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म के परिपालन का वर्णन किया गया है।

इस ग्रंथ की भाषा बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अपभ्रंश तथा अवहट्ट का वही रूप है जो १०-११वीं शताब्दी में लगभग समस्त उत्तर भारत में प्रचलित थी।

सुप्रभाचार्य

सुप्रभाचार्य का जीवन काल तथा जन्म स्थान ज्ञात नहीं है। 'वैराग्यसार' नामक कृति में बार-बार सुप्पउं भणइ मिलता है जिससे इनके नाम का पता चलता है। 'वैराग्यसार' में जोइन्दु तथा रामसिंह से मिलता-जुलता भाव पाया जाता है जिसके आधार पर सुप्रभ का समय दसवीं शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है।

वैराग्यसार :

वैराग्यसार ७७ दोहों की एक छोटी सी कृति है जो प्रो० एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित की गयी है। यह कृति आचारपरक न होकर अनुभूति-

१. देवसेन : सावयधम्म दोहा, पृ० ५-६।

२. सम्पा० डा० हीरालाल जैन : सावयधम्म दोहा, भूमिका पृ० ७।

परक है। संसार के प्रति होने वाले माया मोह को त्याग कर वैराग्य भाव अपनाने का उपदेश दिया गया है। यह संसार सुख-दुख से परिपूर्ण है। धन सम्पत्ति क्षणिक है मानवदेह नश्वर तथा संसार के सभी सम्बन्ध अस्थायी हैं।

जिनदत्तसूरि

जिनदत्तसूरि के जीवन के विषय में विस्तार से उल्लेख मिलता है। उनके अनेक शिष्यों ने उनका विवरण बडे आदर से दिया है। इन शिष्यों में जिनपति सूरि, पूर्णभद्र गणि, जिनपाल गणि, सुमति गणि आदि प्रमुख है। श्री धर्मदेव उपाध्याय की पत्नी ने संयत अभिर्गति के लिए चतुर्मासी किया था। वहाँ क्षपणक भक्त वाच्छिग श्रावक की पत्नी वाहडव देवी अपने पुत्र के सहित धर्म श्रवण के लिए आयी। उस पुत्र को विशेप गुणवान् जानकर साध्विओ ने गुरु को समर्पित करने के लिए कहा। उपाध्याय के यह पूछे जाने पर कि यह बालक कितने दिन का है उसकी मां ने कहा 'एकादशशतद्वात्रिंशत्संवत्सरे जात इति' अर्थात् जिनदत्तसूरि का जन्म ११३२ मे हुआ था। ११४१ में उपाध्याय ने उस बालक को दीक्षा देकर सोमचन्द्र नाम रखा।[1] वे बचपन से ही प्रतिभावान थे तथा हर नगर में घूमकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। श्री जिनवल्लभ सूरि के देहावसान के बाद सोमचन्द्र ने उनका स्थान ग्रहण किया और तब से वे जिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके बाद उन्होंने मरुस्थलीय नगरो, नागपुर, अजमेर, देवगृह, वागजडदेश मे विहार किया। उनकी भेंट अर्णोराज तथा जयदेव आचार्य से भी हुई थी। ख पट्टावली मे उल्लेख है कि श्री जिनदत्त सूरय. संवत १२११ आषाढ सुदि एकादश्या अजमेरुनगरेऽनशनं कृत्वा स्वर्गं गता: ॥४१॥[2] श्री जिनदत्तसूरि ने संवत १२११ आषाढ सुदि एकादशी अजमेर नगर मे अनशन करके स्वर्ग चले गये।

मुक्तक कृतियाँ

जिनदत्तसूरि रचित तीन अपभ्रंश रचनाये उपलब्ध है। ये रचनायें जैन धर्म से संबधित है।

(१) चर्चरी

'चर्चरी' की रचना जिन वल्लभ सूरि के स्तुत्यार्थ हुई है। कवि त्रिभुवन

१. सम्पादक लालचन्द भगवान दास गाँधी · अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ४१।
२. वही, पृ० ६०।

स्वामी शिवगति गामी जिनेश्वरधर्म के चन्द्रमा के समान निर्मल पदकमलो को नमस्कार करने युग-प्रवर, जिन वल्लभ के गुणो की स्तुति करता है। जिन वल्लभ व्याकरण, छन्दलक्षण, शब्द, अशब्द, छन्द, गुरु लघु आदि के ज्ञाता है। उनमे अपूर्व नवरस युक्त काव्य रचना की शक्ति है। इसके बाद जिनदत्त सूरि ने चैत्यगृह के विधि-विधान का प्रसंग छेडा है। गुरु जिन वल्लभ द्वारा की गयी चैत्यगृहीय व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करता है। कवि अन्त मे जिन वल्लभ की गुरुपरम्परा का वर्णन करते हुए युग-श्रेष्ठ, परमार्थ के समय को जानने वाले बहुत से लोगो के लिए दुर्लभ जिन वल्लभ सूरि की स्तुति करता है।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना कंद छन्द मे हुई है। कवि काव्यशास्त्रीय तत्वों से परिचित जान पडता है।

कालस्वरूप कुलक—३२ छन्दो की एक छोटी सी रचना है। इसका वर्ण्य-विषय भी जिनदत्त सूरि रचित अन्य दो ग्रथों के समान ही है। ग्रंथकर्ता जिन वल्लभ को प्रणाम करके सुगुरु का उपदेश देने का निश्चय करता है।

गुरु के वचनो से मोह निद्रा का त्यागकर राग, द्वेष, मोह को जो पराजित कर देते है वे सिद्ध-पुरन्ध्री का निश्चय ही भोग करते है।

कवि पाखण्डों का विरोधी है। राग-द्वेष से विलसित लुञ्चित सिरवाले जैन को भी वह श्रेष्ठ नही समझता।

उपदेश रसायन-रास

इस कृति मे सुगुरु, कुगुरु, सुपथ, कुपथ, लोक-प्रवाह, चैत्य विधि, तथा विविध धर्मो के स्वरूप बोधक उपदेश दिये गये है। मनुष्य जन्म पाकर हारना नही चाहिए। आत्मा को भवसमुद्र से तारने का उद्योग करना चाहिए। आत्मा को राग तथा रोप को अर्पित करने से तथा सर्व दोषो के निधान करने से मनुष्य जीवन व्यर्थ हो जायेगा। कुपथ पर चलनेवाले तथा पतित व्यक्ति का कुल में जन्म लेना व्यर्थ है। कवि अपने उपदेश को रसायन कहता है तथा उसका फल बताता है—

> इयजिणदत्तु वएसरसायणु
> इह परलोयह सुक्खह भायणु।
> कण्णंजलिहि पियंति जि भव्वइं
> ते हवंति अजरामर सव्वइं॥

महयंद मुनि

दोहापाहुड या दोहा वेल्लि के रचयिता महायंद मुनि का रचनाकाल बिलकुल स्पष्ट नहीं है। 'आमेरशास्त्र भण्डार' से प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति मे उल्लेख है कि 'संवत् १६०२ वर्षे वैसाख सुदि १० तिथौ रविवासरे नक्षत्र उत्तर फाल्गुने नक्षत्रे राजाधिराज साहि आलमराजे। नगर चंपावती मध्ये श्री पार्श्वनाथ चैत्यालए—श्री धर्मचन्द्र देवा।[1] इससे सिद्ध होता है कि रचनाकार का समय संवत् १६०२ के पहले ही था। जयपुर के बडे मन्दिर के शास्त्र भाण्डार से प्राप्त होनेवाली प्रति में लिपिकाल पौप सुदी १२ बृहस्पति स० १५६१ का उल्लेख है।[2] डॉ० वासुदेव सिह ने त्रिरचित सत्तावीस के आधार पर महयद मुनि की रचना का समय वीर सवत् १७०० (वि० संवत् १२५०) माना है। तिथि निर्धारण मे उन्होने उक्त काव्य की भाषा को १३वी शताब्दी का माना क्योकि १८वीं शताब्दी में इस प्रकार के अपभ्रंश के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय तो जैन कवि भी हिन्दी मे ही रचना कर रहे थे।[3] डा० हरिवल्लभ भायाणी के अनुसार यह काल-निर्धारण पूर्ण रूप से भ्रात है।' वैसे छठवे छन्द मे, 'विरचिय सत्तावीस' ऐसे शब्दो का बिलकुल गलत अर्थ समझ कर उन्होंने कृति का रचना-वर्ष १७२० है ऐसा मान लिया है और कृति की दो प्रतियों के लिपिकाल (वि० स० १५६१ तथा १६०२) से इसका विरोध मिटाने के लिए उन्हें बिना किसी आधार के इसको वीर निर्वाण सवत् लेना पडा। वस्तुतः सारे छठे दोहे का डॉ० वासुदेव सिह ने जो अर्थ किया है वह पूर्ण रूप से भ्रात है।[4] भायाणी जी ने सत्तावीस पाठ को सत्तावीस करके उसका अर्थ सत्ताइस लिया है जो ठीक भी है। उनका कथन है कि कृति मे रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं है।[5] जब तक कोई अन्य प्रमाण नही मिलता तब तक इस ग्रन्थ का रचनाकाल १३वी शताब्दी माना

---

१. डॉ० वासुदेव सिह : अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद, पृ० ६२।

२. अनेकान्त (वर्ष १२, किरण ५) अक्टूबर, १९५२ पृ० १५६-५७।

३ डॉ० वासुदेव सिह अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद—पृ० ६३।

४. डॉ० हरिवल्लभ भायाणी : मरुभारती (पत्रिका) जनवरी, १९७३ पृ० ५७।

५. संपादक, डॉ० कन्हैयालाल : मरुभारती, जनवरी, १९७३ अक पृ० ५६।

जाना चाहिए। जैनधर्म संबधी यह रचना १२-१३वीं शताब्दी अर्थात् मुनि रामसिंह आदि के आस-पास की होनी चाहिए। अतः महयंद मुनि का समय १२-१३वी शताब्दी सिद्ध होता है। कवि के गुरु का नाम वीरचन्द्र था।

रचनाएँ :

महयंद मुनि की एक रचना प्राप्त हुई है जिसके नामकरण के संबंध मे पर्याप्त विवाद है। हस्तलिखित प्रति के अन्त में इति 'पाहुडं समाप्तं' दिया हुआ है। इसके आधार पर वासुदेव सिंह ने इस कृति का नाम दोहा—पाहुड' या बारहखडी माना है। कृति के अन्तर्गत 'दोहा पाहुड जैसा कोई नाम नही मिलता। कृति के पाँचवे छन्द मे दोहावेल्लि' दिया हुआ है। डॉ० भायाणी ने इसी को प्रस्तुत कृति का उचित नाम माना है। उन्होंने 'दोहा वेल्लि' तथा राउर वेलि को उपलब्ध वेलि काव्यों में सबसे प्राचीन माना है। 'दोहावेल्लि' की रचना ककहरा के रूप मे हुई। दोहो की संख्या आदि पर कवि ने स्वतः प्रकाश डाला है :—

तेत्तीसह छह छंडिया, विरचिय सत्तावीस।
बारह-गुणिया तिण्णिसय, हुअ दोहा चउवीस॥

पाँचवें छन्द मे भी कवि ने कुल छन्द संख्या ३३४ बताई है चउती सग्गल तिण्णि सय' दोनो छन्दो मे व्यक्त ३२४ और ३३४ की असंगति को मिटाते हुए डॉ० भायाणी ने लिखा—प्रारम्भ के प्रस्तावना रूप सात छन्द, इसके बाद मुख्य विषय के ककहरा पद्धति के ३२४ छन्द (ये सभी दोहे जान पड़ते है, केवल अन्तिम छन्द ३३१वाँ छन्द गाथा है और उसकी भाषा भी प्राकृत है और उपसंहार के तीन छन्द (३३३ और ३३४) एक ही रासावलय छन्द के दो अर्ध है और अन्तिम छन्द १६+१२, १६+१२, इस मापवाला कर्पूर नामक उल्लास है) ऐसे ३३४ छन्दो की संख्या बराबर होती है।[1]

कृति का विषय रामसिंह, जोइन्दु आदि रहस्यवादियो की तरह है। कवि कुगुरु, कुदेव कुधर्म, कुतप तथा कुमार्ग को छोड़कर मिथ्या भाव का परित्याग कर सम्यक् दर्शन में सलग्न होने का परामर्श देता है।[2] कृति मे धार्मिक सम्बद्धता तथा नीरसता अधिक है।

---

१. मरुभारती पत्रिका, पृ० ५७ जनवरी, १९७३ का अंक।
२. महयंद मुनि दोहावेल्लि या दोहापाहुड—दोहा १२. ४०।

महाणंद देउ या आणंदा

महाणंद देउ की 'आणंदा' नाम की एक रचना प्राप्त है। आमेर शास्त्र भण्डार तथा अगरचन्द्र नाहटा के पास इसकी एक एक प्रति सुरक्षित है। कासलीवालजी कवि और कृति दोनों का नाम आणंदा मानते हैं।[1] नाहटा जी का मत है 'जहाँ तक रचना के नामकरण का प्रश्न है, इसमे आनेवाले आणंदा शब्द के पुन-पुन आने के कारण ही किसी लेखक ने यह नाम लिख दिया है। कर्त्ता के नाम के साथ इसका सबंध नहीं है न रचयिता ने इसका यह नाम रखा ही होगा।[2] श्री कामताप्रसाद जैन ने लिखा कि 'मुनि महानंदि देउ ने 'आनन्दतिलक' नामक रचना साधुओं और मुमुक्षुओ के संबोधन के लिए आध्यात्मिक सुभाषित नीति रूप गोपाल साहू के लिए रची।[3] इन समस्त उल्लेखों से कवि का वास्तविक नाम, रचनाकाल आदि अत्यधिक विवादास्पद हो जाता है। श्री नाहटा जी ने कवि का सही नाम महाणंददेउ सुझाया है और प्रमाण हेतु निम्नलिखित दोहो को उद्धृत किया है :—

> **चिदाणंद साणंद जिणु समल सरीर हसोइ।**
> **महाणंदि सो पूजायइ, आणंदागगन मण्डल थिर होइ॥**
> **महाणंदि इ इ कालियउ आणंदा जिणि दरसाविउ मेउ॥आणंदा॥**

आनन्द तिलक, महानन्द, आणंदा तीनो नामो में कोई खास अन्तर नही है। ये एक ही नाम के अन्य रूपान्तर है।

कवि के समय के विषय मे भी श्री कासलीवाल जी के अनुसार महानन्द कृत रचना अवश्य बारहवीं शताब्दी के आसपास की है।[4] यद्यपि यह अपभ्रंश के बहुत निकट की लगती है पर शब्द प्रयोग परवर्ती लोकभाषा के यत्र-तत्र पाये जाते है। उसे देखते हुए इसका रचनाकाल भी १२वी से बाद का १३वी, १४वी का होना चाहिए।[5] इस आधार पर आणंदा का समय १२वी से १४वी शताब्दी के बीच सिद्ध होता है। डॉ० वासुदेव सिंह ने कई दोहो को उद्धृत

१. वीर वाणी, वर्ष ३, अंक १४, १५, पृ० १९७-१९८।
२. ,, (अंक २१, पृ० २८१-८२)।
३. कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ८६।
४. वीरवाणी (वर्ष ३, अंक १४, १५) पृ० १९७।
५. ,, अंक २१. पृ० २८१।

करके आणंदा का भाषा, भाव दोनो दृष्टियों से 'परमात्म प्रकाश' 'योगसार' 'दोहा पाहुड' से अद्भुत साम्य दिखाने का प्रयास किया है। यद्यपि आणंदा की भाषा मे कुछ परवर्ती रूप मिल जाते है परन्तु योगीन्द्र तथा रामसिंह से ये बहुत अलग नही है। इसी आधार पर निष्कर्ष रूप मे डॉ० सिंह ने लिखा 'मेरा अनुमान है कि आनन्द तिलक इनके (योगीन्द्र मुनि) अधिक परवर्ती नही रहे होंगे। अधिक से अधिक हम उनको १२वी शताब्दी तक ले जा सकते हैं।[1] १२-१३ शताब्दी को अपभ्रंश का सीमा काल माना जाता है अतः यही समय उचित प्रतीत होता है।

मुक्तक कृति आणंदा :

कवि की एक ही कृति उपलब्ध है। इसका विषय रहस्यवादियो जैसा ही है। आनन्दतिलक परमात्मा को स्पर्शहीन, रसहीन, गन्धहीन तथा रूपहीन कहते हैं। वह नाम वैविध्य का खण्डन करते हुए शिव का वास शरीर मे ही मानते हैं जिसकी उपलब्धि गुरु के प्रसाद से होती है।[2] कवि की अभिव्यक्ति मे सादगी है तथा उसे विश्वास है कि ऐसे आध्यात्मिक काव्यो को पढ़ने-पढ़ाने वाला व्यक्ति 'सिवपुर' जाता है। रचना मे हिंदोला छन्द का प्रयोग हुआ है।

महेश्वर सूरि

'संयम मंजरी' के रचयिता महेश्वर सूरि के जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। नाम मात्र के उल्लेख से दो महेश्वर सूरि की उपस्थिति का ज्ञान होता है। प्रस्तुत कवि के अलावा कालकाचार्य कथानक के रचयिता का नाम भी महेश्वर सूरि था। किन्तु दोनो की अभिन्नता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नही है। 'संयम मंजरी' की एक हस्तलिखित प्रति हेमहंस सूरि की टीका के साथ सं० १५६१ की प्राप्त है। इससे रचयिता और रचनाकार दोनो इसके पूर्व के प्रतीत होते है। डॉ० रामसिंह तोमर 'सावयधम्म दोहा' जैसी रचनाओं के साम्य के आधार पर हेमहंस सूरि का समय १०-१२वीं शताब्दी के बीच मानते हैं।[3] पी० डी० गुणे ने कवि का समय १२-१३ शताब्दी स्वीकार किया है।[4]

---

१. डॉ० वासुदेव सिंह : अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद, पृ० ६०।

२. आणंदा—दोहा सं० १६।

३ डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिंदी पर प्रभाव, पृ० ६३।

४. पी० डी० गुणे : भविसयत्तकहा (बड़ौदा संस्करण), पृ० ३७।

संयम मंजरी

यह कवि की एकमात्र उपलब्ध कृति है जो पी० डी० गुणे द्वारा उद्धृत होकर 'भविसयत्तकहा' के पृ० ३७-३६ पर प्रकाशित हुई है। कृति के दोहा नम्बर ३५ मे सिरि महेसर सूरि का नाम मिलता है जिसके आधार पर प्रस्तुत कृति की रचना का श्रेय महेश्वर सूरि को दिया जाता है।[1] महेश्वर सूरि के साथ 'सिरि' और 'गुरु' का उल्लेख होने से यह निश्चित हो जाता है कि यह दोहा कवि का न होकर प्रक्षिप्त है जिसे बाद मे किसी शिष्य ने जोड़ दिया होगा। फिर भी इससे रचनाकार पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। पद्य ३२ मे गुरुजन विशेषण से युक्त जिनचन्द का नाम मिलता है[2] अतः वे महेश्वर सूरि के गुरु या कोई अन्य प्रिय श्रद्धाभाजन व्यक्ति हो सकते हैं।[3] 'संयम मंजरी' मे कुल ३५ दोहे हैं। सयम को मोक्ष का द्वार कहा गया है। जिसमें संयम का भाव नही वह अपनी माँ का यौवन बिगाडने के लिए जन्म लिया है। कवि का कथन है कि निष्ठुर, निर्दयी और दुष्ट प्राणी, पाप भार से युक्त होकर नरक मे पड़ते हैं।[4]

उपदेशमाला वृत्ति :

यह ग्रन्थ जैन धर्म से सम्बन्धित है। इसमे गद्यात्मकता अधिक है किन्तु बीच-बीच मे अपभ्रंश के अनेक छन्द भी पाये जाते हैं। इन छन्दों का विषय धार्मिकता तक ही सीमित नही है बल्कि विविध लौकिक चित्रणों तक विस्तृत है। इसमे नगरो, दासियो, आती-जाती सुन्दरियों, शकुनो का उत्कृष्ट चित्रण किया गया है। लोक जीवन से संस्पर्शित यह ग्रन्थ निश्चित रूप से गौरवपूर्ण है। कृष्णादि से सम्बन्धित कुछ पौराणिक संदर्भों से युक्त मुक्तको के कारण इसकी महत्ता और भी संवर्धित हो जाती है।

---

१. णह भूषण गयवसणं संजममंजरि एह।
सिरि महेसर सूरि गुरु कन्नि कणंत सुणेह॥ ३५

२. जिणचंदगुरुजन विणउ तवु संजमु उपयारु।
जं किज्जइ खणभंगुरिण देहह इत्तिउ सारु॥ ३२

३. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिंदी पर प्रभाव, पृ० ९३।

४. संयम मंजरी—दोहा २, ३, ५।

तरुणी के चरित्र की संश्लिष्टता तथा क्लिष्टता को उद्घाटित करता हुआ कवि कहता है कि तीनो लोक को जो आँख से देख सकता है, गगन-मार्ग को जो प्रत्यक्ष कर सकता है, जो सागर के जल के परिमाण को जान सकता है, वह भी तरुणी के चरित्र को नही जान सकता है :—

तिहुयणि सयलु जि पेक्खहि अक्खिहि
लक्खहि गयणि मग्गु जे पेखिहि।
जल परमाणु जि सायर बुज्झहि
तरुणि चरित्ति ते वि निरु मुज्झहि।[1]

जयदेव मुनि

जयदेव मुनि कृत एकमात्र रचना 'भावनासंधि प्रकरण' प्रकाशित हुई है। कृति के अन्तिम पद मे मुनि जी ने अपने नाम की ओर निर्देश किया है। वह शिवदेव मुनि के प्रथम शिष्य थे। इस रचना मे मालव नरेन्द्र तथा मुन्ज (१०५४) का उल्लेख है। इसके आधार पर जयदेव मुनि का काल ग्यारहवी शती के पीछे माना जा सकता है।

भावनासंधि प्रकरण :

इस रचना मे कवि ने संसार को मिथ्या तथा इन्द्रजाल बताया है। वह मानव जन्म की दुर्लभता तथा विषयों के दुष्परिणामों का विरागपूर्ण वर्णन करते हुए जिनवर द्वारा निर्दिष्ट धर्मपालन के द्वारा उनसे छूटने की सम्मति देता है। सम्पूर्ण कृति नैतिकता तथा उपदेशात्मकता ही से ओतप्रोत है।

लक्ष्मीचन्द्र

लक्ष्मीचन्द्र 'दोहाणुपेहा' नामक एक धार्मिक मुक्तक कृति के रचयिता माने जाते हैं। अपभ्रंश भाषा के अप्रकाशित कुछ ग्रन्थ नाम के अपने एक लेख में श्री परमानन्द जैन 'शास्त्री' ने दोहानुप्रेक्षा (दोहाणुपेहा) के रचयिता लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख किया है।[2] लक्ष्मीचन्द्र के विषय मे कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्त्ताओं की सूची जो जैन हितैषी मे प्रकाशित हुई थी एक लक्ष्मीचन्द्र का नाम आया है।[3] ये जाति के अग्रवाल थे और

१. उपदेशमाला वृत्ति, पृ० १६९।
२ अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ९, पृ० २९६ (फरवरी, १९५४)।
३. जैन हितैषी- अक ५ ६ पृ० ५५ (वीर नि० स० २४३६)।

संवत् १०३१ मे विद्यमान थे। यदि इन्हीं को उक्त ग्रन्थ का रचयिता माना जाय तो इनका काल ११वी शताब्दी सिद्ध हो जाता है।

दोहाणुपेहा :

इस कृति का श्रेय लक्ष्मीचन्द को दिया जाय कि अन्य किसी कवि को यह विवाद का विषय है। इसका कारण यह है कि कृति में लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख नही मिलता है। कवि दो स्थानो पर 'णाणी बोल्लहिं साहु''[1] तथा स्थान-स्थान पर 'जिणवर एम भणेइ' का प्रयोग करता है। इससे यह शंका होती है कि इसके कर्त्ता 'साहु नामक' कोई अन्य कवि तो नहीं है। दूसरी तरफ साहु का अर्थ सज्जन भी हो सकता है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने 'परमात्म प्रकाश' की भूमिका में लक्ष्मीचन्द्र को श्रावकाचार्य (सावयधम्म दोहा) का रचयिता माना है। किन्तु डॉ० हीरालाल जैन ने इस तर्क को अस्वीकृत कर दिया तथा उन्होने 'देवसेन' को सावयधम्म दोहा' का रचयिता मानकर उसका संपादन किया तथा उसे कारंजा जैन सिरीज़ से प्रकाशित करवाया। किसी विशिष्ट विरोधी प्रमाण के अभाव में लक्ष्मीचन्द्र को ही इस कृति का रचयिता माना जा सकता है।

'दोहाणुपेहा' में कुल ४७ दोहा छन्द है। ग्रंथ के प्रारम्भ में सिद्धों की बन्दना है। इसके बाद आस्रव, संवर, निर्जरा आदि का वर्णन किया गया है। जो सम्यक् दर्शन को जान लेता है तथा परभाव को समझ लेता है वह अकेला ही शिव सुख को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष अथवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए मन्दिर तीर्थाटन, भ्रमण आदि की जरूरत नही है।[2] परमात्मा का निवास तो देह रूपी देवालय ही मे है। कवि की दृष्टि मे व्रत, तप, नियम आदि का पालन करते हुए भी जो आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ एव मिथ्या दृष्टि वाले हैं उन्हे कभी निर्वाण प्राप्त नही होता।[3]

छीहल

छीहल की एक रचना 'आत्म प्रति बोध जयमाल' प्राप्त हुई है। कवि की रचनाओ से पता चलता है कि इसका समय सोहलवी शताब्दी का उत्तरार्ध रहा होगा। उदाहरण के लिए एक दोहा उद्धृत किया जा सकता है .

---

१. लक्ष्मीचन्द्र : दोहाणुपेहा—१३—

२. वही, ३५-३८।

३. वही. ४५. ४६, ४७।

सम्वत पनरह पचुहत्तरइ पूनिम फागुन मास ।
पंच सहेली बरनवा, कवि छीहल परगास ॥ ६८[1]

अन्य अन्तरंग प्रमाणो से ज्ञात होता है कि कवि छीहल का जन्म अग्रवाल वंश मे 'नलिगाव' नामक स्थान मे हुआ था। इनके पिता का नाम सिनाथु था—

नालि गांव सिनाथु सुतनु, अगरवाल कुल प्रगट रवि ।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि ॥[2]

आत्म प्रतिवोध जयमाल :

इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरह पंथियो के शास्त्र भण्डार में प्राप्त हुई। डॉ० वासुदेव सिंह के शोध-प्रबन्ध 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' के परिशिष्ट में इसका कुछ अंश प्रकाशित हुआ है। कवि ग्रन्थ के आरभ में अरहतों और सिद्धो की वन्दना करता है। इसके पश्चात् 'आतमा के स्वरूप' को व्याख्यायित करता है।

'आत्म-प्रतिवोध जयमाल' की अपभ्रश भाषा मे काफ़ी सरलता आ गयी है।

सिद्ध कवि और काव्य

बौद्धों तथा जैनो की धार्मिक भाषा का अलगाव सातवी आठवीं शताब्दी तक समाप्त हो गया। दोनों ने समान रूप से अपभ्रंश भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। सिद्धो की रचनायें भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही साहित्यिक दृष्टि से भी उनका कम महत्व नही है क्योंकि मध्यकालीन भक्त कवि सामान्य रूप से तथा सन्त भक्त कवि विशेष रूप से इनसे प्रभवित हुए हैं। वैसे सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है किन्तु उनकी सख्या इससे भी अधिक हो सकती है परन्तु इन सिद्धों की मूल रचनाये बहुत कम उपलब्ध हैं। इनमें भी बीस पच्चीस सिद्धों के दो-चार चर्या गीत मात्र उपलब्ध हैं। सरहपाद, काण्हपाद, तिल्लोपाद रचित अधिक दोहे उपलब्ध है। श्री प्रबोध चन्द्र बागची ने 'चर्यागीत कोष' के परिशिष्ट में उपर्युक्त सिद्धों के दोहे प्रकाशित किये हैं। सिद्ध कवियों के जीवन के विषय में कोई सही परिचय

१. छीहल पच सहेली-दोहा ६८

२. डॉ० शिव प्रसाद सिंह : सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १५६।

नहीं मिलता। तिब्बती स्रोतों से जो कुछ सूचना मिलती है वह काल्पनिक तथा अतिरंजित जान पड़ती है।

सरहपाद :

सरहपाद को राहुल सांकृत्यायन आदि सिद्ध मानते हैं। इनका प्रारंभिक नाम राहुल भद्र था। राहुल भद्र ब्राह्मण कुल में ओडिविसा मे पैदा हुए थे तथा बचपन से वेदों तथा वेदान्तो में ही सीमित थे। मध्यदेश जाकर इन्होंने बुद्ध धर्म स्वीकार किया। राहुल जी ने सरह का जन्म-स्थान राज्ञी नामक स्थान माना है।[1] अश्वघोष इनके गुरु थे। अन्त में ये दक्षिण गये। वहाँ इन्होंने वाण बनानेवाली लड़की के रूप में अपने कर्म क्षेत्र की योगिनी देखा जिसने इनकी आत्मशक्ति को उद्घाटित किया। राहुल भद्र ने उसे मुद्रा दी तथा बाण बनाने का कार्य स्वयं भी किया। बाद में ये सरह के रूप में प्रसिद्ध हो गये। सरहपाद ने बौद्ध सिद्ध होते हुए भी महायानी विनय परम्परा को ठुकरा दिया। वे स्त्री विरति तथा मद्यपान निषेध को भी व्यर्थ का ढोंग मानने लगे। अपनी खुली बगावत को व्यक्त करने के लिए ही उन्होंने बाण बनानेवाले की लड़की के साथ विवाह किया था।[2]

सरह के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा की मृत्यु ७८० ई० के करीब माना है। इसका आधार मात्र इतना है कि लुइपा सिद्ध शबरपा के संपर्क में आकर राजाज्ञा से गृहत्यागी बने थे शबरपा सरह के शिष्य थे। शिष्य का महत्त्व गुरु की मृत्यु के बाद ही अधिक बढ़ता है। इसका अर्थ यह है कि उस समय तक सरहपा की मृत्यु हो चुकी थी। साथ-साथ लुईपा को धर्मपाल के अन्तिम समय ८०० ई० के करीब मौजूद माना गया है।[3] डा० धर्मवीर भारती ने अनेक स्रोतों तथा मतों का परीक्षण करके सरहपा का समय ८००-८७५ ई० अनुमानित किया है।[4] राहुल जी का यह उल्लेख कि सरह के साथ हम एक नया धार्मिक प्रवाह जारी होते देखते है। यह धार्मिक प्रवाह जैनों तथा सिद्धों में समान रूप से पाया जाता है। जोइन्दु, रामसिंह आदि का समय आठवीं-दसवीं शताब्दी के बीच

१. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबंधाली, पृ० १६८।
२. सं० भूपेन्द्रदत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ८।
३ राहुल सांकृत्यायन : दोहाकोश (भूमिका) पृ० १३।
४. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य—पृ० ४५।

माना जाता है। कुछ विद्वानो ने जोइन्दु आदि के ऊपर सरह का प्रभाव माना है। इस आधार पर भी सरहपाद का समय आठवी-नवी शताब्दी के बीच माना जा सकता है।

रचनायें :

सरह द्वारा रचित ग्रंथो की एक सूची राहुल सांकृत्यायन द्वारा दी गयी है। ये सारे ग्रंथ भोटिया भाषा मे अनूदित है।[1] इन ग्रंथों मे अधिकांश की भाषा तथा काव्य रूप के संबंध में कुछ नही कहा जा सकता है। इन कृतियों के शीर्षक के अन्त मे गीति शब्द जुड़ा है जैसे 'उपदेश गीति', 'व्रजगीति,' 'गुह्यगीति,' 'चर्यागीति' आदि। इससे इनके मुक्तक-धर्मिता का अनुमान किया जा सकता है। उपलब्ध मुक्तक कृतियों मे 'दोहा-कोश' तथा चर्यागीति (२२, ३२, ३८, ३९) उल्लेखनीय है। इन्हे कुछ सीमा तक मूल के निकट माना जा सकता है। अन्य रचनाओ का भोट अनुवाद तथा उसका हिन्दी रूपान्तर 'दोहाकोश' मे दिया गया है। भोट भाषा की प्रकृति भिन्न होने के कारण तथा दो बार अनुवाद की प्रक्रिया से काव्यात्मकता बिलकुल समाप्त हो गयी है। अतः यहाँ अपभ्रंश रचनाओं की भाषा तथा भाव पर ही ध्यान केन्द्रित किया जायेगा।

सरह ने षड्दर्शनो का खण्डन किया है। सहज की साधना तो ऐसी साधना है जहाँ मन्त्र-तंत्र अप्रभावशाली हो जाते हैं। तीर्थ तपोवन तथा जल स्थान सब व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिए सरह इन झूठे बन्धनों को त्यागने का उपदेश देते हैं।[2] प्रव्रज्या से रहित गृही जो भार्या के साथ रह रहा है तथा विषयों मे रमण कर रहा है। यदि वह अपनी इस भोग्य रुचि को नहीं त्यागता तो उसे परिज्ञान कैसे रुचिकर होगा। सरह ने करुणा, परमपद, माया, जीव, जगत् आदि के विषय मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए गुरु के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

तिलोपा :

इनका जन्म स्थान 'भगु' नगर बिहार माना जाता है। सक्य में इन्हें राजवंशी बताया गया है।[3] तारानाथ के अनुसार यह ब्राह्मण जाति के थे तथा

१. राहुल सांकृत्यायन . पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६८-१६९।

२. दोहाकोश सं० राहुल साकृत्यायन दोहा १६, १७।

३. राहुल साकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६४।

पूर्वी भारत में पैदा हुए थे। बौद्ध-मत से प्रभावित होकर ये भिक्षु बने थे किन्तु एक तेलिन के साथ समागम करने के कारण इन्हे संघ से निकाल दिया गया। इन्हे अन्त मे सहज अनुभूति हुई।[1] इनका समय १००० ई० से ११०० ई० के बीच अनुमानित किया गया है।[2]

रचना :—

इनकी एकमात्र मुक्तक रचना "दोहा कोष" उपलब्ध है। यह दोहाकोष तथा 'चर्यागीत कोष' में प्रकाशित है। करीब चौतीस दोहो मे तिल्लोपा ने चित्त, जगत्, सहजावस्था, तीर्थों की निरर्थकता वर्णित की है।

काण्हपाद :

काण्हपा या कण्हपा के नाम के अनेक रूपान्तर मिलते है जैसे कान्ह, कान्हि, कान्हिल, कृष्णपाद, कृष्णाचार्यपाद आदि। उपलब्ध चर्यागीतो की भाषा-शैली मे भेद देखते हुए अनेक काण्हपा के होने का अनुमान किया जा सकता है।[3] लामा तारानाथ ने कृष्णाचारी (काण्हपा) को तिब्बती परम्परा के अनुसार 'कर्ण' प्रदेश भारतीय परम्परा के अनुसार पाद्मनगर या विद्यानगर मे उत्पन्न माना है। अनेक प्रमाणो से उन्होने इन्हे उडीसावासी सिद्ध किया है।[4] राहुल जी काण्हपा का जन्म कर्णाटक प्रदेश में ब्राह्मण कुल में मानते है। ये शरीर के काले थे इसीलिए इनका नाम काण्हपा (कृष्णपा) पड़ा। महाराज देवपाल के समय मे(ई० ८०६-८४६) ये पंडित भिक्षु थे।[5] डा० धर्मवीर भारती इनका समय ६२५ ई० से १००० के बीच अनुमान करते हैं।[6]

रचनायें :

कण्हपा द्वारा रचित अनेक रचनाओं की सूचना मिलती है। तंजूर में इनके ७४ ग्रन्थ मिलते है जिनमे ६ अपभ्रंश में थे जो भोट भाषा में अनूदित हैं। अपभ्रंश में इनका एकमात्र ग्रंथ 'दोहाकोष' प्रबोध चन्द्र बागची द्वारा संपादित 'दोहाकोष' तथा 'चर्यागीति कोष' के परिशिष्ट मे मुद्रित है।

---

१. सं० भूपेन्द्र दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ पृ० ३३-३४।
२. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० ४५।
३. डा० सुकुमार सेन : चर्यागीति-पदावली, पृ० २३।
४. सं० भूपेन्द्र दत्त : मिस्टिक-टेल्स, आफ लामा तारानाथ, पृ० ३२।

लुईपा

इनको चौरासी सिद्धो मे आदि सिद्ध माना जाता है। डॉ० सेन के अनुसार इनका समय ११वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है।[1] डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची ने लुईपा और मत्स्येन्द्रनाथ को अभिन्न ठहराते हुए इनके १०वीं शताब्दी में उपस्थित होने का अनुमान किया है।[2] तन्जूर नामक तिब्बती संग्रह के अन्तर्गत इन्हें कहीं भांगाली कहा गया है। संभवत. इसी आधार पर स्व० शास्त्री जी इन्हे निश्चित रूप से बंगाली मानकर इनका जन्म स्थान 'राढ़ देश' निश्चित करते है।[3] परन्तु राहुल जी का कथन है कि 'भोटिया ग्रंथों में बंगल या भगल या भगल मिलता है जिस नाम से भोटिया लोग विक्रमशील वाले प्रदेश को पुकारते थे और जिसका चिह्न भागलपुर के नाम मे अब भी मौजूद है[4] इनके सम्बन्ध मे लामा तारानाथ का कहना है कि ये पश्चिमी ओडियान के (संभवतः) राजा सामन्त शुभ के यहाँ लिपिक थे और किसी समय महासिद्ध शबरी से भेंट की थी। लुईपा नागार्जुन के शिष्य थे।[5] लुइपाद उड़ीसा के राजा दारिकपा के गुरु भी थे।[6] लुइपाद द्वारा रचित दो चर्यायें (चर्या न० १,२९) 'चर्यागीत कोष' में उपलब्ध है।

विरुपा

विरुपा नाम के कई सिद्ध थे। एक सिद्ध विरुपा का जन्म महाराज देवपाल के देश त्रिउर मे हुआ था। विरुपा के नाम से केवल एक चर्या मिलती है।

गुण्डरीपा

स्व० शास्त्री ने गुण्डरी धामपाद का ही दूसरा नाम माना है। राहुल जी ने इनका जन्म "डिसनगर" देश में कर्मकार के कुल मे माना है[7] इन्हें

---

१ डॉ० सुकुमार सेन : चर्यागीति पदावली, भूमिका, पृ० ७।
२. डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची : कौलज्ञान निर्णय पृ० २५-८।
३. स्व० हर प्रसाद शास्त्री : बौद्धगान ओ दोहा, पृ० २१।
४. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली-पाद टिप्पणी, पृ० १४२।
५. भूपेन्द्र नाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ पृ० ११
६. स्व० हर प्रसाद शास्त्री बौद्धगान पद कर्त्तादेर परिचय, पृ० ३०।
७. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७८-१८६

चाटिलपा का शिष्य भी कहा गया है।[1] गुण्डरीपा के नाम से एक (चर्या ४) तथा धामपा के नाम से एक (च० ४७ चर्या मिलती है।

कुक्कुरीपा :

कुक्कुरीपा के विषय मे तारानाथ का कहना है कि ये किसी ऐसी वज्र-योगिनी के साथ रहते थे जो कुतिया जैसी जान पड़ती थी और इनका जन्म कहीं बंग प्रदेश मे हुआ था जहाँ से ये नालन्दा मे आये थे।[2] कहते हैं कि कुक्कुरीपा बहुत बडे तान्त्रिक थे। कुक्कुरिपा की तीन चर्यायें (चर्या २, २०, ४८ मिलती हैं।

भुसुक या शान्तिदेव :

शान्तिदेव को लामा तारानाथ ने जाति से क्षत्रिय बतलाया है। भुसुक के विषय में यह भी कहा जाता है कि ये किसी राजा के यहाँ घुड़सवार के रूप में रहा करते थे जिसके अनन्तर ये सिद्धोवाली साधना की ओर उन्मुख हुए।[3] स्व० शास्त्री ने इन्हें बंगाली माना है।[4] लामा तारानाथ के अनुसार ये कहीं महाराष्ट्र प्रदेश के निवासी थे।[5] तिब्बती परंपरानुसार लिखी गयी एक पुस्तक में कहा गया है कि "भुसुक" पहले राजकुमार थे जो पीछे नालन्दा विश्व-विद्यालय मे आकर वहाँ के एक धर्माचार्य बन गये।

मागधी हिन्दी (अपभ्रंश) मे लिखी इनकी एक पुस्तक 'सहजगीति' भोटिया भाषा में मिलती है।[6] भुसुक के नाम से चर्या नं० ६, ३०, ४१, ४३, ४६ चर्यायें संग्रहीत की गयी है।

कामरिपा :

इनके संबंध में लामा तारानाथ का कहना है कि यह राजा के पुत्र थे। इनकी जन्मभूमि उदयान अथवा किसी के अनुसार 'ओडिवीश' नामक देश था।

---

१. डॉ० सुकुमार सेन : ओल्ड बेंगाली टेक्स्ट, पृ० ३६।
२. भूपेन्द्रनाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ४७।
३. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : बौद्ध सिद्धो के चर्यापद, पृ० ३५-३६।
४. स्व० हर प्रसाद शास्त्री : बौद्ध गान औ दोहा, पृ० १२।
५. भूपेन्द्रनाथ दत्त मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ३६।
६. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७६।

ये बड़े होने पर साधु हो गये थे। 'चर्यागीति-कोष' में इनके नाम से एक चर्या दी गयी है।

डोम्बिपा :

डोम्बिपा को मगध का राजा होना कहा गया है जिसके मन्त्रियों ने प्रजा से मिलकर उसे राज्य से बाहर कर दिया था जो फिर चमत्कारिक रूप से वहाँ मे लौट आये।[1] राहुल जी ने इन्हें क्षत्रिय वंश में उत्पन्न बताया है। ये हेवज्रतन्त्र के अनुयायी थे।[2] विरुपा ने इन्हे उपदेश दिया था। चर्या नं० १४ डोम्बिपा रचित है।

शान्तिपा :

शान्तिपा मगध मे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। बचपन से ही इन्होंने वेदो और वेदांगों का अध्ययन किया था। कुछ लोग इन्हे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कहते हैं। सिंहल मे लौटकर आने पर राजा महीपाल या उसके संबंधी चाणक्य ने इन्हे विक्रम-शिला के पूर्वी द्वार का आचार्य नियुक्त किया। ये अपने समय के बहुत बड़े पंडित तथा कलिकाल सर्वज्ञ थे। शान्तिपाद के नाम से दो चर्यायें (१५, २६) मिलती हैं।

चाटिल्लपाद :

चाटिल्लपाद के नाम से एक चर्या मिलती है।

महीपा :

सिद्ध महीपा के अनेक नाम भेद मिलते हैं जैसे महिडा, महित्ता, और महिल। इनका जन्म मगध देश के शूद्र कुल मे हुआ था और गृहस्थ होते हुए इन्हें सत्संग की प्रबल चाह थी।[3] सिद्ध महीपा के नाम एक ही चर्या (१६) मिलती है।

मीनपा :

मीनपा का जन्म कामरूप में मछुवे के कुल में हुआ था। एक किम्बदन्ती है कि वे एक बार जाल मे फँसकर मछली के पेट मे चले गये थे। ब्रह्मपुत्र

१. डा० परशुराम चतुर्वेदी . बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, पृ० ४१।

२. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १८१।

३. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १९१।

नदी में बहते-बहते वे उमागिरि पर्वत पर पहुँच गये। वहाँ शिव तन्त्र सम्बन्धी एक वार्ता थी। उसे सुनकर इन्हें गम्भीर रहस्यो का ज्ञान हो गया। बाद में ह्ाली, माली तथा तम्बूली नाम के उनके तीन शिष्य हुए।[1]

वीणापाद :

गौड देश के क्षत्रिय वंश में इनका जन्म हुआ था। ये वीणा बजा-बजाकर अपने पदों को गाया करते थे। शायद इसी से इनका नाम वीणापाद पड़ गया। इनके चर्यापद में भी वीणा का ही रूपक है। वीणापाद रचित एक चर्या (नं० १७) उपलब्ध है।

आर्यदेव :

आर्यदेव को कर्णरीपा से अभिन्न माना जाता है। सस्क्य-सूची के अनुसार इन्हें नालन्दावासी बताया गया है।[2] तारानाथ ने कर्णरीपा तथा आर्यदेव को अलग-अलग माना है। इनके नाम से चर्या न० ३१ दी गयी है।

तान्तिपा :

चर्या संख्या २५ तान्तिपा द्वारा रचित है। इनके जन्म-स्थान के विषय में राहुल जी का मत है कि ये मालव देश के उज्जैन नगर मे पैदा हुए थे तथा जाति के कोरी थे।

शबरपा :

राहुल जी ने शबरपा को सरह का शिष्य माना है और श्री पर्वत को इनका निवास बताया है।[3]

शबरपा की दो चर्यायें (२८, ५०) चर्यागीति-कोष में मिलती है।

भादेपा :

तिब्बती परम्परा मे भादेपा का नाम भद्रचन्द्र या भद्रबोधि के रूपों में मिलता है। लामा तारानाथ ने भादेपा को जालधरि एवं कण्हपा दोनों का ही शिष्य बतलाया है। ये श्रावस्ती (जि० गोंडा) मे चित्रकार कुल मे हुए थे।[4]

---

१. भूपेन्द्र नाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ५६।

२. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४६।

३ राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १७१।

४. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६२।

ढेण्ढणपाद :

राहुल जी ढेण्ढणपा को तान्तिपा से अभिन्न माना है ।[1] इनके नाम से एक चर्या मिलती है। (चर्या० ३३)

दारिकापाद :

दारिकपा प्रारम्भिक जीवन में उड़ीसा के राजा थे। जब लुईपा इनके पास गये तो ये और इनके मंत्री इनके शिष्य हो गये। अपने गुरु के आदेश से कांचीपुरी की किसी वेश्या की बहुत दिन तक सेवा करते रहे। इसी कारण इन्हें दारिकपा कहा गया।[2] चर्या नं० ३४ दारिकपा द्वारा रची गयी है।

ताडकपाद :

राहुल जी ने ताडकपा तथा नारोपा को एक ही माना है।[3] बागची ने इनका नाम ताडकपाद ही दिया है। इनके जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कङ्कणपाद :

ये कोंकण देश के निवासी जान पड़ते है। सस्क्य विहार सूची में विष्णुनगर (मगध) का राजपुत्र बताया गया है।[4] कङ्कणपाद की एक चर्या (४४) चर्यागीति कोष में मुद्रित है।

जयनन्दनीपाद :

ये वज्रयानी सिद्धो की सूची में ५८वें स्थान पर है। मगधवासी ब्राह्मण होने का अनुमान किया जाता है। इनकी एक चर्या (४६) उपलब्ध है।

धामपा :

धामपा विक्रमशिला के ब्राह्मण थे।[5] सुकुमार सेन ने इनको चाटिलपा का शिष्य बताया है। इनके नाम से एक चर्या मिलती है।

---

१. वही, पृ० १९१।

२. भूपेन्द्र नाथ दत्त : मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० १२।

३. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ० १९५।

४. राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ० १९३।

५. वही, पृ० १५१।

शैव मुक्तक कवि और काव्य :

लल्लेश्वरी—काश्मीरी शैव कवियो मे कवियत्री लल्लेश्वरी का सर्वाधिक महत्त्व है। इनकी जीवनगत समस्यायें तथा भाव बहुत कुछ मीरा से मिलते-जुलते हैं। लल्लेश्वरी का जन्म एक परम पवित्र ब्राह्मण कुल मे काश्मीर के पाग्पुर ग्राम में सं० १४०० वि० के लगभग हुआ था। लल्लेश्वरी के बचपन का जीवन चमत्कारपूर्ण था उन्हें प्रेम का आवेश हो आया करता था। वे रह-रहकर किसी दिव्यतम चिन्मय शक्ति के वियोग में तड़प उठती थी। उन्होने अपने जीवन मे किसी प्रकार का आडम्बर नही आने दिया। ससुराल का जीवन उनके लिए असित कष्टप्रद था। सासु ने उनके गृह प्रवेश के बाद ही अनेक यातनायें देना आरम्भ कर दिया पर लल्लेश्वरी ने उनका तनिक भी विरोध नही किया।[1] प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त सैय्यद अली हमदानी से लल्लेश्वरी की भेंट थी ऐसा उल्लेख मिलता है। अतः प्रस्तुत कवियित्री नामदेव, कबीर आदि की समकालीन थीं। गृहस्थी से ऊबकर लल्लेश्वरी ने घर द्वार त्याग कर एक प्रसिद्ध शैव सन्त से दीक्षा ली।

लल्लेश्वरी वाक्यानि

लल्लेश्वरी ने शिव की प्रसन्नता के लिए निष्काम भाव से अनेक गीत गाये हैं। शिव को बाहर खोजना व्यर्थ है। शिव तो शरीर के अन्दर ही उपलब्ध है।[2] शिव, केशव, जिन मात्र नाम भेद है। संसार के रोग से आक्रान्त अबला लल्लेश्वरी इन सब से कल्याण कामना करती है। विशुद्ध बोध के अमृत में पान से स्वस्थ भक्तिन को, निन्दा स्तुति, पूजा, हर्ष, विषाद आदि की कोई परवाह नहीं है।[3] वह अजपा जाप की स्थिति तक पहुँच चुकी है। उसके लिए पुष्पादि द्रव्यो की पूजा अनुपयोगी हो गयी है। वह गुरु के उपदेश से शुद्ध आत्मा से शिव की अर्चना करती है। वह कहती है—

यिह् यिह् कर सुय् अर्चुन
यिह् रस् जि उच्चर्यम् तिय् मन्थ्र् ।
इय् यिथ लग्यम् देहस् परिचय्
सुय् परमशिवुन तन्त्रुर ॥५८॥

---

१. रामलाल : भारत के सन्त-महात्मा, पृ० १६० ।
२. लल्लेश्वरी वाक्यानि, छं० ३, पृ० २ ।
३. वही, छं० ६, ८, २१ ।

जो काम करती हूँ वही पूजा है। जो बोलती हूँ वही मन्त्र है। जो आता है वही योग है। मेरा द्रव्य ही यहाँ तत्त्व है। शिव से सभी तरह के आनन्दो की प्राप्ति होती है। वे माता के रूप में दूध पिलाते है। भार्या के रूप मे विलास की अनुभूति कराते हैं। माया रूप मे जीव को मुग्ध करते हैं। मायावी शिव का ज्ञान गुरु ही करा सकते हैं।[1]

'लल्लेश्वरी वाक्यानि या 'लल्ला वाक्यानि' मे कुल ६० गीत एकत्रित किये गये हैं। इसकी भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है जिसमे संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा है किन्तु विभक्तियो को छोड़कर सीधे प्रयोग की प्रवृत्ति प्रधान है।

शितिकंठाचार्य

'महानय प्रकाश' के रचयिता शितकंठाचार्य का काल १५वी शताब्दी है[2] जब अपभ्रंश भाषा काश्मीरी का रूप ग्रहण कर रही थी। महानय प्रकाश के एक छन्द में शितिकण्ठ का नाम आया है जो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जोड़ा गया है—

> पावेत इहु कमु पभुस पसाद
> शितिकण्ठस गत जम्मु किताथु।
> तेन मि महजन ललित प्रसादे
> तेसारावेमहनयपरमाथु ॥१॥[3]

इस छन्द से कवि के जीवन चरित पर कोई प्रकाश नहीं पडता।

महानय प्रकाश

'महानय प्रकाश' मे लगभग ६४ अपभ्रंश छन्द है जो १४ उदयो मे विभक्त किये गये है। यह एक दार्शनिक कृति है जिसमे शैव दर्शन के त्रिक् सम्प्रदाय का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि रचना, गुरु, महिमा आदि का बडा गूढ़ विवेचन हे। ग्रंथ पर्याप्त नीरस है। काव्य की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस कृति से काश्मीरी अपभ्रंश

---

१. वही, पद ५४।

२. डा० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० १८७।

३. महानय प्रकाश, पृ० १३७।

के बदलते रूप तथा आगे चलकर हिन्दी मे संस्कृत तत्सम शब्दों के आगमन की प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

परात्रिंशिका

अभिनव गुप्त रचित 'परात्रिंशिका' मे कुछ अपभ्रंश पद मिलते हैं। ये पद्य दार्शनिकता से इतने बोझिल हैं कि इनका अर्थ निकाल पाना भी कठिन है। नीचे एक पद दिया जा रहा है जिसमे देवी की प्रार्थना की गयी है—

पफलिउ फुरइ फुरण
अवि आरिणा होइ परावर
अवर विइहण
देवि विसरिम ऊ उ।[1]

'परात्रिंशिका' का रचनाकाल बहुत कुछ निश्चित है। अन्तः साक्ष्य के आधार पर वे काश्मीर मे दसवी शताब्दी के अन्त और ग्यारवी शताब्दी के प्रारंभ मे. वर्तमान थे।[2]

विशुद्ध लौकिक कवि और काव्य

अद्दहमाण

अद्दहमाण एकमात्र मुस्लिम कवि है जिन्होने अपभ्रंश मुक्तक काव्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अपनी प्रबन्धात्मक मुक्तक रचना 'सन्देश-रासक' (सनेहरासयं) मे कवि ने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में अल्प निर्देश किया है। कवि का जन्म-स्थान पश्चिम मे स्थित म्लेच्छ देश है। उसके पिता का नाम मीरसेण था जो तन्तुवाय थे। कवि को प्राकृत काव्य तथा गीत काव्य का अच्छा ज्ञान था।[3] म्लेच्छ देश को मनुस्मृति मे यज्ञीय देश के परे कहा गया है। किन्तु इससे म्लेच्छ देश की ठीक स्थिति का ज्ञान नही होता। 'जो हो यह अनुमान किया जा सकता है 'मिच्छ' या म्लेच्छ देश से अद्दहमाण का आशय आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान या उसी के आसपास कोई प्रदेश रहा होगा। 'सदेशरासक' मे आए हुए सभी नगर उसी प्रदेश मे पड़ते है।[4]

---

१. सपा० मुकुन्दराम शास्त्री : परात्रिंशिका, पृ०, ६५।

२. परात्रिंशिका, भूमिका, पृ० १४।

३. सदेशरासक, संपा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी प्रथम प्रक्रम, छन्द ३-४।

४. वही. पृ० ७७।

'संदेशरासक' की भाषा तथा उसके द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर श्री मुनि जिन विजय अद्दहमाण को मुहम्मद गोरी के आक्रमण से किंचित पूर्व ईसा की १२वीं शताब्दी का कवि मानते हैं।[1] 'संदेशरासक' में मुलतान को पश्चिमोत्तर भारत का प्रमुख तीर्थ कहा गया है। वास्तव में मुलतान की प्रसिद्धि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के पूर्व अधिक थी। एक बार नष्ट होने पर यह नगर फिर से पूर्व ख्याति नहीं प्राप्त कर सका। विजयनगर तथा खंभात की समृद्धि चित्रण से पता चलता है कि कवि चालुक्यवंशी शासक सिद्धराज और कुमारपाल के शासनकाल के आस-पास हुआ था क्योंकि ये नगर इन राजाओं के काल में अधिक वैभवशाली थे। इन तथ्यों के आधार पर जिन विजय जी ने निष्कर्ष निकाला है कि 'संदेशरासक' मुहम्मद गोरी के आक्रमण (११९२ ई०) के पूर्व अथवा कुमारपाल की मृत्यु के पूर्व कभी लिखा गया होगा।[2] राहुल सांकृत्यायन ने अद्दहमाण को ११वीं शताब्दी का कवि माना है।[3] अगरचन्द नाहटा अद्दहमाण को १५वीं शताब्दी के आसपास मानते हैं।

संदेशरासक

कवि ने 'संदेशरासक' को तीन प्रक्रमों में विभाजित किया है। प्रथम प्रक्रम में वह अपना परिचय प्रस्तुत करता है तथा काव्य-रचना की आवश्यकता तथा औचित्य पर प्रकाश डालता है। उसका तर्क है कि पंडितजन का कुकविता से संबंध नहीं रहता और अबुधजनों का अबुधत्व के कारण कविता में प्रवेश ही नहीं होता। इसलिए जो न मूर्ख हैं और न पण्डित बल्कि मध्यम कोटि के हैं उनके सामने उसकी रचना पढ़ी जाय। यह 'संदेशरासक' अनुरागियों का रतिगृह, कामियों का मन हरनेवाला मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करनेवाला, विरहिणियों के लिए मकरध्वज और रसिकों के लिए विशुद्ध रस संजीवक है।[4] दूसरे प्रक्रम में विजयनगर की कोई कृशांगी श्रेष्ठ रमणी आँसू पोंछती, अंग मोड़ती तेजी से किसी पथिक की ओर जाती हुई दिखाई देती है। विरहिणी

---

१. सं० हरिवल्लभ भायाणी, मुनि जिन विजय : संदेशरासक, प्रिफेस, पृ० १२।

२. सं० मुनि जिनविजय : संदेशरासक प्रि०, पृ० १२।

३. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, पृ० १९२।

४. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक—भूमिका, पृ० १०४।

नायिका का सौन्दर्य चित्रण, प्रियतम की निर्दयता का चित्रण, स्तंभतीर्थ का वर्णन इसी प्रक्रम में हुआ है। तृतीय प्रक्रम मे षड्ऋतुओ का प्रभावात्मक वर्णन किया गया है।

'सदेशरासक' मे एक विरहिणी नायिका के अनेक भावो को एक हल्के कथा सूत्र से बाधा गया है। कृति मे वियोग श्रृंगार प्रमुख है। कवि ने परम्परित तथा मौलिक उपमानों से काव्य को मधुर तथा सुष्ठ बनाया है। 'संदेशरासक' की भाषा हेमचन्द्र के बाद की अपभ्रश है जिसमे ग्राम्य तत्वों की अधिकता है किन्तु कही-कही संस्कृत तत्सम शब्दावली का भी अपभ्रंशीकरण हुआ है।

स्फुट तथा उद्धृत मुक्तक काव्य

अपभ्रंश के अधिकांश विशुद्ध मुक्तक व्याकरण तथा छंद के शास्त्रीय ग्रंथों मे उद्धृत मिलते हैं तथा कुछ मुक्तक गद्यांशो के बीच मे स्फुट रूप से पाये जाते हैं।

१—प्राकृत लक्षण :

व्याकरण ग्रन्थों मे अपभ्रंश का सर्वप्रथम उल्लेख प्राकृत लक्षण में हुआ है। इसके लेखक चड हैं। चंड ने दो अपभ्रंश दोहों को उद्धृत करते हुए योगी को आत्मा को जानने का उपदेश दिया है। चंड का समय ईसवी छठीं शताब्दी माना जाता है।[1]

२—ध्वन्यालोक :

ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने एक अपभ्रंश दोहा उद्धृत किया है। इसमे मनुष्य को उपदेश देते हुए कहा गया है कि अपना समझने वाले मनुष्य को काल वंजित करता है लेकिन तो भी वह जनार्दन का ध्यान नही करता है।[2]

३—स्वयंभू छंद :

'स्वयंभू-छंद' के लेखक प्रसिद्ध जैन कवि "पउम चरिउ" के रचयिता स्वयंभू हैं। स्वयंभू का समय ८००-९०० ई० के बीच माना जाता है।

स्वयंभू छंद में प्राकृत तथा अपभ्रंश के बहुत से पद उद्धृत हैं। इनमें कतिपय मुक्तक राम रावण कथा के किसी अंश को चमत्कृत करते हैं।

---

१. ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश : भूमिका, पृ० ६६।

२. आनन्द वर्धन : ध्वन्यालोक, पृ० ४५।

इसमें महाभारत के कथा-प्रसगो से संबंधित मुक्तक भी पाये जाते है।

अपभ्रंश मुक्तक साहित्य में कृष्ण और राधा के सदर्भ कम उपलब्ध होते हैं। किन्तु 'स्वयंभू-छंद मे उद्धृत कृष्ण और राधा संबंधी मुक्तक निश्चय ही काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि के है। कृष्ण यद्यपि सभी गोपियों को सादर सुष्ठ निगाहो से देखते हैं किन्तु राधा पर जहाँ कहीं भी दृष्टि पड़ती है (पर उसमे कुछ और ही मर्म है) स्नेह में प्रलिप्त दग्ध नेत्रों को उधर प्रवृत्त होने से कौन रोक सकता है :—

> सव्व गोविउ जइ वि जोएइ। हरि सुट्ठु वि आअरेण
> देइ दिट्ठि जहि कहि वि राही (राधा)
> को सक्कइ संवरेवि। डड्ढअण णेहें पलोट्टु। ॥[१]

इसमें शृंगार से सम्बद्ध चमत्कारी उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं। किसी नायिका के स्तनो के ऊपर सरुधिर नखक्षत ऐसा लगता है मानो मदन के घोड़े के वेगपूर्वक दौड़ने के कारण उसके पदाघात (खुरो) से घाव हो गया :—

> कह वि सरुहिरइं। दिट्ठइं णह व (र) वइं।
> थण सिहरोवरि सुपउत्ताइं। वेगो वलगाहो।
> मयण तुरंग हो। णं पइ छुडुछुडु दुक्खत्ताइं॥[२]

पुरातन प्रबंध संग्रह :

इसमे अनेक प्रबंधो (लघुरूप) का संग्रह है। इन प्रबन्धो के बीच कुछ अपभ्रंश पद्य उद्धृत मिलते है। नगर वर्णन, यशवर्णन, पुत्र होने का आशीर्वाद, युद्ध वर्णन आदि इन मुक्तको के कथ्य हैं। जयचन्द्र जब दु:सह प्रस्थान करता है तो पृथ्वी धँस जाती है। रास्ते में पडने वाले राजा भाग जाते है। शेष नाग शंका से अपनी मणि छोड देता है। घोड़ों के खुर से वह हत हो जाता है। धूल-चारों ओर फैल कर यश के साथ कवियों तक पहुँचती है :—

> जइतचन्दु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ।
> धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भंगणओं।
> सेसु मणिहि संकियउ मुक्कु हयखरि सिरि खंडिओ।

१. स्वयंभू-छन्द, १०. २, पृ० ५६।
२. स्वयंभू छंद १२, ३; पृ० ५८।

तउओ सो हर घवलु धूलि जसु चिय तणि मंडिओ।
उच्छलीउ रेणु जसग्गि गय सुकवि ॥[1]

प्रबन्ध-चिन्तामणि :

'प्रबन्ध-चितामणि' की रचना मेरुतुङ्गाचार्य ने संवत् १३६१ मे की थी।[2] इन्होने मूलराज, विक्रम, मुंज आदि राजाओ से संबंधित अनेक मुक्तक उद्धृत किये हैं। इन मुक्तकों मे मुंज सम्बन्धी मुक्तक अत्यधिक हृदयद्रावक है। कहा जाता है कि मुंज तैलंग देश के राजा की बहन मृणालवती से प्रेम करते थे। मृणालवती ने मुंज को धोखा दे दिया। तैलंगाधिपति ने मुंज को बन्दी बनाकर अनेक तरह से ताड़ना दी। मुंज स्त्री जाति पर कभी भी विश्वास न करने की सलाह देते हैं :—

सउ चित्तइ सट्ठी मणहं (?) बत्तीसडाहियांइ।
अम्मी तेनर डड्ढसी जे वीससइं तियांह ॥

(वे नर मूर्ख हैं जो स्त्री पर विश्वास रखते है[3] क्योकि स्त्रियो के चित्त मे सौ मन मे साठ और हृदय मे बत्तीस आदमी बसते है।) रस्सी से बाँधकर घुमाये जाते हुए मुंज को अत्यधिक आत्मग्लानि होती है। वह अपने मन में सोचता है कि बंदर के समान डोरी मे बाँधकर घुमाये जाने से अच्छा था कि मुंज बचपन मे झोली के टूट जाने से मर क्यो नहीं गया या आग मे जलकर राख क्यो न हो गया :—

झोली तुट्टवि किं न मुउ किं हुउ छारह पुंजु।
हिंडइ दोरी दोरियउ जिम मंकडु तिम मुंजु ॥

अन्य दोहो मे भाग्य का परिवर्तन, लक्ष्मी की चपलता आदि पर प्रकाश डाला गया है।

प्रबन्ध-कोश

राजशेखर सूरि रचित 'प्रबन्ध कोश' (विक्रम संवत् १४०५) मे सुभाषित, उपदेशात्मक तथा शृंगारिक अनेक तरह के अपभ्रंश पद्य मिलते है।

---

१. पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ० १२०।

२. डॉ० रामसिंह तोमर . प्राकृत अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव, पृ० १६६।

३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० २३।

कुमार पाल को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि मन में किसी तरह की चिन्ता मत करो जो तुम्हारी (भव) रज्जु समाप्त कर दे उसी की चिन्ता करो :—

कुमारवाल मन चिंत चिंतिह किंपि न होइ ।
जिणि तुह रज्जु सम्माप्पिउ चिंत करेसइ सोइ ॥[1]

कहीं-कहीं ऊहात्मक वियोग का भी वर्णन मिलता है। मुग्धा के आँसुओं को रोकने के लिए दोनो हाथो को पीछे किए हुए पथिक पुलिंद पशु की तरह जल पी रहा है :—

पसु जेम पुलिंदउ पउ पियइ पंथिउ कवणिण कारणिण ।
करवेवि करंपिअ कज्जलिण मुद्धह अंसु निवारणिण ॥[2]

'प्रबन्ध-कोश' में अधिकतर दोहा छन्द प्रयुक्त है किन्तु सोरठा के भी प्रयोग मिलते हैं।

प्राकृतानुशासन :

ऐहिक मुक्तक काव्य के अध्ययन मे हेमचन्द्र रचित 'प्राकृतानुशासन' का विशेष महत्त्व है। इसमे शृंगारिक, नीतिपूर्ण, सुभाषित, भक्तिपरक, वीर-रसात्मक करीब १७६ पद्य उद्धृत है। शृगाररस के जितने पक्ष हो सकते है वे सभी इसमे मौजूद है। नायिकाओं का सौन्दर्य चित्रण, परकीया का विलास, नायक और नायिका के बीच सखी और दूती की भूमिका, सकेतस्थल, प्रिय-दर्शन से उत्पन्न सुख की अनुपम अनुभूति, मान प्रसग, सभोग, प्रवास आदि का उत्कृष्ट वर्णन है।

नायक और नायिका युद्ध में भी सहयोगी है अतः कुछ मुक्तको मे वीररस का भी अच्छा परिपाक है।

छन्दोऽनुशासन :

'छन्दोऽनुशासन' में लगभग ढाई सौ उद्धृत (स्वरचित) मुक्तक है। जैसी वचन विदग्धता उनके व्याकरण मे संग्रहीत अपभ्रंश पद्यों मे मिलती है वैसी 'छंदोऽनुशासन' के अपभ्रंश पद्यों मे नही। मुक्तकों के विषय अधिकतर शृङ्गारिक हैं। कुछ मुक्तक प्रकृति का मादक तथा प्रभावकारी चित्रण प्रस्तुत

१. प्रबन्ध कोश, पृ० ५१।
२. वही, पृ० ५२।

करते हैं। प्रकृति में गर्जनशील घन ही मर्दल के समान बजते है। नभतल में चंचल बिजली नृत्य करती है। मयूर गाते है। इस मनोहर संगीत नृत्य से पावस लक्ष्मी युवकों के मन को आकुल कर देती है।[1] बादल की गरज पर प्रवासित नायक को आश्चर्य होता है।

हेमचन्द्र का समय :

लौकिक मुक्तकों के उद्धरणकर्त्ता तथा रचयिता हेमचन्द्र का जन्म सं० ११४५ वि० मे गुजरात के धन्धूका ग्राम मे हुआ था। उनका बचपन का नाम चगदेव था। दीक्षा के बाद उनका नाम सोमचन्द्र पड़ा। सं० ११९६ मे गुरु की गद्दी पर बैठने के पश्चात् सूरि आचार्य की उपाधि धारण की और जैन साधकों की प्रथा के अनुसार उनका नाम हेमचन्द्र रखा गया। उनके पहले आश्रयदाता चौलुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज (११५०-११९९) थे। वह शैवमत के अनुयायी थे। जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् कुमारपाल गुजरात के राजा हुए। हेमचंद्र का देहावसान सं० १२२९ वि० में हुआ।

सरस्वती-कंठाभरण :

'सरस्वती-कठाभरण' के रचयिता भोज ने अपनी इस पुस्तक में करीब १८ अपभ्रंश छन्दो को उद्धृत किया है। ये छन्द शृङ्गार तथा ऋतु-वर्णन से संबंधित हैं। भाषा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसमे प्राकृत की तुलना मे अधिक अन्तर नही है।

शृंगार-प्रकाश :

'शृंगार-प्रकाश' मे भी कुछ अपभ्रंश उदाहरण दिये गये है जो शृगारिक हैं। कुछ छन्द ऐसे हैं जो सरस्वती कंठाभरण तथा शृङ्गार-प्रकाश दोनों मे पाये जाते हैं :—

अण्णोण्णेहिं सुचरिअ सअहिं अणुदिण
अप्पणांवि णहु महुपि वड्ढिअ माणु।
× × ×
अह अप्पाणेण समाणु ॥[2]

---

१. छन्दोऽनुशासन ४३. १, पृ० २२२।

२. जी० आर० जोसिर : शृङ्गार-प्रकाश. पृ० ३७५।

भोज का समय :

डा० भांडारकर का विचार है कि भोज दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए थे। पी० वी० काणे ने भी इस समय का समर्थन किया है।[1]

प्राकृत-पैंगलम् :

परवर्ती अपभ्रंश के मुक्तक 'प्राकृत-पैंगलम्' मे उपलब्ध होते है। 'प्राकृत-पैंगलम्' के संग्रहकर्त्ता के विषय में निश्चित नहीं है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लक्ष्मीधर को इसका संग्राहक मानते है।[2] डॉ० भोलाशंकर व्यास किसी मागध (चारण या भाट) को इसका संग्राहक मानते है।[3] 'प्राकृत-पैंगलम्' मे हम्मीर, सुलतान खोरासान और उल्ला साही तथा तुल्क आदि राजाओं तथा शब्दों का उल्लेख है। प्रस्तुत कृति पर अनेक संस्कृत टीकाएँ मिलती है जो सोलहवीं शती के पीछे की है। अनेक विवरणो पर विचार करते हुए डॉ० व्यास ने 'प्राकृत-पैंगलम्' की उपरितम सीमा हम्मीर (१३०१) ई० तथा निम्नतम सीमा दामोदर (१४००) ई० मानी है। इस समय सीमा को और कम करने पर हम कह सकते है कि 'प्राकृत--पैलगम्' का संग्रहकाल हरि सिंह-देव तथा ब्रह्मदेव के समय से कुछ ही पुराना है तथा यह चौदहवी शती का प्रथम चरण मजे से माना जा सकता है।[4] 'प्राकृत-पैंगलम्' मे उदाहरण-स्वरूप प्रयुक्त मुक्तको में ऋतु-चित्रण, यश-वर्णन तथा कहीं-कहीं सामान्य जन की आकांक्षाओ को व्यक्त किया गया है। शिव तथा कृष्ण से संबंधित स्तुति-परक पद्य भी हैं।

●

१. वी० वी० काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ३२५-३२६।
२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ६।
३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत-पैंगलम् (भाग २), पृ० २५।
४. वही, पृ० २०।

रहित केवल ज्ञानी अरहृत के द्वारा कहा गया है।[1] दर्शन व्रत त्याग, ब्रह्मचर्य, आरभ, त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग आदि ग्यारह प्रकार के श्रावक धर्म के पालन की सलाह दी गयी है। किन्तु ये ग्यारह स्थान सम्यकत्व रहित जीव के लिए अप्राप्त है। सम्यकत्व के लिए तो शंकादि आठ दोष, आठ मद और तीन मूढ़ता का परित्याग करना चाहिए। मद्य, मास तथा मधु का परिहार करना चाहिए। कवि, मद्यपान वेश्यावृत्ति तथा परस्त्री गमन की निन्दा करता है। धार्मिक जीवन मे दान का महत्त्व पात्र, अपात्र के विवेक पर निर्भर है अपात्र को दिया हुआ दान ऊसर जमीन की खेती की तरह निष्फल होता है।[2] स्पर्शेन्द्रिय का लालन न करना, जिह्वेन्द्रिय का सवरण करना, घ्राणेन्द्रिय को वश मे करना, नेत्रेन्द्रिय को रूप से विरक्त करना, कर्णेन्द्रिय को मनमोहक गीत से निरभिलषित करना आदि सच्चे साधक के कर्त्तव्य हैं।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन दोनो में गुरु का विशेष महत्त्व माना गया है। सुगुरु, कुगुरु की सही पहचान भी आवश्यक है। सुगुरु, कुगुरु यद्यपि बाहर से समान दिखाई देते है किन्तु कुगुरु के अन्तर मे व्याधि भरी रहती है। जैन कवि जिन वल्लभ का वर्णन बडे ही पक्षपातपूर्ण ढंग से करते हैं। उन्हे व्याकरण, शुभ लक्षण, शब्द-अशब्द, यति, छन्द, गुरु, लघु आदि का ज्ञान तो है ही साथ ही अपूर्व नवरसयुक्त काव्य रचना की शक्ति भी है। जिन वल्लभ के आगे लोक कवि कालिदास, माघ, वाक्पति आदि कवि कीर्ति नही पाते। कवियों का चैत्यगृह वर्णन जैनधर्म के आचारानुकूल है। चैत्य-गृह मे रात्रि मे रथभ्रमण निषिद्ध है। वहाँ श्रावक जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा नही करते। श्रावक ताम्बूल भक्षण नहीं करते न जूता पहनते हैं। हास, क्रीडा, होडा, रोष कीर्ति निमित्त धनदान निषिद्ध है। 'सयम-मजरी' में संयम के महत्त्व को प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि संयम मोक्ष का द्वार है, जो व्यक्ति संयम का पालन नहीं करता उसके लिए संसार दुस्तर है।[3]

हिन्दी मुक्तकों पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य का भक्ति काव्य कुछ हद तक धार्मिक काव्य भी कहा जा सकता है किन्तु उसमें मात्र आचारपरक धार्मिकता नही है। आचारपरक नैतिक

१. देवसेन : सावयधम्म दोहा, दोहा नं० ४, ५ पृ० १।
२. वही, पृ० ४, ५, दोहा ४५, ५०, ५१, ८३।
३. महेश्वरसूरि : संयम मंजरी, दोहा नं० ७।

भाव ईश्वर और भक्त के संबंधो को प्रगाढ़ बनाने के निमित्त मात्र होते है। भक्त कवियो की आचारपरकता लोक मान्यता पर आधारित है किन्तु हिन्दी मुक्तक-काव्य-परम्परा मे कुछ जैन कवियो का एक ऐसा वर्ग है जो इस परम्परा से विशेष रूप से प्रभावित है। बनारसीदास, भगवतीदास, रूपचन्द्र, ब्रह्मदीप, आनन्दघन, यशोविजय आदि इसी वर्ग के कवि है। तुलसी और सूर मे आचारपरकता का पूरा-पूरा समर्थन मिलता है। तुलसीदास अपने मुक्तकों में मानवीय विकारों पाखण्ड काम, मोह, भ्रम, निन्दा आदि के निराकरण पर विशेष ज़ोर देते है। उन्होने गुरु-सेवा, बडो का आदर, भ्रातृ-स्नेह आदि से लोकधर्म की प्रतिष्ठा की है। तुलसी यद्यपि समन्वयवादी थे किन्तु ब्राह्मण धर्म के प्रति उनकी अधिक निष्ठा थी। तुलसी ने बार-बार नारियो से बचने का उपदेश दिया है जो जैन-परम्परा का प्रभाव जान पड़ता है। जैन-मुक्तक-काव्य मे आगमो से लेकर क्रान्तिकारी कवि जोइन्दु, रामसिंह तक स्त्री-निन्दा के जितने विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन मिलते हैं उतना अन्यत्र दुर्लभ है। यह परम्परा भक्ति काल के सभी भक्त कवियो में परिलक्षित होती है। सूरदास ने गुरु के साथ सत्संग तथा सदाचार की आवश्यकता बताई है। परीक्षित को भक्ति का उपदेश देते हुए शुकदेव, साधु सगति करने, पुराणादि सुनने, इन्द्रियों का निग्रह करने, काम, क्रोध, लोभ, मोह, त्यागने तथा नारी से बचने का उपदेश देते हैं।[1] मनुष्य के लिए कटुवचन, परनिन्दा, कुसंग, धन का सचय, गुरु ब्राह्मण, सन्त-सुजन का संग न करना, भगवद्भजन न करना, पर-पीडन करना, कुटुम्ब के साथ डूबने के कारण है।[2]

सिद्धो की साधना अधिक अनुभूतिपरक, गूढ़ तथा अद्वैतवादी है। उनकी प्रत्येक रचना कुछ न कुछ रहस्यमय है। इसलिए उनके द्वारा रचित समस्त मुक्तकों को रहस्यवाद के अन्तर्गत सम्मिलित करके विवेचित किया गया है। धार्मिक मुक्तकों की सीमा का निर्धारण करते समय पहले ही इनमे आचारपरकता तथा नैतिकता का जिक्र किया जा चुका है। फिर इन सिद्धों की साम्प्रदायिक स्थिति बहुत स्पष्ट है जो कि उन्हें बौद्ध धर्म से सहज ही जोड़ देती है। जिस तरह जैनी अरहत, कैवली या जिन को अधिक महत्त्व देते है और वैष्णव राम तथा कृष्ण को उसी तरह सिद्ध भी जहाँ परमात्मा का नामकरण

---

१. व्रजेश्वर वर्मा,: सूरदास, पृ० १६७।

२ सूरसागर-पद ३८८।

करते हैं वहाँ वे बुद्ध का नाम लेते हैं।[1] सिद्धो के काव्य में विवेचित शून्य, करुणा, आदि बौद्ध धर्म से प्रभावित है। सिद्धो ने 'शून्यता' के भौतिक प्रतीक के रूप में वज्र को ग्रहण किया। वज्रयान का अर्थ है सब बुद्धों का ज्ञान। बौद्ध धर्म आगे चलकर महायान तथा हीनयान शाखाओं में विभक्त हो गया।' वज्रयानियो ने मंत्र, मुद्रा, मडल, देवताओं को सिद्धि या निर्वाण में सहायक मानना आदि अनेक बाते महायान से ग्रहण की।[2]

सिद्धों ने बाह्याडम्बरों से मुक्त आन्तरिक शुचिता प्रधान सहज धर्म चलाया। इस सहज का भी सिद्धो ने विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। आगे चलकर सन्त-कवियो में इस धर्म को मान्यता मिली जिसमें वाह्य क्रिया विधानो, पूजा-पाठ आदि का निषेध था।

काश्मीरी अपभ्रंश मे लिखित शैव-धर्म संबधी तीन रचनाये प्राप्त हुई है जिनमे से महानयप्रकाश परात्रिशिका दोनो बिलकुल दार्शनिक है। तीसरी रचना 'लल्लेश्वरी वाक्यानि' अधिक काव्यात्मक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसमे व्यक्त भावधारा बहुत कुछ सन्त कवियो के समान ही है जैसे शिव को शरीर के अन्दर मानना, निन्दा, स्तुति, पूजा, हर्ष आदि की कोई परवाह न करना, अजपा जाप आदि। शिव के साथ सभी सम्बन्धों की परिकल्पना सन्त कवियो मे विशेष रूप से विकसित हुई। 'महानय प्रकाश मे सृष्टि की रचना के संदर्भ मे नाद-बिन्दु आदि का उल्लेख मिलता है। सन्त कवियों मे जो नाद-बिंदु आदि का उल्लेख मिलता है वह सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय से ग्रहीत जान पड़ता है किन्तु शैव धर्म का ही यह प्रमुख तत्व है।

रहस्यवादी प्रवृत्ति :

रहस्य का अर्थ है गुह्य या अज्ञेय। स्थूल रूप से अज्ञात या छिपे हुए गूढ़ तत्त्व को जानने की अभिलाषा, उपाय आदि रहस्यवाद के अन्तर्गत आते है। सृष्टि के आदिमकाल से मानव के समक्ष प्रकृति के विविध रूप पहेली या रहस्य रूप में उपस्थित होते रहे। वह उन्हे जानने के लिए बौद्धिक, हार्दिक प्रयत्न करता रहा। सभ्यता तथा संस्कृति के सतत् विकास के साथ अनेक अज्ञात चीजे ज्ञात होती गयी। किन्तु वह परम शक्ति तथा उसकी विचित्र रचना अन्तिम रूप से अब भी नही जानी जा सकी। उसी परमात्म शक्ति का

---

१. पंडिअ सअल सत्थ वखाणहिं. देहहिं बुद्ध बसन्त ण जाणहिं।

२. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य. पृ०-१७२।

साक्षात्कार किंवा उसके साथ अभेद स्थापना का प्रयास ही रहस्यवाद का जन्मदाता है। संसार के सभी देशों तथा धर्मों में रहस्यवाद के तत्त्व किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। विद्वानों ने इसे धर्म की ही प्रगाढ़ अनुभूति मानी है। 'रहस्य-वाद आत्मा और परमात्मा की एकता की सद्यः अनुभूति है, इसके अलावा यह कुछ भी नहीं केवल धर्म की आधारभूत भावना है,[१] प्रिंगिल पेटीशन ने रहस्य-वाद की प्रतीति मानव मस्तिष्क द्वारा सत्य के ग्रहण करने के प्रयास में मानी है।[२] डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार 'जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक-शक्ति से अपना शान्त और निश्छल संबंध जोड़ना चाहती है और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनो में कोई अन्तर नही रह जाता।[3]

कायर्ड के अनुसार रहस्यवाद मस्तिष्क या मन की वह अवस्था है जिसमें आत्मा और ईश्वर के संबंध के अलावा सब कुछ विलीन हो जाता है।[४] प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रांड रसेल ने रहस्यवाद के चार आधार निश्चित किये—

(१) ज्ञान की उस शाखा में विश्वास करना जो ऐन्द्रिय ज्ञान तर्क से भिन्न स्वयंसंवेद्य है।

(२) पाप-पुण्य दोनों का निषेध करके आत्मा और परमात्मा की एकता में विश्वास।

(३) समय तथा काल की सीमा की अस्वीकृति।

(४) संसार को माया, भ्रम तथा दिखावा मात्र मानना।[५]

एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि रहस्यवाद न अनुभव है, न प्रवचन, न मन की कोई क्रिया, न कोई कर्मकाण्ड। हमारी कोई भी इन्द्रिय कोई भी शक्ति इस रहस्यवाद की प्राप्ति में हमारी सहायता नहीं कर सकती। जब मन एकान्ततः निष्क्रिय हो जाता है तो उसे एक परम ज्योति का साक्षात्कार होता है।[६]

---

१. डीन इन्ग : मिस्टिसिज्म इन रिलिजन, पृ० २५।

२. वही, पृ० २५।

३. डॉ० रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६।

४. डीन इन्ग : मिस्टिसिज्म इन रिलिजन पृ० २५।,

५. बर्ट्रान्ड रसेल : मिस्टिसिज्म एन्ड लाजिक, पृ० १६-१७

६. रामरतन भटनागर : रहस्यवाद, पृ० ६।

आलोच्यकाल के रहस्यवादी साधकों का संबंध किसी न किसी रूप से समाज तथा धार्मिक सम्प्रदायों से जुड़ा था। यदि किसी धर्म के वे विरोधी थे तो किसी के समर्थक। अतः उनमे खंडन-मंडन की भी प्रवृत्ति आ गयी। उन्होने अनुभूति से अलग बाह्याचारो का विरोध किया क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार कोई अन्य शक्ति हमें इस एकात्मक अनुभूति मे सहायता नही देती। इसलिए प्रस्तुत अध्याय मे रहस्यवादी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा, माया, सृष्टि, गुरु-महिमा आदि के साथ पुण्य-पाप, पुस्तकीय ज्ञान, मन, इन्द्रिय वशीकरण आदि के ऊपर व्यक्त विचारों को भी उद्घाटित किया गया है। रहस्यवाद का संबंध काव्य से जुड़ा हुआ है। दर्शन में जहाँ बुद्धि तथा तर्क की शुष्क प्रणाली के माध्यम से आत्मा-परमात्मा की एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है वहाँ काव्य में भावना का प्रमुख स्थान रहता है। रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि दर्शन का जो अद्वैतवाद है काव्य मे वही रहस्यवाद है। जयशंकर प्रसाद ने भी काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा को रहस्यवाद माना।[1]

रहस्यवाद पर योगधारा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। उपनिषद् के आत्मज्ञो मे हम आर्य काल से चली आती हुई योगधारा का भी प्रभाव पाते हैं।[2] सिद्ध नाथ तथा संत साहित्य साधनात्मक स्तर पर योग से इतना अधिक प्रभावित है कि योगपरक प्रवृत्तियों को अलग से विवेचित करने की आवश्यकता महसूस की गई।

आत्मा :

संसार के समस्त दर्शनों और संप्रदायो के साधकों द्वारा आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए पर्याप्त चिन्तना की गयी है। अनेक निष्कर्ष भी निकाले गये अतः उनके विविध मत तथा सिद्धान्त बन गये। वेदान्त, न्याय और मीमासा मे आत्मा को सर्वव्यापी स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन जीव को जड मानता है। बौद्ध विचारकों ने आत्मा को शून्य माना है।[3] उपनिषदो में उसकी व्याख्या अणु से अणुतर तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप मे की गयी। जैन कवि जोइन्दु के अनुसार आत्मा नित्य ज्ञानमय तथा निरामय है। किन्तु

१. जयशंकर प्रसाद : काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० २०।
२. रामतरन भटनागर : रहस्यवाद, पृ० ७।
३ वासुदेव सिंह ' अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद पृ० १४७।

भ्रम के कारण उसने अपने स्वरूप को भुला दिया है। देह के सुख-दुख को आत्मा का सुख-दुख कल्पित कर लिया जाता है। शरीर के जन्म, जरा, मरण को आत्मा का जन्म, जरा, मरण, मान लिया जाता है। आत्मा न तो ब्राह्मण है, न वैश्य, न क्षत्रिय है न और कुछ। आत्मा न तो पुरुष है, न नपुंसक, ज्ञानी इसे अच्छी तरह से जानता है। आत्मा का कोई चिह्न नहीं है। आत्मा न तो पंडित है, न मूर्ख, न ईश्वर है। तरुण, बाल, कुछ भी नहीं।[1]

मुनि रामसिंह कहते हैं कि आत्मा वर्णहीन, आकारहीन, अवस्थाहीन, नित्य, ज्ञानमय तथा भावों से सम्भाव्य है। वह सन्त, निरंजन एवं शिव है इसलिए उसमें अनुराग करो—

वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
सन्तु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणराउ।[2]

यद्यपि आत्मा का निवास शरीर के अन्दर ही है किन्तु वह शरीर से पूर्णतया भिन्न है। इसलिए शरीरजन्य सुख-दुख को आत्मा पर आरोपित नहीं करना चाहिए। ज्ञान के विस्फुरित होने पर साधक के मन में देह की तुच्छता तथा व्यर्थता का भाव दृढ़ तथा स्पष्ट हो जाता है। शरीर की सजावट, उबटन, तेल, सुमिष्ट आहार आदि उसे दुर्जन के प्रति किये गये उपकार की तरह निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं :—

उब्बलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिण दुज्जण उवयार॥[3]

महयंदिण मुनि ने आत्मा को कल मल रहित तथा अशरीरी माना है, गोरा, काला, दुर्बल आदि तो इस शरीर के गुण हैं :—

गोरउ कालउ दुब्बलउ बलियउ एउ सरीरु।
अप्पा पुणु कलि मल रहिउ, गुणवंतउ, असरीरु।[4]

आणंदा ने आत्मा और परमात्मा को अद्वैत माना। उनकी दृष्टि में आत्मा

---

१. स० ए० एन० उपाध्ये : परमात्म प्रकाश, द्वितीय महाधिकार, दोहा० ८७, ८८, ९१, ९३।

२. पाहुड दोहा, दोहा ३८।

३. वही, दोहा १८।

४. महयंदिण मुनि : दोहापाहुड, दोहा ४०।

संयम, शील सब कुछ है।[१] जैन दर्शन में आत्मा की निजी कल्पना है क्योंकि उसमे आत्मा से अलग कोई भिन्न नियामक सत्ता नही मानी गयी है। आत्मा मे ही निज स्वरूप ज्ञान के बाद ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह परमात्मा बन जाती है। यद्यपि आत्म-द्रव्य एकरूप रहता है तिस पर भी पर्याय दृष्टि से उसमें भेद होता रहता है। जैन-कवियों ने आत्मा की तीन अवस्थायें निरूपित की हैं :—

(१) **बहिरात्मा**—आत्मा की वह अवस्था है जिसमे आत्मा अपने सच्चे रूप को नहीं पहचानता। वह देह तथा इन्द्रियों को ही आत्मवत् मानने लगता है। यह अवस्था अज्ञान या मूढावस्था है।[२]

(२) **अन्तरात्मा**—यह आत्मा की द्वितीय अवस्था है। इस अवस्था मे आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान हो जाता है किन्तु अभी वह पूर्णज्ञानी नही होता। वह परम समाधि मे स्थित रहता है तथा ज्ञानयुक्त विवेकी कहलाता है।[3]

(३) **परमात्मा**—यह आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था है। इस अवस्था में पूर्ण ज्ञानी होता है। यह परम ब्रह्म की अवस्था है। लेकिन जैनियों का परब्रह्म वेदान्तियों के 'ब्रह्म' से सर्वथा भिन्न है। जैन आचार्यों के मत से प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र एवं पृथक् व्यक्तित्व रखता है। वह किसी एक ही सर्वथा अद्वैत, अखण्ड परमात्मा का अश नही है।[४] जोइन्दु मुनि कहते है कि सभी पर द्रव्यो से मुक्त, कर्म विमुक्त, ज्ञानमय आत्मा को परमात्मा समझना चाहिए :—

---

१. अप्पु णिरज्जणु परम सिउ अप्पा परमाणन्दु।
मूढ कुदेवण पूजियइ, आणन्दा रे गुरु विणु भूलउ अन्ध।

२. ति पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर सायहि अंतर सहिउ बहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥ योगसार
मूढ वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ हवेइ ॥१३॥ परमात्म प्रकाश

३. देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमाणु ठिएइ।
परम समाहि परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥ परमा० प्रकाश

४. डा० वासुदेव सिंह, अपभ्रंश और हिंदी में जैन रहस्यवाद, पृ० १५४।

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म विमुक्के जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।

सिद्ध-साहित्य सिद्धयान संबंधी विचारो का व्यक्त कोश है। सिद्धयान या सहजयान बौद्ध-दर्शन का ही विकसित तथा परिवर्तित रूप है। बौद्ध दर्शन को प्रायः अनात्मवादी दर्शन कहा जाता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'चित्त जिसे वहाँ शुद्ध विज्ञान माना गया है बिलकुल आत्मा के ही अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1] सिद्धों ने भी आत्मा के स्थान पर चित्त शब्द का ही अधिक प्रयोग किया है। इनका चित्त सम्बन्धी विचार शंकर के अद्वैतवाद या उपनिषदिक विचारो से अधिक प्रभावित न होकर विज्ञानवाद से प्रभावित है। चित्त की आध्यात्मिक प्रकृति पर जोर देते हुए इन सिद्धो ने आन्तरिक चित्त और जगत (संसार) की अभिन्नता स्थापित की। उनका विचार है कि एक तत्त्व है जो चौदह भुवनो मे निरन्तर स्थित है और वह तत्त्व-चित्त निरालम्ब स्थित है उसे अन्य किसी रूप मे देखना भ्रान्ति है।[2] चित्त से ही भवनिर्माण विस्फुरित होता है। यह चिन्तामणि के तुल्य है। इसे प्रणाम करने से वांछित फल की उपलब्धि हो जाती है। चित्त का मूल परिलक्षित नहीं होता। जो व्यक्ति मूल रहित (चित्त) तत्त्व का चिन्तन करता है तथा गुरु के उपदेश मे इसके अभि-व्यक्त रूप को देखता है वह निपुणता से इसे जानकर परम सुख का अधिकारी बन जाता है।[3] चित्त ऐसे देव के समान है जो सर्वत्र विराजित है किन्तु अपने सहज रूप मे किसी को दिखाई नहीं देता।[4] सरह ने परम पद मे उसी तरह विलीन होने के लिए कहा जिस तरह नमक पानी मे घुल जाता है—

जिमि लोण बिलिज्जइ पाणिएहिं, तिम जइ चित्तवि ट्ठाइ।
आपा दीसइ परहिं, तत्थ् समाहिए काइ ॥[5]

सन्त कवि दादू ने आत्मा और परमात्मा के विलय को नमक और पानी के दृष्टान्त से व्यक्त किया है। दोनो कवियो में अद्भुत समानता है :—

---

१. निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० मोतीसिंह, पृ० १६८।
२ जिम बाहिर तिम अबभन्तरु।
 चउदह भुवणे ठिअउ णिरन्तरु॥ चर्यागीति कोष, पृ० १६४।
३ संपा० राहुल साकृत्यायन : दोहा कोश, २३, २७, २८, पृ० ६-८।
४. वही, दोहा, ११६।
५ सं० राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० १२।

जहँ आतम तहँ परमात्मा, दादू सहजि समाइ

\+ + +

परआतम सो आतमा, ज्यों जल उदक समान ।
तन मन पानी लोण ज्यों, पावै पद निर्वाण ।।

सन्तो के अनुसार जीव ब्रह्म तो है पर पूर्ण नही । 'कहु कबीर यहु राम को अश' जो अन्तर बूँद और समुद मे है वही अन्तर आत्मा और परमात्मा मे । जिस प्रकार चिनगारी स अग्नि निकलकर पुनः उसी में लीन हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से निकलकर उसी मे लीन हो जाता है । जीवात्मा नियता तथा परमात्मा उसका नियामक है । एक पद मे तुलसी ने कहा कि जीवात्मा परमात्मा से अलग नहीं है । वह हरि से अलग होकर इस सूक्ष्म शरीर को अपना घर मान लेता है ।[1] मायावस सच्चे स्वरूप को भूलकर दारुण दुख सहता है । जोइन्दु द्वारा वर्णित बहिरात्मा की भी यही दशा है । जब देह तथा इन्द्रियाँ ही आत्मवत् दिखाई देती है अर्थात् आत्मा और देह का सम्बन्ध इतना दृढ हो जाता है कि परमात्मा सम्बन्ध निरर्थक रूप लगने लगता है । यह अवस्था मूढ़ावस्था ही है तथा दुःखदायी है ।

हिन्दी के भक्तिपरक मुक्तकों में आत्मा का स्वरूप जैनियो तथा सिद्धों के समान ही है । आत्मा की शुद्धता, शाश्वतता, अजरता, अमरता, वर्ण तथा जातिहीनता सब भक्तो को मान्य है किन्तु इसके बावजूद भी इनकी मान्यताओ मे पर्याप्त अन्तर भी दृष्टिगत होता है । निर्गुण भक्त तथा सगुण भक्त कवियों ने परमात्मा और आत्मा में अंशी और अंश का संबंध मानते हुए दोनो को अद्वैत माना है । माया तथा अविद्या के कारण आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है जिससे दोनो मे भेद प्रतीत होने लगता है । जोइन्दु आदि जैन मुनियों ने परमात्मा और आत्मा के इस तरह के सबंध को नही स्वीकारा। इतना तो वह भी मानते हैं कि माया या अविद्या (अज्ञान) के कारण विशुद्ध आत्मा के सच्चे रूप को लोग विस्मृत कर देते हैं । जैनो ने आत्मा तथा परमात्मा को एक ही माना ।[2] वास्तव मे यह अद्वैत शांकर या उपनिषदिक

---

१ जिय जब ते हरि ते विगान्यो ।
तब ते गेह निज जान्यो ।
माया बस सरूप बिसरायो ।
तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो । विनयपत्रिका, पृ० १३६ ।

२. आणदा (अपभ्रंश और हिंदी में जैन रहस्यवाद, परिशिष्ट) ।

अद्वैत से भिन्न है क्योंकि यहाँ आत्मा का संबंध ब्रह्म की सापेक्षता मे नही आंका गया है। लेकिन ये समस्त कवि जब एक तत्त्व के ही विस्तार की बात करते है तो वे सभी एक ही भूमि पर उतर आते है। जब एक ही तत्त्व है तो उसे चाहे शुद्ध आत्मा कहिए या शुद्ध परमात्मा। दोनो में कोई अन्तर नही रह जाता। जोइन्दु के द्वारा व्यक्त परमात्मा सिद्धो का चित्त जिसे शुद्ध विज्ञान कह सकते हैं तथा भक्त कवियों का ईश्वर या ब्रह्म (परमात्मा) सब एक तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। हिन्दी के निर्गुण सन्तो ने ब्रह्म और जीव की एकता को असंदिग्ध शैली मे प्रतिपादित किया है। उनका यह प्रतिपादन शंकराचार्य के अद्वैतवाद, उपनिषदो के आत्मा-परमात्मा संबंधी सिद्धान्तो से अधिक मेल खाता है परन्तु यह वही नही है।

परमात्मा :

पहले ही संकेत किया गया है कि जैन मुक्तककार आत्मा और परमात्मा को एक ही मानते हैं।[1] परमात्मा या ब्रह्म कही बाहर नही है उसका निवास शरीर के ही अन्दर है। जोइन्दु मुनि के विचार से जो निर्मल ज्ञानमय देव सिद्धि मे निवास करता है वही परमब्रह्म शरीर मे भी बसता है दोनो में भेद नही करना चाहिए।[2] मुनि रामसिंह का कथन है कि साढ़े तीन हाथ के शरीर मे अज्ञानी का प्रवेश नही होता। निर्मल, सत निरंजन तो वही निवास करता है।[3] लक्ष्मीचन्द्र ने भी इसी बात का समर्थन किया है। जो व्यक्ति यह नही जानता कि शिव का निवास शरीर रूपी देवालय मे है वह इधर-उधर भ्रमित होकर उसे खोजता फिरता है।[4]

१. एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म विसेसे जायउ जप्पा,
जायइ जाणइ अप्पे अप्पा तामह सो जि देउ परमप्पा ॥ १७४ ॥
परमा० द्वि० महा०, पृ० १३७।

२. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं म करि भेउ ॥ २६ ॥
—परमात्म प्रकाश पृ० ३३।

३. हत्थ अहुट्ठहं देवली बालह णाहि पवेसु।
सतु णिरंजणु तहिं बसइ, णिम्मलु होइ गवेसु ॥ ९४ ॥
—पाहुड दोहा पृ० २८।

४ हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहिं सिव सेतु मुणेइ।
मूढ़ा देवलि देउ णवि, भुल्लउ काहं भमेइ ॥ ३८ ॥—दोहाणुपेहा

जैन साधकों ने ब्रह्म के अनेक नामो के संबध में कोई विवाद नहीं खडा किया बल्कि अनेक प्रचलित नाम रूपों को एक ही ब्रह्म से अभिन्न ठहराया। जोइन्द मुनि निरजन के स्वरूप को समझाते हुए कहते है कि जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द तथा स्पर्श से रहित है जिसका जन्म मरण नही होता वही निरंजन है। जिसे क्रोध, मोह, मद नही होता। उसको न माया ग्रसित करती है और न मान की परवाह है, जो पाप-पुण्य, हर्ष-विलास से अछूता है जो निर्दोष है उसे निरंजन समझो।[1] यद्यपि उपर्युक्त वर्णनो मे निरजन शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया गया है परन्तु इससे नाम भेद की संकीर्णता का आरोपण नही किया जाना चाहिए। अपनी दृष्टि की उदारता का परिचय देते हुए कवि ने स्वयं लिखा है—

> अरहन्तु बि सो सिद्ध फुडु सो आयरिउ वियाणि।
> सो उव झायउ सो जि मुणि णिच्छंइ अप्पा जाणि ॥ १०४ ॥
> सो सिउ संकरु बिणहु सो सो रुद्द वि सो बुद्ध।
> सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्ध ॥[2]

आत्मा ही अर्हंत, सिद्ध, उपाध्याय; मुनि, शिव, शकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिण, ईश्वर, ब्रह्म, सि द्ध सब कुछ है।

सिद्ध कवियो ने परमात्मा शब्द का बहुत कम प्रयोग किया है। उन्होने परमात्मा तत्त्व की व्याख्या परमपद, महासुख, सहज तथा सबसे अधिक शून्य रूप में की है। परमपद सामान्य चक्षु की दृष्टि से परे है। वहाँ आत्मभाव नष्ट हो जाता है तथा इन्द्रियों की गति विलीन हो जाती है। मन मर जाता है पवन भी गायब हो जाता है। ऐसी अवस्था मे लय होना ही परमसुख है।[3] वह परमपद मायामय है। जिस प्रकार पानी मे नमक घुलकर पानी हो जाता है उसका कोई अलग अस्तित्व प्रतीत नही होता उसी तरह चित्त की अनुभूति होने पर आत्मा ही परमात्मा की तरह दिखाई देने लगता है फिर ध्यान लगाने की क्या आवश्यकता।[4] एक ही तत्त्व है जिससे सारा संसार रंजित है। लेकिन उसे एक (अद्वैत) दो (अलग, अलग) न लो उसे द्वैत के रूप मे जाना जा सकता

---

१ परमात्म प्रकाश (प्रथम महाधिकार) पृ० २८, दोहा १९-२१।
२ योगसार, पृ० ३९४।
३ जहिं मण मरइ, पवण हो तहि खअ जाइ।
एहु सो परम महासुह, सरह कहिहउ जाइ ॥ (दोहाकोश गीति पृ० ६)
४ वही दोहा ४६ पृ० १२

है ।[1] सिद्धो ने 'शून्य' शब्द का काफ़ी विस्तार किया किन्तु सिद्धो ने अपने शून्य के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है सभी विज्ञानवाद मे तथता के लिए कहा गया है और अन्त मे वे तथता को ही शून्य कहने लगे थे। यह तथता शून्य तत्त्व रूप में धर्म और पुद्गल के नैरात्मा रूप मे विद्यमान थी और इसी को परमार्थ कहते थे। भावाभाव, ग्राह्य-ग्राहक आदि की द्वयता से विवर्जित परिनिष्पन्न ज्ञान के रूप मे यह तथता थी। अतः इसे परिनिष्पन्न ज्ञान अव्यय या सम कहते थे।[2] तिलोपा के अनुसार यह आदि, अन्त रहित अव्यय और उत्पाद-विहीन है।[3] सरह के कथनानुसार यह जिस समय भवरूप मे होता है सभी आकारो मे व्यक्त होता है और जब समरूप धारण करता है तो ख, सम हो जाता है।[4] इस गूढ तत्व को किसी से कहा नही जा सकता। इसी तत्त्व को कण्हपा ने निरंजन अर्थात् अंजन (कलुष) हीन कहा है।[5]

हिन्दी मुक्तक काव्य में परमात्मा सम्बन्धी चिन्तन पर प्रभाव :

निर्गुण सन्तो ने परमात्मा का वास शरीर के अन्दर ही माना है। वे सदैव चेतावनी देते रहते है कि तुम्हारा साईं तुम्हारे अन्दर ही है। उसे बाहर ढूँढने की क्या आवश्यकता है। कबीर ने इसे कस्तूरी और मृग के माध्यम मे व्यक्त किया है। जोइन्दु, रामसिंह, सरहपाद तथा अन्य सिद्धों ने परमात्मा को देह के अन्दर ही माना है। हिन्दी के सगुण भक्त यद्यपि आत्मा परमात्मा के अद्वैत रूप को स्वीकार करते है किन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर उनकी द्वैतता की प्रतीति अधिक प्रगाढ़ हो जाती है। क्योकि माया-मोह से सही सम्बन्ध विस्मृत हो जाता

१. एक्क करु मा वेण्णि करु, मा करु विण्ण विशेस।
एक्के रंगे रञ्जिआ, तिहुअण सअलासेस ।। वही, दोहा ५०

२. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १ ३।

३. आइरहिअ एहु अन्तरहिअ। वरगुरुपाअ आ (हअ) कहिअ ।।६।।
चर्यागीत कोष। द्वितीय परिशिष्ट, तिल्लोपादानाम पृ० १८४।

४. जत्त वि चित्तहि विप्फुरइ तत्त विणाह सरुअ।
अण्ण तरग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरुअ ।। ७२
चर्यागीतिकोष वही, पृ० १८३।

५. लोअह गब्व समुब्वहइ हउं परमत्थे पवीण।
कोडिह मज्झें एक्कु जइ होइ णिरञ्जण लीण ।। १ ।।
वही, पृ० १८७।

है। भक्त के लिए कुछ हद तक इस तरह की अनुभूति जरूरी भी है। कबीरादि निर्गुण सन्त नाम रूप या अवतार आदि को मान्यता न देते हुए भी ईश्वर या आराध्य को अनेक नामों से सम्बोधित करते है। इन नामो के स्मरण से कही-कहीं अवतारवाद की मान्यता का भी आभास मिलता है।[1] परन्तु सत्य तो यह है कि जैन रहस्यवाद मे ही इस तरह के अनेक वर्णन मिलते है जिसमे आत्मा (परमात्मा) को शिव, निरजन, अर्हत, सिद्ध, उपाध्याय, मुनि, शिव शकर, बुद्ध, ब्रह्म सब कुछ माना गया है। निर्गुण भक्तों ने इस परम्परा को बहुत कुछ उसी रूप में ग्रहण किया। सन्त कवियो ने समकालीन धर्मो मे प्रचलित नामों को भी ईश्वर के विविध नामो के अन्तर्गत सम्मिलत कर दिया। सन्त साहित्य में रहीम, खुदा, कर्त्तार, कृष्ण, जगन्नाथ आदि अन्य नाम भी उपलब्ध होते है। सूरसागर मे भगवान ब्रह्मा को चतुःश्लोक ज्ञान देते हुए कहते हैं पहिले केवल एक ही मैं था—अमल, अकल और अभेद। वही एक मैं नाना वेषों में अनेक भाँति से शोभित हूँ।[2] नयनों से श्याम का रूप देखो, वही अनूप ज्योति रूप होकर घट-घट में व्याप्त है।[3] जिस तरह सिद्धो का एक तत्त्व चौदहों भुवनों तथा दशों दिशाओं मे व्याप्त है उसी तरह कबीर को भी सारी सृष्टि में एक ही तत्त्व व्याप्त दिखाई देता है।[4]

सिद्धो का 'शून्य' नाथ सम्प्रदाय से होता हुआ हिन्दी के भक्त मुक्तककारों के पास तक पहुँचा। सिद्ध साहित्य तक आते-आते शून्य को विस्तार तो अवश्य मिला किन्तु दार्शनिक पेचीदापन कुछ न कुछ अवशिष्ट रहा। सन्तो मे शून्य सम्बन्धी यह तार्किकता तथा दार्शनिकता समाप्तप्राय हो गयी। डॉ० धर्मवीर भारती की यह मान्यता स्वीकार्य है कि बौद्ध शून्य की भाँति परवर्ती शून्य प्रतीत्य समुत्पाद की तर्क प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्त्व ज्ञान न रहकर परम तत्त्व के अन्य नामो की भाँति यह भी एक नाम मात्र था।[5] सन्तों मे यह शून्य कपाल मे स्थित गगन या शून्य के लिए भी प्रयुक्त मिलता है। नाथ तथा हठयोग से भी इन सन्तों ने प्रभाव ग्रहण किया।

१. खंभा से प्रकट्यो गिलारि—कबीर।

२. सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पद ३७१।

३. वही, पद ३८८।

४ कबीर मैं जाण्यां हरि दूरि है, हरि रह्या सकल भर पूरि ॥ ६ ॥
सं० माताप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रंथावली, पृ० १३२।

५. धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६।

जिस तरह शून्य में द्वैत का निषेध है उसी तरह नाथों और सन्तों में भी है। परम तत्त्व के रूप में शून्य के साथ शब्द को भी जोड़ने की चेष्टा की गयी है। शून्य और शब्द को एकरूप मानते हुए नानक ने उसी से सम्पूर्ण सृष्टि, भूतों और देवताओं की उत्पत्ति मानी है।[१] जहाँ शून्य को परमज्ञान के रूप में ग्रहण किया गया वहाँ उसे अद्वैतज्ञान से भिन्न नहीं माना गया। सन्त शून्य ज्ञान के सम्बन्ध में प्रतीत्य समुत्पाद से परिचित नहीं थे। और शून्यता ज्ञान उन्हें अद्वैत ज्ञान के रूप में प्राप्त हुआ था क्योंकि सन्तों तक आने से पूर्व वह शैव सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। इसीलिए वह यहाँ अद्वयज्ञान की अपेक्षा अभेद ज्ञान के रूप में चित्रित किया गया है।[२]

मध्यकालीन भक्तों में हमें ईश्वर के संबंध में अनेक मान्यताओं का आभास मिलता है। इसका प्रमुख कारण है कि परम्परागत सारी मान्यताओं को उन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आत्मसात् करने का प्रयास किया। वास्तव में ब्रह्म या तत्व के चिंतन में हमें उपनिषद् काल से लेकर बौद्धधर्म महायान, वज्रयान, सिद्धयान, नाथ और संत सम्प्रदाय तक प्रायः एक ही प्रकार की दृष्टि दिखाई पड़ती है परिवेश और शब्दावली में यत्र-तत्र थोड़ा भेद भले ही प्रतीत हो किन्तु दिशा और दृष्टि में बहुत अन्तर नहीं प्रतीत होता।[३]

माया :

माया का यदि शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो 'मा' का अर्थ नहीं या का अर्थ जो। जो नहीं है अर्थात् असत्। 'साहित्य में माया शब्द का प्रयोग वैदिक-काल से होता आया है। कालानुक्रम से माया के अर्थ तथा उसके संबंध में विद्वानों की धारणाओं में अन्तर होता गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में प्रकृति को माया तथा परमेश्वर को महान् मायावी कहा गया है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।।[४]

श्वे० ४।१०

---

१. सुन्न शब्द से उठे झंकार। सुन्न शब्द ते ओ अंकार।
सुन्न ते सम्भू होवे आदि। सुन्न ते नीलु अनीलु अनादि।
प्राणसंगली, पृ० २०२।

सुन्न ते कीना धरती आसमानु। पृ० १३७, १६६।

२. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० ३४२।

३. डॉ० मोतीसिंह : निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० १६७।

४. डॉ० रामनारायण पाण्डेय : भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ० ५०-५१।

गीता में कहा गया है, माया के अपहृत ज्ञान के कारण दुष्कृती तथा अधम व्यक्ति मुझे (परमात्मा) को नही भजता।[1] वास्तव मे माया के अनेक अर्थ हैं। अपभ्रंश मुक्तककारों ने माया के दो रूपो को अपनाया है एक तो असत् या भ्रम रूप, दूसरा भगवान् की शक्ति-रूप। जहाँ पर सरहपाद परमपद को मायामय बताते है वहाँ प्रथम रूप ही प्रतिभासित होता है क्योंकि परमपद को भ्रम या असत् से नही जोडा जा सकता। परमपद की अलौकिकता तथा वैचित्र्य बोधक रूप मे 'मायामय' शब्द का प्रयोग प्रतीत होता है। यहाँ बुद्धि विनष्ट हो जाती है मन मर जाता है, अभिमान टूट जाता है, यह परमपद स्थान मायामय है। यहाँ ध्यान लगाने की क्या आवश्यकता है :—

बुद्धि विणासइ मण मरइ, तुट्टइ जहँ अहिमाण।
सो माआमअ परमपउ, तहिं किं बज्जइ झाण ॥६१॥[2]

दोहा कोश में ही माया का दूसरा रूप भी देखा जा सकता है। जैसे जल मे चन्द्रमा की छाया पड़ती है और वह प्रतिबिंबित चन्द्रमा सही चन्द्रमा नही है उसी तरह विश्व भी प्रतिभासित होता है वैसे यह सब माया ही है :—

जिम जलेंहि ससि दिसइ च्छाआ।
तिम सब पडिहासइ तअलवि माआ।

दोहा-कोश, पृ० २८

वास्तव में जगत का आभास माया के द्वारा ही होता है। शंकराचार्य के अनुसार 'ज्यो ही हम माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ते जाते है ब्रह्म ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है किन्तु ईश्वर के अपने ऊपर माया से किसी प्रकार का असर नहीं होता। यदि माया का अस्तित्व है तो यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप में रहती है और यदि माया का अस्तित्व नहीं है तो जगत् के आभास की भी कोई व्याख्या नही बनती।'[3] सरहपाद ने भी प्राय यही संकेत किया है कि अंततः विश्व कुछ भी न होने के बावजूद माया के कारण प्रतिभासित होता है अर्थात् माया के ही कारण जगत् का अस्तित्व है। द्वैतपरक जगत् केवल माया है यथार्थ सत्ता अद्वैत है।

---

१. गीता, ७।१५।

२. सं० राहुल सांकृत्यायन . दोहा-कोश, सरह, पृ० १४।

३ राधाकृष्णन भारतीय दर्शन, पृ० ५६६।

जैन अपभ्रंश कवियो ने अधिकतर पुद्गल वर्णन के अन्तर्गत माया की सभी विशेषताओं को सम्मिलित कर लिया है। वैसे सैद्धान्तिक रूप से माया को एक कषाय माना गया है। कहीं-कहीं कुछ कवियों ने माया को अज्ञान, भ्रम तथा मोह के अर्थ में भी लिया जैसे देवसेन कहते हैं कि थोडी सी माया विशुद्ध-चरित्र को दूषित कर देती है जिस प्रकार काजी के विन्दु मात्र से शुद्ध गुडीला दूध भी फट जाता है।

हिन्दी भक्त कवियों ने माया के उपर्युक्त रूपो की बड़ी विस्तृत चर्चा करते हुए माया सम्बन्धी समस्त अवधारणाओं को समाहित कर लिया। माया को कबीरादि सन्तो ने भावरूप भ्रान्ति माना है जो वेदान्त की भाँति है। 'पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार' में पाहन का पुतला ठोस तथा प्रत्यक्ष वस्तु है किन्तु उसमे ब्रह्म की कल्पना करना भ्रम है वैसे ही जैसे रस्सी को साँप समझना। सदसद्वाद की तरह माया को अनिर्वचनीय माना गया है। माया बेली के समान सद् है किन्तु शशक के सींग, बाँझ के पुत्र की क्रीड़ा तथा बिना ब्याई हुई गाय के दूध के समान काल्पनिक। शंकर के मायावाद मे शुद्ध ब्रह्म माया से मुक्त होकर जब सृष्टि करता है तब उसे ईश्वर की संज्ञा प्रदान की गयी है। माया और मायी ईश्वर का सम्बन्ध शाश्वत है। पलटूदास ने जल और तरंग की तरह दोनों को एक ही माना—

जल से उठत तरंग है जल माँहि समाय।
जल ही माँहि समाय सोई हरि सोई माया॥[1]

माया की प्रकृति त्रिगुणात्मक कही गयी है जिसे कबीर त्रिगुण फाँस कहते हैं।

वेदान्त में जिसे माया कहा गया है सांख्य मतवाले उसी को प्रकृति कहते हैं। कबीर की माया धर्म और स्वभाव से सांख्यवादियो की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है।

पुराणो मे यही माया ईश्वर की पत्नी के रूप मे प्रकट होती है। तथा सृष्टि-रचना मे यह मुख्य साधन का काम देती है। सगुण तथा निर्गुण दोनों भक्ति-पद्धतियों मे माया की परिकल्पना स्त्री-रूप की गयी है तथा उसकी बड़ी निन्दा भी की गयी है। सूरदास ने उसे मन मे अभिलाषा उत्पन्न करनेवाली, मिथ्या विषयो की जन्मदात्री, महामोहनी तथा आत्मा को भटकानेवाली कहा है। शैव मत मे माया-शक्ति जीव को पाशों में बाँधती है। यह माया जड है,

---

१. सुधाकर : पलटू संत बानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १६१।

भेद-रूपा है। जड़ता का अर्थ है परिछिन्न प्रकाशत्व।[1] शकर ने भी माया तथा अविद्या को करीब-करीब एक ही माना है किन्तु उनकी इस मान्यता मे एक दार्शनिक पेचीदापन है पर भक्त कवियो ने माया के अविद्या रूप को अधिक अपनाया। यद्यपि उनमे माया के विविध रूपो की कल्पना मिलती है। अपभ्रश मुक्तककारो ने माया के इसी रूप को अधिक विवेचित किया है। संभव है सतों तथा भक्तो पर इसी का सीधा प्रभाव पड़ा हो। पलटूदास कहते हैं कि माया की चक्की जल रही है जिसमे ससार पीसा जा रहा है। लाख प्रयत्न करने पर भी वह बचता नहीं है। दोनों पट (पृथ्वी और आकाश) के बीच कोई साबित नहीं बचता। काम, क्रोध, मद, लोभ ये चक्की के पीसनेवाले हैं। तिरगुण डालकर ये सब निकाल लेते हैं।[2] यहाँ पर पलटूदास की माया संबंधी परिकल्पना काम क्रोधादि के साथ सश्लिष्ट रूप में व्यक्त हुई है। माया, काम, क्रोध मद, लोभ आदि के द्वारा गतिमान होती है तथा अपने विराट विस्तार मे सब को खीचकर भ्रमित करती है। किन्तु यह माया भगवान् से भिन्न नही है जैसे जल से उठनेवाली तरग जल में ही समा जाती है वैसे माया भी भगवान् मे ही तरगायित है।[3] मलूकदास माया को 'मिसरी' की छूरी मानते हैंऔर इस

---

१ विनती सुनौ दीन की चित्त दै, कैसे तुव गुन गावै।
माया नटी लकुटी कर लीन्हे, कोटिक नाच नचावै॥
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति नाना स्वांग बनावै।
तुम सौ कपट करावति प्रभु जू मेरो बुद्धि भरमावै॥
मन अभिलाष तरंगति करि करि मिथ्या विसा जगावै॥
सोवत सपने में ज्यों संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै॥
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै।
ज्यौं दूती पर वधू मोरि कै, लै पर पुरुष दिखावै॥३०॥
धीरेन्द्र वर्मा, सूरसागरसार : पृ० २२।

२. माया की चक्की चले पीसि गया संसार।
पीसि गया संसार बचै न लाख बचावै॥
दोऊ पट के बीच कोउ ना साबित जावै।
काम क्रोध मद लोभ चक्की के पीसन हारे॥
तिरगुन डारै झीक पकरि के सबै निकारे।

३ जल से उठत तरग है जल माहि समाय॥
जल ही माहिं समाय सोई हरि सोई माया॥
स० सुधाकर . पलटूदास संतबानी संग्रह, भाग १. पृ० १५५-१६१।

पर कभी भी विश्वास न करने के लिए कहते है। ब्रह्म से ब्रह्म को लड़ाकर यह रसवाद से मारती है।[१] ईश्वर को गुणगान मे बाधक माया नटी का रूप धारण करके करोड़ों नाच नचाती है। स्थान, स्थान पर लोभ लगाकर तरह-तरह के स्वाग कराती है। सूरदास कहते है कि हे भगवान् वह तुममे भी कपट करवाती है। वह मन में अभिलाषा उत्पन्न करती है मिथ्या विषयो को जन्म देती है। संपत्ति को स्वप्नवत् दिखाकर पागल बना देती है। यह महामोहनी है आत्मा को मोहकर उपमार्ग पर लगती है जैसे दूती दूसरे की पत्नी को मोहकर उसे पर-पुरुष के साथ ले जाती है।[२]

जगत् :

जैन मुक्तककारो ने द्रव्यो को संसार का कारण माना। संसार के परिज्ञान के लिए द्रव्य-व्यवस्था का ज्ञान आवश्यक है। ये द्रव्य नित्य हैं और परिवर्तन से रहित हैं। मात्र इनके अनेक पर्याय हुआ करते है। द्रव्य के दो भेद हैं—

(१) जीव।

(२) अजीव।

आत्मा जीव द्रव्य के अन्तर्गत आती है। यह चेतन है और रूप, रस, गन्ध हीन है।

अजीव द्रव्यों की संख्या पाँच हैं—

(१) पुद्गल—जो कुछ भी दृश्यमान है तथा रूप, रस, गन्ध, युक्त है, पुद्गल है। पुद्गल जीवो के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

---

१ माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।
इन मारे रसवाद के ब्रह्महिं ब्रह्म लड़ाय ॥११॥
बाबा मलूकदास-संत का० संग्रह, भाग १, पृ० १०३।

२. विनती सुनौ दीन की चित्त दै, कैसे तुव गुन गावै।
माया नटी लकुटी कर लीन्हे कोटिक नांच नचावै॥
दर दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै।
तुम सौं कपट करावति प्रभू जूं मेरी बुधि भरमावै॥
मन अभिलाष तरंगति करि करि, मिथ्या विसा जगावै।
सोवत सपने में ज्यौं संपति, त्यौं सिखाइ बौरावे॥
महा मोहिनी मोहि आत्मा, अपमारगहिं लगावै।
ज्यों दूती पर वधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै॥ ०॥
सं० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार, पृ० २२।

(२-३) धर्म-अधर्म द्रव्य—जीव और पुद्गल दोनों गतिवान् है। इन द्रव्यों को गति देने में जो सहायक तत्त्व हैं वे धर्म द्रव्य हैं जो स्थिर बनाने मे सहायक हैं वे अधर्म द्रव्य है।

(४) आकाश द्रव्य—सभी द्रव्यों को अवकाश देनेवाले द्रव्य का नाम आकाश द्रव्य है।[1]

(५) काल-द्रव्य—सभी द्रव्यो की उत्पत्ति आदि मे जो सहायक है वही काल द्रव्य है।

इन्ही द्रव्यो से सारे ब्रह्माड की रचना हुई है। जैन कवि ससार तथा सासारिक सम्बन्धो को अस्थायी तथा अवास्तविक कहते है। जोइन्दु मुनि कहते है कि इसे तुम अपना निवास न समझो। यह तो दुख का निवास है। अज्ञानी जीवों के बन्धन के लिए यम ने पापो से युक्त बन्दी घर बनाया है।[2] सिद्धो ने चित्त और जगत् को एक ही माना। सिद्ध तिलोपा इस संसार को स्कन्ध भूत आयतन और इन्द्रियो द्वारा निर्मित मानते हैं।[3] यह भव एक नदी प्रवाह की तरह है।[4] इन्द्रियमय यह संसार मृगतृष्णा है, आकाश जल मात्र है जिसमे तत्त्व नही है।[5] सरहपा कहते है आत्मा और जगत् को एक ही करके मानो। दो नही उसमे भेद न करो क्योंकि जो आभ्यन्तर है वही बाहर है। चित्त से ही भव और निर्वाण विस्फुरित होता है। कण्हपा पंच महाभूतो को बीज मानते हैं जिससे समग्र भूतो की उत्पत्ति होती है। आदि मे अनुसन्नभाव से यह जगत् परमार्थज्ञ के द्वारा अन्यथा अभाव वाला हो जाता है। भ्राति अविद्या रूपी तिमिर मे आच्छादित लोचन से अनल की तरह पीले आदि रंगों मे प्रतिभासित होता है। यह उसी तरह है जैसे रस्सी को देखकर यदि किसी को सांप की

---

१. परमातम प्रकाश . द्वि० महाधिकार, दो २०।

२ वही, ,, दो १४४।

३. कन्ध (भूअ) आअत्तण इन्दी। सहज सहावे सअल बिबन्दी ॥१॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १८५।

४. भवणइ गहण गम्भीर वेगे वाही।
दु आन्ते चिखिल मज्झे न थाही ॥ १ ॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १६।

५. जिम बाहिर तिम अब्भन्तरु।
चउदह भुवणें ठिअउ णिरन्तरु ॥ २४८ ॥ वही, पृ० १६४।

भ्रांति हुई तो क्या उसे सांप खा लेगा। यह जगत् मरु मारीचिका, गन्धर्व नगरी के समान प्रतिभास्यमान है।

आइए अणुअना ए जगरे भान्तिए सो पड़िहाइ।
राज साप देखि जो चमकिइ साचे कि तं बोडी खाइ॥ १॥
मरुमरीचि गन्ध (ब) नअरी दाप्न पडक्किम्बु जइसा।
वातावत्ते सो दिढ़ भइया अपे पाथर जइसा॥ २॥[1]

सन्तो का कथन है कि संसार मिथ्या, नश्वर और स्वप्नवत् है जल की बूँद की तरह इसे उपजते तथा विनशते देर नहीं लगती है।[2] यह संसार रात के स्वप्न के समान है।[3] दयाबाई जग को झूठा जंजाल समझती हैं। सूरसागर में कई स्थानों पर संसार तथा सांसारिक सम्बन्धों का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है। यह सृष्टि ईश्वर की माया से निर्मित है किन्तु सच्ची नहीं है। सूरदास भी संसार की नश्वरता, क्षणिकता तथा असत्यता स्वप्न से सिद्ध करते हैं।[4] कृष्ण स्वयं उद्घोषित करते हैं 'मैं एक नाना भेदों में अनेक भाँति से शोभित हूँ, इसके बाद भी इन गुणों के नष्ट होने पर मैं ही अवशेष रहूँगा। मेरी माया झूठी है पर सच्ची सी लगती है'।[5]

इस तरह हम देखते हैं कि अपभ्रंश और हिन्दी काव्य में जगत् सम्बन्धी धारणा में पर्याप्त समानता है। सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण करके हिन्दी के कुछ आलोचकों ने सन्तों में पाये जाने वाले जगत् वर्णन को शांकर वेदान्त से अधिक प्रभावित माना है। गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर की जगत् सम्बन्धी धारणा को पूर्ण रूप से शंकर वेदान्त के अनुकूल सिद्ध किया है।[6] किन्तु कबीर सिद्धों से बहुत भिन्न नहीं दिखाई देते—यदि कबीर सब कुछ ब्रह्ममय मानते हैं तो सिद्ध भी तो सर्वत्र एक ही तत्त्व को व्याप्त मानते हैं। कबीर में चित्तगत जगत् का भी चित्रण देखा जा सकता है जहाँ वे यह मानते हैं कि जो पिंड में

---

१. चर्यागीति कोष, पृ० १३४।
२. कबीर ग्रंथावली (ज्यों जलबूंद तैसा संसार उपजत बिनसत लगै न वार)
३. या संसार रैन दा सुपना, कहि दीखा कहिं नाहिं दिखाया॥ ०॥
हिन्दी काव्य प्रवाह।
४. सूरसागर, पद २०१।
५. वही, ३७४।
६. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० २५२।

है वही ब्रह्मांड मे है । इससे सिद्ध होता है कि कबीर आदि सन्त इन सिद्धों से किसी न रूप मे प्रभावित अवश्य थे ।

गुरु का महत्त्व :

धार्मिक तथा आध्यात्मिक साधना दोनों मे गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है । गुरु के बिना प्रारम्भिक ज्ञान भले ही हो जाय किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता । जैन साधकों ने गुरु की महत्ता अनेक दोहों में प्रतिपादित की है । निर्गुण निराकार ब्रह्म के दर्शन का उपाय सद्‌गुरु की कृपा ही है ।[१] गुरु के अभाव मे व्यक्ति को सद् असद् का ज्ञान नही होता । वह तब तक तीर्थों मे भ्रमण करता रहता है और धूर्तता करता रहता है जब तक गुरु के प्रसाद से आत्मदेव को नही जान लेता है ।[२] वह लोभ, मोह दोनो से ग्रस्त रहकर और विषयो को तब तक सुख मानता है जब तक गुरु के प्रसाद से अविचल बोध को नही पा लेता ।[३] मोह निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति जागता नहीं । गुरु के द्वारा उठाये जाने पर भी शिवमार्ग मे प्रवृत्त नही होता क्योकि उसे गुरु के वचन अच्छे नही लगते । जो उठकर गुरु के वचनों में लग जाते हैं वे परमार्थतः सोते हुए भी मोह निद्रा के अभाव के कारण जागते रहते हैं ।[४] जैनो ने सद्‌गुरु और कुगुरु के भेद को लक्षणों सहित विस्तार से विवेचित किया है । सत्यभाषी, सभी जीवों की अपनी तरह रक्षा करने वाला, उन्मार्ग पर जाते हुए लोगो का निवारण करनेवाला सुगुरु कहलाने का अधिकारी है ।[५] सद्‌गुरु के वचन प्रसाद से ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ।[६] कुगुरु की पूजा करने से तो पीछे सिर ही धुनना पड़ता है ।

---

१. फरस रस गंध बाहिरउ, रूप विहूणउ सोइ ।

२. ताम कुतित्थइ परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ ।
   गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ ।। योगसार, पृ० ३८० ।

३ लोह मोहिउ ताम दुहुं विसयहं सुक्खु मुणेहि ।
   गुरुहं पसाए जाम णवि अविचल बोहि लहेहि ।। पाहुड दोहा, पृ० २४ ।

४ कालस्वरूप कुलक-छन्द ५-६, पृ० ६६ ।

५. जिनदत्त सूरि ' उपदेश रसायन रास, छन्द ५-६ ।

६ केवलणाणवि उपज्जई सद्‌गुरु वचन पसाउ ।। ३३ ।। आणंदा
   कुगुरुहु पूजि म सिर धुणहु, दोहा नं० ३७ । वही ।

सिद्धो की साधना बहुत गूढ़ है इसलिए सिद्धों की साधना पद्धति मे समस्त तान्त्रिक पद्धतियो की ही भाँति, गुरु का अद्भुत महत्त्व है। गुरु के प्रति अपनी अटल भक्ति का प्रमाण सिद्धो ने कई प्रकार मे दिया है।[1] कृष्णाचार्य पाद का कथन है कि गुरु के उपदेश मे मोह-जाल छिन्न हो जाता है, विषयेन्द्रियाँ प्रभास्वर मे प्रविष्ट हो जाती है।[2] शवरपाद गुरु के वाक्य को धनुष बनाकर और अपने बोधि चित्त को बाण, दोनो को एक करके एक स्वर से निर्घोष करते है।[3] सरहपाद काया रूपी नौका में मन को पतवार और सद्गुरु वचन को नौका चालक कहते है।[4] गुरु का उपदेश अमृत के समान है जो उसे दौडकर नही पीता वह बहुत से शास्त्रो के मरुस्थल मे भ्रमण करता हुआ अन्त तक तृषित रहता है।[5]

हिन्दी भक्ति काव्य मे गुरु का उतना ही महत्त्व स्वीकार किया गया जितना जैनियो और सिद्धो ने स्वीकार किया। जब भक्तो ने परम्परित सभी साधना पद्धतियों को कुछ न कुछ हद तक समन्वित कर लिया तब गुरुओ की जिम्मेदारी भी गुरुतर हो गयी। क्योकि अब उसे शिष्य में ज्ञान, योग, भाव सभी कुछ भरने थे। जहाँ तक गुरु के लक्षण शिष्य के लक्षण आदि आदि अंगों का प्रश्न है वे तान्त्रिक गुरु ग्रथो की अनुसरण परम्परा का आभास देते हैं। यद्यपि इन सन्तों का गुरु न तान्त्रिक गुरु है और न वज्रयानी। वह निस्सदेह ऐसा गुरु है जिसने शब्द सुरत योग और भक्ति योग इन दोनो की समन्वित साधना की है।[6] गुरु वचन को धनुष, कुठार आदि रूपों मे सिद्ध साहित्य मे

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १९५।

२. मोहमंत्र छिन्नं गुरुपदेशेन।
 विषयेन्द्रियं गगनपेमुतं॥ बागची, चर्यागीत कोष, पृ० ८१।

३. गुरुवाक पुञ्छिआ विन्ध निअमण बाणे।
 एके शर सन्धाने बिन्धह बिन्धह परमणिवाणे॥ वही, पृ० ९२।

४. काअ णावड़ि खण्टि मण केडआल।
 सद्गुरु बअणे धर पतवाल॥ वही, पृ० १२४।

५ गुरु उवएसँ अमिअ-रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
 बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिँ तिसिए मरिअउ तेहि॥
 ५६, बागची, चर्यागीति कोश, पृ० १६१।

६ डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० ३८७।

जो परिकल्पना है उसे उसी रूप मे सन्तों ने भी अपनाया है। पाखण्डी तथा अज्ञानी गुरु के लिए बिलकुल समान उक्तियाँ मिलती है—

जाव ण अप्पा जाणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ
अंधे अंध कढ़ावइ तिम वेण्ण वि कूव पंडेइ ।। (सरह)
जाका गुरु भी अंधला चेला है जाचंध ।
अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत ।। (कबीर)
अंधे अंधा मिलि चले दादू बाँधि कतार ।
कूप पडे हम देखता अंधे अंधा लार ।। (दादू)

मन :

भारतीय चिन्तन परम्परा में मन को साधना का मजबूत आधार माना गया है। मन की शाब्दिक व्युत्पत्ति ही इस बात को घोषित करती है कि मन के माध्यम से ही मनन किया जाता है (मन्यते अनेन इति मनः) गीता में मन को अत्यधिक चपल, शक्तियुक्त और मन्थन करनेवाला कहा गया है और उसको वश मे लाना वायु की भाँति असम्भव तथा कठिन माना गया है।[१] कठोपनिषद् में मन को अश्व रूपी इन्द्रियों के नियन्त्रण के लिए वल्गा कहा गया है।[२]

जैन कवियों के अनुसार मन पाँचो इन्द्रियों का स्वामी तथा नायक है। समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों मे मन की ही प्रेरणा से प्रवृत्त होती है। यदि मन को बस मे कर लिया जाय तो ये समस्त इन्द्रियाँ स्वत. ही बस में हो जाती हैं। जैसे वृक्ष की जड काट देने से वृक्ष के पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं।[3] जैन मुनियों ने मन को करहा की उपमा दी। मुनि रामसिंह मन-करह को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय सुखो में तू रति मत करो क्योकि इससे शाश्वत सुख की प्राप्ति नही होती।[४] मन अत्यधिक शक्तिशाली है। उसे

---

१. चंचलं हि मन' कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम् ।
तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्कृतम् । गीता ६।३४ ।

२. कठोपनिषद् १।३।३ ।

३. पंचह णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ अवसइ सुक्कंहि पण्ण ।।१४०।। परमा० द्वि० पृ० २८५ ।

४. अरे मणकरह म रइ करहि इंदिय विसय सुहेण ।
सुक्खु णिरंतरु जेंहि णवि मुच्चहि ते वि खणेण । पाहुडदोहा- ८२ ।

बस मे करना आसान नही है फिर भी मनरूपी हाथी को विन्ध्य की ओर जाने से वर्जित करना चाहिए क्योकि वहाँ जाकर शील रूपी वन को भंग करके पुन ससार मे पड़ जाने की सम्भावना रहती है।[1] मन को नियंत्रित करने से गमनागमन का बन्धन टूट जाता है। नियन्त्रण मे रहने से मन-करभ वाहन का काम करता है और उस पर सवार होकर परम मुनि आवागमन से मुक्त हो जाते है।[2] महयदिण मुनि कहते हैं कि आलवान (घेरा) डालकर मन रूपी मर्कट को पकड़ो।[3] सिद्ध काव्य मे जो चित्त का बन्ध रूप है वही मन के सादृश्य है। वैसे मन का अलग से भी चित्रण मिलता है। चर्यापदो की रूपक प्रधान शैली मे चित्त (मन) की गयद, मूषक, हरिण, पवन, आदि रूपों मे कल्पित किया गया है। भुसुकपा अपनी एक चर्या मे चित्त को हरिण की संज्ञा प्रदान करते हैं किन्तु यह चित्त-हरिण सच्चे हरिण से कई रूपों मे भिन्न है। चित्त हरिण, तृण नही चुनता, पानी नही पीता और यह हरिणी के निलय को भी नही जानता। इस हरिण का खुर भी नही दिखाई देता तथा न तो यह मूर्ख के हृदय में प्रविष्ट होता अर्थात् उन्हे इसके सच्चे रूप का ज्ञान नही होता।[4] लुइपा चंचल चित्त को काया में प्रविष्ट काल मानते है।[5] सरहपाद जैनियो की तरह ही मन को करहा कहते है और उसकी विचित्र गति को चित्रित करते है। मन-करह बद्ध रहने पर दसों दिशाओ मे दौडता है और मुक्त होन पर निश्चल तथा स्थिर हो जाता है। इसकी गति निश्चय ही विपरीत है। यही मन पवन मे मिलकर तुरंग की तरह चंचल होता है और सहज स्वभाव

१. अम्मिय इहु मणु हत्थिया विझहं जंतउ वारि।
तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि॥ वही १५५।

२. अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ लइ पइ देविणु लक्खु।
जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय मोक्खु॥ १११ पाहुडदोहा।

३. धरि मणु मक्कडु अप्पणउ, घल्लंतउ आलाउ।
तउ तरुडालहि जइक्खसिउ, फलहुण कडुवउ साउ॥ ११९ पाहुडदोहा।

४. बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १९।
तिण न छुपइ हरिणा पिवइ न पाणी।
हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी॥ २॥
तरसंते हरिणा खुर न दीसइ।
भुसुक भणइ मूढ हिअहि न पइसइ॥ ४॥

५. काआ तरुवर पन्च वि डाल।
चंचल चीए पइठा काल। वही पृ० १।

मे बसते हुए निश्चल हो जाता है ।[१] सिद्धो मे मन की चंचलता (एहु णिअ मण सबल चालर सचल-आदि[१] का वर्णन उपनिषदों तथा गीता मे वर्णित चंचलता के तुल्य ही है किन्तु मन के लिए इतने अधिक रूपको की कल्पना अन्यत्र नही मिलती । भुसुकपा चंचल चित्त रूपी मूषक को मारने का आदेश देते है ताकि 'अवणागवण' से मुक्ति पायी जा सके ।[२] कण्हपा का कथन है जिसने मन को निश्चल कर लिया धर्माक्षर उसके निकट है वह मन पवन से बँध जाता है और विषयो का निरास हो जाता है ।[३] मन को पवन मे स्थित करके चित्त से ही चित्त को देखा जा सकता है । चित्त जब निर्मल भाव मे स्थिर हो जाता है तब उसमे भाव और अभाव दोनों का ही प्रवेश नहीं होता ।

चित्तहिं चित्त जइ लक्खण जाइ । चञ्चल मण पवण थिर होइ ॥

चित्त थिर जो णिम्मल भाव । तहिं ण पइसइ भावाभाव ॥

संसार की सापेक्षता में सिद्धो ने चित्त के दो रूपों को स्वीकारा है । १—बद्धचित्त-स्वेच्छानुसार इस संसार की विषय वासनाओं मे लिप्त होकर बंध जाता है । चित्त के सामने विषय तथा सासारिकता रूपी कांच और महासुख रूपी बहुमूल्य मणि उपस्थित होते है यदि वह कांच से ही सन्तुष्ट हो जाता है तो महासुख में प्रवेश करने का कोई प्रश्न ही नही उठता है ।[४] आबद्ध मन करह की भाँति इधर-उधर दौड़ता रहता है । २—मुक्त-मन कर्मों द्वारा बंधता है किन्तु प्रज्ञा द्वारा कर्म करने से वह इनमे मुक्त हो जाता है । संवृत्ति में सांसारिक ज्ञान होता है किन्तु पारमार्थिक सत्य में चित्त को शून्यता ज्ञान होता है । इसी शून्य में प्रवेश करते ही इन्द्रिय विषय मात्र अदृश्य हो जाते है ।[५]

जइ मण सहज णिरन्तरे पावइ ।

इन्दी विसअहिं खणवि ण धावइ ॥[६]

---

५. बद्धो धावइ दहदिहहिं मुक्को णिच्चल ठाइ ।
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ महु पड़िहाइ । वही, पृ० १६१ ।

१. मार रे जोइआ मुसा पवणा । जेण (ण) तुटअ अवणा-गवणा ॥
ध्रुवपद ॥ वही, पृ० ७१

२. दोहा कोष-काण्हपाद (चर्यागीति कोष, पृ० १६८, दोहा-२३)

३. हिअहिं काच मणि लइ तुरणे । बोहिमण्डल महासुह ण पइट्ठो ॥
राहुल सांकृत्यायन: दोहा-कोश, पृ० २८ ।

४. धर्मवीर भारती सिद्ध-साहित्य, पृ० १६६ ।

५. राहुल सांकृत्यायन: दोहा-कोश, पृ० २४ ।

कबीरदास कहते है कि मन चंचल चोर है तथा विषयों के स्वाद में पड़कर कोटि-कोटि कर्म करता है।[1] भुसुकपा के समान ही मन को मृग मानकर वे उसे मारने का उपदेश देते है। मुनि रामसिंह की भाँति शक्तिशाली मन रूपी हाथी को नियन्त्रित करने की सलाह देते है। कबीर ने सिद्धों की तरह ही मारने का प्रयोग रासायनिक अर्थ में ही किया है। नियन्त्रित मन सिद्धों की तरह ही मुक्त चित्त का रूप धारण करके साधक को स्वयं कर्त्ता बना देता है। मन ही गोरख है, मन ही गोविन्द मन ही औघड है, यदि कोई मन को यत्न करके रख ले तो वह स्वयं कर्ता हो जाए।[2] जब मन का भ्रम मन ही से भाग जाता है तब सहज रूप हरि खेलने लगता है। तब 'मै-तै', 'तै-मै' का द्वैत नहीं रहता, तब आत्मा ही आत्मा समस्त घट मे हो जाता है।[3] सिक्ख-गुरु भी मन के दो रूप मानते हैं—

(१) माया आच्छादित अहंकारी मन।

(२) शुद्ध स्वरूप ज्योतिर्मय मन।[4]

दादू दयाल मन रूपी मतवाले हाथी को शरीर के अन्दर ही घेर कर अंकुश द्वारा बस में लाने का यत्न करते है। क्योंकि वशीभूत मन जब राम से लग जाता है तो उसकी अन्य गतियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। वह राम मे ऐसा समा जाता है जैसे पानी में नमक।[4] सुन्दरदास कहते है कि जब मन भ्रमित रहता है तो जगत् भ्रम के रूप में दिखाई देता है। मन स्थिर होता है तो सब कुछ स्थिर दिखाई देता है। मन ही जीव रूप है, मन ही ब्रह्म तथा आकाशवत्, ज्यादा क्या कहा जाय मन ही की सर्वत्र दौर है।[6] सगुण भक्तों की दृष्टि में विषयासक्त तथा कामलोलुप मन सहज सुख को छोड़कर दिन रात भ्रमण करता रहता है। उसे कभी विश्राम नही मिलता।[7] सूरदास का कथन है कि हे मन तुम्हे मैं कितनी बार समझाया कि तू नद नंदन के चरण

१. सं० माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, साखी, ४,३०, पृ०४९,५३।

२. वही, साखी १०, पृ० ५०।

३. वही, पृ० २६९।

४. केसनी प्रसाद चौरसिया : मध्ययुगीन सन्त : विचार और साधना- पृ० २५४।

५. सं० परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य, ३८२।

६. सन्त सुधा सार, पृ० ६२२।

७. तुलसीदास : विनय पत्रिका, पद ८८, पृ० १५८।

कमलो को भजो और पाखण्ड, चतुराई छोडो।[1] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मन की समस्त प्रवृत्तियों का चित्रण दोनों में समान रूप से परिलक्षित होता है।

पंचेन्द्रिय नियंत्रण तथा विषय सुख त्याग :

सिद्धि प्राप्त करने के लिए पाँचो इन्द्रियो का नियंत्रण आवश्यक है। चंचल इन्द्रियाँ विषयों की ओर बरबस उन्मुख होती है जिससे शुद्धात्मा की अनुभूति नही होती है। विषयों मे आसक्त इन्द्रियो के मोह मे जब जीव आ जाता है तो वह आत्म-स्वरूप को पूर्णतया विस्मृत कर देता है।[2] जबकि विषय सुख अस्थायी तथा क्षणिक है अधिक से अधिक दो दिन ठहरनेवाला है। फिर तो दु:ख की ही परिपाटी है। कवि कहता है कि आत्मा को कुल्हाडी मारकर हे जीव तुम उससें मत भूलो।[3] सिद्धो ने इन्द्रियो और उनके विषयो का वर्णन पच महाभूतों के सदर्भ मे ही किया है। सिद्ध सरह इन्द्रिय विषयो से युक्त मन को ध्यानी बुद्धो या पंच जिन में आबद्ध करने का उपदेश देते है। इन्हीं विषय-परक इन्द्रियो को उन्होंने जन्म तथा मरण रूपी संसार का कारण माना है तथा उसमे प्रवेश का निषेध किया है। उनके विचार से जगत् का प्रवाह अज्ञ पुरुषों को बहा ले जाता है। इसी को भवमुद्रा भी कहा जाता है जो कल्मष युक्त होने के कारण परमार्थ से वंचित है। उसी के कारण काम, लोभ आदि की उत्पत्ति होती है तथा मन्त्र और तन्त्र भी उसी के कारण मलिन हो जाते हैं। अतः इन्द्रियो का विलयन आवश्यक है क्योकि वे ही ससार की विधायिका हैं। इन्द्रियमय यह ससार मृगतृष्णा है। आकाश जल मात्र है जिसमें तत्त्व नही है।[4]

हिन्दी के भक्त कवियो ने जगह-जगह मन को विषय वासनाओं से बचने की चेतावनी दी है क्योकि इन्द्रिय विषयो मे लिप्त रहने के कारण आदि से

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार पृ० २८।

२. पंचहि वहिर णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासुण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥ ४५ ॥ पाहुड दोहा।

३ विसय सुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पा खंधि कुहाडि ॥ १७ ॥ पाहुड दोहा।

४. बागची : चर्या-गीति-कोष, दो० १८, १८६, दोहा २२, पृ० १८६, चर्या ४१।

अन्त तक मनुष्य सुकृत नही करता । वह माया, मोह, मात्सर्य में चित्त को तल्लीन रखता है । दादू कहते है कि मन और इन्द्रियो के प्रसार को रोककर, अन्तर में एक सहज सुख को रखना चाहिए । तुलसीदास इन्द्रियों के स्थान पर मन को ही अधिक संबोधित करते है क्योकि मन ही इन्द्रियों मे प्रमुख है । वह सहज सुख को छोडकर इधर-उधर भ्रमता रहता है । सूरदास तो विषय वासनाओं के पीछे भागने वाले व्यक्ति को कूकर, सूकर से भी तुच्छ मानते हैं ।

नाथो तथा भक्तों की साधना मे सिद्धों और जैनियों जैसी मन की परिकल्पनाये मिलती है । योग साधना से लेकर भक्ति भावना तक चंचल मन को वश मे करने के लिए अनेक उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं ।

बाह्याडम्बर :

भारतीय चिन्तन मे वैदिक काल से ही दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—एक कर्मकाण्ड बहुल प्रवृत्ति, दूसरी कर्मकाण्ड विरोधी प्रवृत्ति । जैन तथा बौद्ध दर्शन कर्मकाण्ड विरोधी दर्शन थे यद्यपि बाद म इनमे भी अनेक तरह की कर्मकाडी क्रियायें प्रविष्ट हो गयी । सातवी-आठवी शताब्दी में जैन रहस्यवादी सन्तों ने इस बाह्यानुष्ठान तथा कर्मकाण्ड का डटकर विरोध किया । उनकी दृढ मान्यता थी कि तीर्थ-तीर्थ भ्रमण करने से मोक्ष नही होता । तीर्थों म घूमनेवाला ज्ञान रहित व्यक्ति मुनिवर नही होता ।[1] जब शरीर में ही आत्मा का निवास है तो अन्यत्र खोजने की आवश्यकता ही क्या है ? देवालय की निर्जीव पाषाण मूर्ति, तीर्थों का जल, पुस्तकों (धर्म ग्रन्थो) का काव्य, सभी उस सजीव पुष्पित पल्लवित होने वाले (वृक्ष) जिसे तोडकर नष्ट किया जाता है के समक्ष तुच्छ हैं । अतः उचित तो यह होगा कि उसी शिव को यहाँ चढा दिया जाय ।[2] तीर्थों मे जाकर अधिक से अधिक बाहरी चर्म को धोया जा सकता है । आत्मा को निर्मल करने में तीर्थ के जल काम नहीं आते । पाप से

१. तित्थइं तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्ख ण होइ ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइण सोइ ॥८५॥

परमा० द्वि० महा०, पृ० २२७ ।

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वहि ।
जसु कारणि तोड़हि तुहुं सोसिउ एत्थु चडाहि ॥१६०॥ पाहुड दोहा ।

२. देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइ कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधण होसइ सव्वु ॥ १६१ ॥ पाहुड दोहा ।

मलिन इस मन को धोना अधिक आवश्यक है।[1] क्योंकि जब तक मन मलिन रहता है, जप, तप, संयम, शील, सभी अकारथ हो जाते है।[2] रागादि मलो से रहित शुद्ध चित्त मे परमात्मा का निवास रहता है। वह न देवालय में है, न पाषाणमूर्ति में, न लेप मे और न चित्त में।[3] जैन मुक्तक कवियों ने अद्वैत भाव पर इतना अधिक जोर दिया कि पूज्य और पूजक का भाव स्वतः ही विलीन हो गया है। फिर कौन किसी पूजा करे। मुनियों ने इसे समरसी अवस्था कहा है। इस अवस्था मे जीव परमआनन्द में विचरण करने लगता है और स्पर्श-अस्पर्श, भिन्न-अभिन्न आदि द्वैतपरक अनुभूतियाँ नष्ट हो जाती हैं।[4] इस स्थिति मे समाधि और अर्चन पूजन करने की सुध किसको रहती है। सर्वत्र आत्मा ही दिखाई देता है।[5]

वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध मे उठनेवाला जैन धर्म कालान्तर में स्वयं अत्यधिक कर्मकाण्डी तथा आचारपरक हो गया। यहाँ तक कि इसमें अप्राकृतिक अतिरंजनायें जुड़ती गयी। जैन मुनि केशलुंचन, मयूरपंख, लिंग ग्रहण आदि पर अत्यधिक जोर देने लगे थे। आणंदा इसी पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

> केइ केस लुचावहिं, केइ सिर जट भारु।
> अप्प विंदु ण जाणहिं, आणंदा किम जावहिं भवपारु ॥६॥

योगसार मे जोइन्दु का मत है कि पढ़ना धर्म नहीं है पुस्तक और पिच्छिका

---

१. तित्थइं तित्थ भमेहि बढ़ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहं मइलउ पावमलेण ॥ १६३ ॥ वही।

२. वउ तव संजमु सीलु जिय ए सव्वइं अकयत्थु।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥३१॥ योगसार।

३ देउ ण देउले णवि सिलए णविलिप्पइ णविचित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥ १२३ ॥

४. मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥
परमात्म प्रकाश, प्र० महा० पृ० १२५।

५. को ? सुसमाहि करउँ को अचंउ छोपु, अछोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥४०॥
योगसार

धारण करना, मठ में प्रविष्ट होना मस्तक पर के बालों का लुंचन आदि धर्म के अन्तर्गत नहीं आते।[1] आत्मा ही संयम शील, सब कुछ है। इसके अलावा व्रत, तप, संयमशील तथा रत्नत्रय गुण भार स्वरूप है। भीतर भरा हुआ मल बाह्य स्नान से परिष्कृत नहीं होता—

> भिंतरि भरिउ पाउमलु मूढ़ा करहिं सण्हाणु।
> जो मल लाग चित्त महि, आणंदा किम जाई सण्हाणि ॥[2]

महयंदिण मुनि के अनुसार मस्तक मुडाना धर्म नहीं है और अंग में राख लगाने से कोई लाभ नहीं। इन परिपाटियों को छोड़कर मन वचन तथा कर्म की स्फुटता वास्तविक धर्म है—

> धम्मु ण मत्थइ मुंडियई, अंगिन लग्गइ छारि।
> मण वय कार्याहि होय फुडु, परि हरियइ परिवारि ।१८८।[3]
>
> (दोहा पाहुड)

सिद्ध साहित्य में सहज की साधना पर बल दिया गया है इसलिए वहाँ तंत्र-मंत्र अप्रभावशाली हो जाते हैं। तीर्थ, तपोवन, तथा जल स्नान सभी व्यर्थ हो जाते है। इसलिए सरह इन झूठे बंधनों को त्यागने का उपदेश देते है। काण्हपा गा गाकर कहते हैं कि तंत्र-मंत्र कुछ नहीं करना चाहिए।[4] उन्होंने सभी सम्प्रदायों में प्रचलित कर्मकाण्डों का बड़े तीखे स्वर में विरोध किया। उनका कहना है कि मिट्टी पानी तथा कुश लेकर अग्नि में होम करने से दुनियाँ का रहस्य नहीं जाना जा सकता। होम का धुँआ केवल आँख को दुखित करता है। वैदिक धर्म का धुरन्धर पंडित जिसे समाज ब्राह्मण के रूप में पूजा करता है उसे भी यह भेद ज्ञात नहीं है।[5] शैव साधु भी दुनियाँ के झमेले में पड़े है। ये शरीर मे भस्म लगाकर मस्तक पर जटा का भार ढोते रहते है। आँख-बंद करके आसन लगाते है और रंडी-मुंडी तरह-तरह का रूप धारण करके घूमते रहते हैं। जैनियो की दशा तो और विचित्र हो गयी है। यहाँ बड़ा बड़ा

---

१. धम्मु ण पढ़ियइं होइ, धम्मु ण पोत्था पिच्छियइं।
धम्मु ण मढिय पएसि, धम्मु ण मत्था लुञ्चियइं ॥४७॥ योगसार।

२. आणंदा (आनन्द तिलक) दोहा नं० ४।

३. दोहा-पाहुड—महयंदिण मुनि (अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद) दोहा १८८।

४. एक्कु ण किज्जइ तन्त ण मन्त। बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १९९।

५. वही पृ० १८८।

नाखून रखनेवाला, शरीर के रोओं को उखाड़कर फेकनेवाला तथा सदैव नग्न घूमनेवाला व्यक्ति जैन साधना का शीर्षस्थ मुनि माना जाता है। सरह ने इन पर अत्यधिक चुभनेवाला व्यग्य किया। उन्होंने तर्क दिया कि यदि नग्न रहने से मोक्ष मिलता है तो शृगाल तथा कुत्तो को भी मोक्ष मिलना चाहिए। लोम उखाड़ने से तथा पृच्छिका धारण करने मे मोक्ष संभव है तो युवति के नितब तथा मोर को भी वह सुगति मिलनी चाहिए।[१] क्योकि सृष्टिकर्त्ता की दृष्टि मे सभी समान ही हैं। क्षपणों के द्वारा कल्पित यह मोक्ष यदि सभव भी हो तो यह सरह को मान्य नही है।[२] बौद्धो की भी समान दुर्दशा है। कोई परिव्राजक का वेष धारण करके घूमता है कोई स्थविर भिक्षु को उपदेशित करता है। कोई बेचारा सम्यक् दृष्टि तथा निर्वाण के लिए परेशान है। लेकिन सहज को छोड़कर निर्वाण के लिए दौडना व्यर्थ है। इनमे कोई भी परमार्थ नही प्राप्त करता।[3] तिलनोपाद तीर्थ सेवा तथा देव पूजा का खण्डन करते है। उनके विचार से तीर्थ तथा तपोवन की सेवा नही करनी चाहिए क्योकि देह की शुचिता से शान्ति नही मिलती। और न देव पूजा से मोक्ष मिलता है।[४] काण्हपाद कहते है मंत्र-तंत्र एक भी न करो अपनी घरिणी (प्रज्ञा) को लेकर केलि करो।[५] सिद्ध संप्रदाय मे ही कुछ लोग ऐसे थे जो सिद्धो की पद्धति का मजाक उडाते थे। तन्त्रो मे एक स्थान पर कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान से मुक्ति मिल सकती है तो सभी मद्यपी मुक्त हो जाते। यदि केवल स्त्री सग से मुक्ति मिल सकती है तो संसार में कौन है जो मुक्ति से बच जाता।[६] वे

---

१. यदि णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमु (उ) पाड़णें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बअ ॥७॥
बागची, चर्यागीति कोष, पृ० १८८।

२. सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किम्पि ण भावइ।
तत्त रहिअ काआ ण ताव पर केवल साहइ ॥६॥ वही

३ सहज छड्डि जो णिव्वाण भाविउ। णउ परमत्थ एक्क तें साहिउ ॥१३॥
वही पृ० १८८।

४. तित्थ तपोवण म करहु सेवा। देह सुचिहिण सान्ति पावा ॥१६॥
देव म पूजहु ति (त्थि) ण जावा। देवपूजाहि ण मोक्ख पावा ॥२१॥
वही पृ० १८५।

५ एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त। णिअ घरिणि लइ केलि करन्त ॥
वही, १६६।

६ डॉ० धर्मवीर भारती · सिद्ध साहित्य पृ० २०२।

वाह्य पद्धतियों के बौद्ध रूप को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हुए भी चित्त साधना पर विशेष बल देने थे।

सन्त कवियो मे बिल्कुल उसी शैली तथा उसी शब्दावली ने वाह्य अनुष्ठानों का विरोध दिखाई देता है। मलूकदास क्रिया, कर्म, आचार्य को भ्रम तथा जगत् का 'फन्दा' बताते हैं। मलूकदास रामसिंह की बात को इस तरह व्यक्त करते हैं हरी डाल को मत तोडिये उन्हे भी अपने ही समान समझिये।[1] कबीर ने सरहपाद के समान ही योगी, यती, जटाधर, उदासी, पंडित, शाक्त, शैव, तथा मुनि आदि के बाह्य वेशो तथा पाखण्डो की निरर्थकता बतलायी है।[2] अब काज़ी, मुल्ला जो मुस्लिम धर्म के ठेकेदार थे वे भी पाखंडियों की जमात मे सम्मिलित कर लिये गये किन्तु सन्त साहित्य मे पडितों के ऊपर सबसे अधिक आक्रमण किया गया है। इसका प्रमुख कारण है कि १४-१५वीं शताब्दी तक अन्य धर्मो की धारा क्षीण हो गयी थी किन्तु ब्राह्मण धर्म अब भी अधिक लोकप्रिय था। कबीर आदि वेद विरोधी धारा के साधक माने भी जाते हैं। वास्तव में कर्मकाण्डो तथा बाह्याचारो के विरोधी स्वर हमे उपनिषदो मे ही ध्वनित होते दिखायी देते है। क्रांतिदर्शी जैनियो तथा सिद्धों ने इस स्वर को और प्रखर कर दिया। सन्तों में तो यह जोरदार फटकार तथा चुभनेवाले व्यग्य के रूप में बदल गया। कर्मकाण्ड विरोधी चिन्तन परम्परा के अन्तर्गत आनेवाले सन्तों तथा भक्तों की बात ही और थी तुलसी तथा सूर मे भी विरोध की स्पष्ट अनुगूँज सुनाई देती है।'

हिन्दी के भक्तो में सिद्धों की तरह आचार तथा अनुष्ठान संबंधी दोहरा दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। भक्ति भाव को अधिक गंभीर और अटल बनाने मे सहायक अनुष्ठानो को यहाँ भी मान्यता दी गयी है।

पुस्तकीय ज्ञान :

जिस प्रकार वाह्य अनुष्ठानो से परमार्थ का ज्ञान नही होता उसी तरह पुस्तकीय ज्ञान से भी। जोइन्दु का कहना है कि शास्त्र की जानकर तथा उसके

---

१. हरी डाल न तोड़िये लागै छूरा बान।
दास मलूका यौं कहै अपना सा जिय जान॥

मलूकदास की बानी, पृ० २०, ३७।

२ स० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० ३८०, ३८७।

अनुकूल आचरण करके व्यक्ति परमार्थ को नही जानता। शास्त्र को पढते हुए भी जो विकल्प नही त्यागता वह देह में बसनेवाले निर्मल परमात्मा को नही पा सकता।[1] मुनि रामसिंह के मत से श्रेष्ठ पडित कन (दाने) को छोडकर तुस को कूटते हैं वे ग्रन्थ के अर्थ से ही सन्तुष्ट रहते है किन्तु वे मूढ़ हैं उन्हे परमार्थ का ज्ञान नही होता।[2] पाहुड दोहा मे अन्यत्र वे लिखते है 'मूर्ख' अधिक पढने से क्या लाभ, ज्ञान तिलिंग को सीखो जिसके प्रज्वलित होने पर पुण्य और पाप क्षण भर मे नष्ट हो जाता है।[3]

सरहपाद कहते है गुरु के उपदेश-अमृत को छोड़कर शास्त्रो के मरुस्थल मे तृषित होकर अज्ञानी मरता है।[4]

काण्हपाद आगम, वेद, पुराण को ढोनेवाले पडितों को ऐसे भ्रमर के समान मानते है जो श्रीफल के चारो ओर चक्कर काटते रहते है और रस पान से वंचित रहते है[5]—

हिन्दी के सन्त कवि इस पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता को उतने ही कठोर शब्दो मे प्रस्तुत करते है जितने कठोर शब्दो मे जैन कवियो तथा सिद्धो ने व्यक्त किया था। कबीर कहते है पोथी पढ़ते-पढते ससार मर गया किन्तु कोई वास्तविक पंडित नही हुआ। जो प्रिय के नाम का एक ही अक्षर पढ लेता है वही पडित हो जाता है। शास्त्र के अध्ययन से अच्छा तो योग है। इसलिए पुस्तक फेंककर राम मे चित्त लगाना चाहिए।[6]

---

१. बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥८२॥
सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥८३॥
(परमा० द्वि० पृ० २२३-२२४)

२. पंडिय पंडिय पंडिया कणु छडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढ़ोसि ॥ पाहुड दोहा, ८५

३. णाणतिडिक्की सिक्खि बढ़ किं पढियंइ बहुएण।
जा सुधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण ॥८७॥ वही

४. बागची सरहपादानाम् चर्यागीति कोष, पृ० १६१।

५. काण्हपादानाम्, वही, पृ० १६७।

६. कबीर पोथी पढि पढि जग मुवा पडित भया न कोइ।
एकै अषिर पीव का, पढै सु पंडित होइ ॥

पुण्य और पाप दोनों त्याज्य :

सामान्य धार्मिक पुरुष अपने व्यवहारों तथा कार्यों में कृत्य अकृत्य पर इसलिए अधिक ध्यान देता है कि उसे पुण्य-पाप की विशेष परवाह रहती है। उसकी यह प्रक्रिया स्वर्ग-नरक की धारणा से परिचालित रहती है। रहस्यवादी की चिन्तना इससे भिन्न होती है। वह तो अपने ही सच्चे रूप को पहचानने के लिए बेचैन रहता है। वह कर्मों के बंधन से मुक्त होकर आवागमन से छुटकारा पाना चाहता है और उस परम ज्योति के साथ तद्रूपता स्थापित करने के लिए लालायित रहता है। इसलिए वह पाप-पुण्य दोनो को त्याज्य मानता है। जो जीव पुण्य और पाप दोनो को समान नही समझता वह चिरकाल तक दुख सहता हुआ लोक के अन्तर्गत मोहग्रस्त होकर घूमता रहता है।[1] जोइन्दु मुनि उसे सच्चा पंडित मानते है जो पुण्य को भी पाप कहता है। उनका कहना है पुण्य मे विभव होता है, विभव से मद होता है, मद से बुद्धि मोहित होती है मद मोह से पाप होता है।[2]

मुक्ति-मोक्ष या निर्वाण :

मोक्ष शब्द मुच् धातु से बना है जिसका अर्थ है छूटना। किन्तु दार्शनिक स्तर पर मोक्ष का अर्थ विभिन्न दर्शनो मे भिन्न-भिन्न मिलता है। बौद्ध मतावलम्बियो ने निर्वाण को दो प्रकार का माना—सोपाधिशेष जो शरीर रहते होता है।[3] निर्वाण निरुपाधि शेष जो शरीर पात के बाद होता है। विज्ञानवादियो तथा योगाचारियों के अनुसार जीव या प्राणी पर चढ़े हुए आवरणों की निवृत्ति से मोक्ष लाभ होता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव निसर्गतः मुक्त है

कबीर मैं जान्यू पढिबौ भलौ पढिबा थैं भलौ जोग।
राम नाम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ॥१॥
—मा० प्र० गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० ६५।

१. जो णवि मण्णइ जीव समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहन्तु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥५५॥
—परमात्म प्रकाश, पृ० १९५।

२. जो पाउवि सो पाउ मुणि सव्वुइ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुहः को वि हवेइ ॥७१॥
—योगसार, पृ० ३८६।

३. डॉ० रामनारायण पाण्डेय : भक्ति काव्य मे रहस्यवाद, पृ० ३२४।

पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। समस्त कर्मों के क्षय को मोक्ष के नाम से पुकारा जाता है। जोइन्दु द्वारा वर्णित आत्मा की तीसरी अवस्था जिसे परमात्मा कहते है मोक्ष की अवस्था है। परमात्म पद तथा मोक्ष मे कोई अन्तर नहीं है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मों से मुक्ति पाना आवश्यक है। योगसार मे जोइन्दु मुनि कहते है कि यदि कोई बाह्य चतुर्गति से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे परभाव को छोड़कर निर्मल आत्मा का ध्यान करना चाहिये जिससे शिव सुख का लाभ हो सके।[1] मोक्ष प्राप्ति के लिए बाह्य प्रयत्नो तथा क्रिया विधानो की जरूरत नहीं होती। आत्मा के शुद्ध, सचेतन रूप का ज्ञान ही मोक्ष के लिए पर्याप्त है।[2] आनन्द तिलक कहते हैं कि ध्यान सरोवर के अमृत जल में मुनिवर स्नान करें। आठ कर्म मल को धोकर निर्वाण प्राप्त करे।[3] उन्होंने भी जोइन्दु की तरह ही आत्मा को सब कुछ माना। जो आत्मा को उसके सच्चे रूप मे पहचान लेता है वह निर्वाण का अधिकारी बन जाता है।[4] सिद्धो के अनुसार भव का ज्ञान ही निर्वाण है।[5] समस्त जग जब काया, वाणी तथा मन आदि से मिलकर विस्फुरित होता है तब महासुख तथा निर्वाण का एक साथ ग्रहण होता है।[6] हिन्दी के सन्त कवि आत्मा और परमात्मा की अद्वैत अनुभूति या

---

१. जइ बीहिउ चउ-गइ-गमणा तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव सुक्ख लहेहि ॥५॥
योगसार, पृ० ३७२।

२. सुद्ध सचेयणु बुद्ध, जिणु केवल णाण सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव लाहु ॥२६॥ वही, पृ० ३७६।

३. झाण सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अट्ठकम्ममल धोवहि आणन्दा रे। णियडा पाहु णिव्वाणु ॥५॥ आणंदा।

४. अप्पा संजमु सील गुण अप्पा दसणु णाणु।
वउ तउ संजम देउ गुरु आणन्दा ते पावहि णिव्वाणु ॥२३॥ आणदा।

५. जो भव सो णिव्वाणु खलु स उण मण्णहु अण्ण।
एक्क सहावें विरहिअ मई पडिवण्ण ॥१०२॥
चर्यागीति कोष, पृ० १६५।

६. सब जगु काअ-वाअ मण मिलि विफुरइ तहिसो दुरे।
सो एहु भङ्गे महासुह णिव्वाण एक्कु रे ॥२७॥
वही- पृ० १६६।

साक्षात्कार को मोक्ष मानते है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए माया का निरास होना आवश्यक है। इन पर जैन सिद्ध एव नाथ की अपेक्षा वेदान्त का अधिक प्रभाव है। वेदान्त मे कही-कही आत्मा और परमात्मा मे अंश और अशी का सम्बन्ध माना गया है। जीव माया के अधीन होकर अपने सच्चे रूप को विस्मृत कर देता है। माया का आवरण हटते ही वह अशी परमात्मा मे लीन हो जाता है। कबीरादि सन्तो ने इसे पानी, नमक, नदी, समुद्र, कुम्भ के जल और समुद्र के जल के माध्यम से समझाया है। अन्य सगुण भक्त भगवान् के निकट उनका किंकर या सेवक बनकर सामीप्य मुक्ति चाहते है।

सहज साधना :

सहज शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होना आ रहा है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत वेदो मे वर्णित निव्युत्तीय, अथर्ववेद मे वर्णित व्रात्य को सहज का अनुयायी मानते है। जैनो ने सहज को समाधि के साथ संयुक्त करके प्रयुक्त किया। आणदा ने कहा कि आत्मज्ञान के लिए अहंकार का परित्याग आवश्यक है। आत्मा को सहज समाधि से जाना जा सकता है।

सहज सरोवर में रमण करने से सभी पाप शान्त हो जाते है :—

सहज सरवइ जइ रमहि तो पावहि सव सन्तु।[1]

जैन-काव्य मे परम समाधि, परम सुख सहज स्वरूप करीब-करीब एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। सिद्धो ने सहज शब्द का प्रयोग प्रायः उसी अर्थ मे किया है जिस अर्थ मे शून्य का। सिद्ध साधना मे सब कुछ सहज से जुड़ गया है शब्द, सहज शब्द हो गया, ज्ञान सहज ज्ञान हो गया, तत्त्व सहज तत्त्व हो गया। यही नही समाधि, काया, साधना पथ, नैरात्म्य ज्ञान रूपी सुन्दरी सभी सहज हो गये। यह सहज परम तत्त्व के रूप मे है। काण्हपा इस तत्त्व को अच्छी तरह से जानते है। अन्य लोग शास्त्रागम आदि पढ़, सुनकर इसे जानना चाहते हैं इसलिए यह उनके लिए दु साध्य है।[2] सहज मे जो निश्चल हो जाता है उसका आवागमन टूट जाता है। उसका मन समरस मे विराजने लगता है।

---

१ योगसार, पृ० ३६० ।

२. सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड काणहु परिजाणइ।
सत्थागम बहु पढइ सुखाइ बढ़ किम्पि ण जाणइ ।।
बागची · चर्यागीतिकोष पृ० १६८ ।

समस्त गूढ साधना सम्बन्धी समस्याओं का समाधान गुरु के द्वारा हो सकता है। किन्तु सहज रूपी परमतत्त्व तो ऐसा है जो अनिर्वचनीय है। उसमें तो ऐसे अमृत रस की उपलब्धि होती है जिसका आस्वादन करके साधक अपने आपको विस्मृत कर देता है। शिष्य में कुछ समझने की चेतना ही नही रहती।[१] सहज साधना से चित्त विशुद्ध हो जाता है। सहज तत्त्व पवन के बहने से हिलता नही। आग के जलने से जलता नही। घन के बरसने से भीगता नही। न उत्पन्न होता है और न मरता है।[२] हिन्दी सन्त साहित्य मे सहज का यही विस्तार तथा यही अर्थ मिलता है। सन्तों ने कही-कही इसे भक्ति भावना के अनुरूप परिवर्तित भी करने का प्रयास किया है। कबीरदास ने सहज को शून्य के पर्याय मे ग्रहण किया है और कहीं-कहीं शून्य की विशेषता के रूप में सहज शून्य कहा है। सहज शून्य मे समरता या समदृष्टि का चित्रण भी मिलता है।[3] कबीरदास की सहज सम्बन्धी व्याख्या निम्न पंक्तियों मे मिलती है—

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्हे कोय।
जिन सहजै विषयातजी, सहज कहीजै सोय॥

+ + +
+ + +

सहजै सहजै सब गए सुत वित कामणि काम।

+ + +

जिन सहजै हरिजी मिले, सहज कहीजै सोय॥

डॉ० त्रिगुणायत ने इन साखियो के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कबीर ने परम्परागत सहजवाद की उपेक्षा की है और दूसरी ओर उसके स्वरूप का अपने ढंग पर निरूपण किया है।[४] किन्तु प्रस्तुत साखियो से

---

१. णउ तम्वाअहि गुरु कहइ णउ तम्वुज्झइ सीस।
सहज अमिअरसु सअल जगु कासु कहिज्जइ कीस॥ वही, पृ० १८७।

२. पवण वहन्ते न सो हल्लइ, जलण जलन्ते न सो डज्झइ।
घण वरिसन्ते णउ सो तिम्मइ, ण उवज्जइ (वड्ढइ)
णउखअहि पइस्सेइ॥
वही, पृ० १८७।

३. सहज सुनि इकु बिरवा उपजि। धरती जल हरु सोखिया।
—कबीर ग्रंथावली

४. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा पृ० ४०५।

नाद को श्रवण करने का आदेश देते हैं। यह नाद इन्द्रिय-वशीभूत मूढ़ को सुनाई नहीं देता।[1] योगीन्दु मुनि नासाग्र पर ध्यान टिकाकर परमात्मा को जाननेवाले व्यक्ति को जन्म से मुक्त मानते है।[2] कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करके सुषुम्ना नाड़ी के पथ से जीवात्मा को सहस्रार चक्र मे ले जाकर जीवात्मा को गगन मण्डल स्थिति शिव से मिला देना समरस या सामरस्य है। शिव और शक्ति का वर्णन करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं कि शिव और शक्ति की एकता के बिना न तो मोह विलीन होता है और न ससार का ज्ञान ही होता है।[3]

सम्पूर्ण सिद्ध काव्य मे यह मान्यता प्रतिपादित की गयी है कि जो बाह्य सृष्टि तत्त्व है उसे शरीर के अन्दर ही साक्षात्कृत किया जा सकता है। सिद्ध काण्हपा का विचार है कि पृथ्वी, आप, तेज, समीर तथा गगन इन पंच तत्त्वो से देह का निर्माण हुआ है। ये पंच तत्त्व बीज रूप है इन्ही से सुरासुर पैदा होते हैं।[4] यह बोधिचित मे अक्षोभ वैरोच रूप में स्थित है। इस बोधिचित को साधारणतया नहीं जाना जा सकता। योग साधना से जब गगननीर (महासुख रूपी) अमिताभ रूपी पंक का सृजन करता है तब यह वज्र रूपी सुख स्वभाव अवधूती रूपी मूल नाल पर चतुशू्न्य कमल के रूप मे खिलता है।[5]

सिद्धों ने योगाचार की ध्यान (झाण) साधना तथा हठयोग की प्रचलित साधना को मिश्रित तथा परिष्कृत करके उसे 'बोल कक्कोल', साधना के रूप

---

१ मुनि रामसिंह : पाहुड दोहा-१८२, दोहा १६८।

२. णासग्गि अभिन्तरहं जो जोवहिं असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण सम्भवहिं पिवहिं ण जणणी खीरु॥ ६०॥
योगसार, पृ० ३८४।

३. मुनि रामसिंह : पाहुड दोहा, दो० ५५।

४. गअण-समीरण-सुहवासे पञ्चेहिँ परिपुण्ण ए।
सअल सुरासुर एहु उअत्ति बढ़िए एहु सो सुण्ण ए॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १९७।

५. बोहि चिअ रअभूसिअ अक्कोहेहिँ सिट्ठओ।
पोक्खरविअ सहाव सह णिअ-देहहि दिट्ठओ॥ ३॥
गअण णीर अमिआह पाँक मूल वज्ज भाविअइ।
अवधूइ किअ मूलणाल हुंकारो वि जाअइ॥ ४॥
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १९७।

मे ग्रहण किया। उन्होंने अपनी साधना को प्रज्ञोपायात्मक रूप प्रदान किया। सिद्धो ने 'अर्हन' के स्थान पर एव बीज को ग्रहण किया तथा उपाय और प्रज्ञा को युगनद्ध करना साधना का प्रमुख उद्देश्य माना। योगाचार मे पृथ्वी को अन्तिम धातु माना गया था। सिद्धो ने उसे प्रथम धातु बना दिया और गगन जो पहला था अब अन्तिम हो गया। 'बोल कक्कोल' साधना को रासायनिक अर्थ प्रदान करके सिद्धो ने अपनी मौलिक सूझ का परिचय दिया।

प्रज्ञोपायात्मक घर्षण के द्वारा पंच महाभूतो को अन्तस्थ करना, बोल कक्कोल साधना मे जरूरी माना गया। प्रज्ञा का स्थान कपाल या मस्तक के अन्दर माना गया है जो हिन्दू योगदर्शन के अनुकूल है। हिन्दू योग परम्परा मे चक्रों की सख्या छः मानी गयी है किन्तु इसमे चार ही चक्र है। इन चक्रों को कमल दल के रूप मे परिकल्पित किया गया है निर्माण चक्र मे चौंसठ, धर्मचक्र मे बत्तीस सम्भोग चक्र सोलह और उष्णीस चक्र मे छ. पांखुडी मानी गयी हैं। उष्णीस कमल में चार शून्यो के प्रतीक चार दल माने गये है। काण्हपा कहते हैं कि ललना, रसना रूपी, सूर्य, चन्द्र नाडियों को तोडकर (भेदकर) चार दलो और चार मृणालो वाले कमल को स्पर्श करो जहाँ महासुख का वास है।[1] काण्हपा ने महासुख चक्र को नलिनी वन कहा है। इसमे पहुँचने पर चित्त की द्विविधा नष्ट हो जाती है।[2]

इन चक्रो का वेधन नाडियो से होकर किया जाता है। विभिन्न योग सम्प्रदायों मे नाडियों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी गयी है। किन्तु मुख्य नाड़ियाँ तीन ही है। सिद्धों ने इन नाडियों का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। ये नाड़ियाँ है ललना, रसना तथा अवधूती। ललना नाडी बाये नासापुट के पास गयी हैं और रसना दक्षिण नासापुट के पास है। ललना, रसना को इडा पिंगला भी कहते हैं। इन दोनों के मध्य अवधूती नाडी है। ललना में शुक्र प्रवहमान है तथा रसना में रज, अवधूती अद्वैत रूपी बोधिचित्त का वहन करती है। इसे सहज पथ या सहज सुन्दरी भी कहा जाता है। सिद्धों ने इसे जोगिनी के रूप में सम्बोधित किया है। सिद्ध काव्य में अवधूती के दो रूप मिलते हैं :—

---

१. ललणा रसणा रवि ससि तुड़िअ वेण्ण वि पासे।
पत्तो चउट्ठ चउमूणाल ठिअ महासुह वासे॥ ५॥
वही, पृ० १६७।

२ कान्ह विलसअ आसवमाता।
सहज नलिनीवन पइसि निविता॥ बागची, चर्यागीतिकोष, पृ० ३०।

१—परिशुद्धा अवधूती ।
२—अपरिशुद्धा अवधूती ।

वायु निरोध :

अपान वायु से प्रज्ज्वलित होनेवाली कालाग्नि जब निम्नगामी होती है तो उसके तेज से शुक्र जलकर सूख जाता है । इससे मनुष्य की शक्तियो का ह्रास होता है । इसलिए वायु का निरोध अत्यधिक आवश्यक है । सरहपाद का कथन है कि जब वायु निरुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है तो योगी का काल कुछ भी नही बिगाड पाता ।[1] नियन्त्रित वायु मे तल्लीन होकर चंचल चित्त मृत हो जाता है अर्थात् उसकी गतिमयता समाप्त हो जाती है और वह विशुद्ध हो जाता है । लुईपा कालाग्नि को केवल काल नाम से पुकारते है और उसे चंचल चित्त मे प्रविष्ट मानते है ।[2]

चाण्डाली योग :

लिंग और गुदा के समीप की मांसपेशियो का संकुचन करके एक प्रकार का मूलबन्ध भी किया जाता है । इस मणि मूलबन्ध के कारण चन्द्र और दिवाकर रूपी ललना और रसना का निरोध हो जाने से अंधकार हो जाता है । कालाग्नि का भी क्षय हो जाता है । तब उस समय अवधूती का उद्घाटन होता है और चन्द्राग्नि का भी आलोक ऊपर की ओर उठता है और उससे बोधि चित्त मणि की भाँति जगमगा उठता है ।[3] धामपा चान्डाली योग के साथ समता योग की भी चर्चा करते हैं । इस योग में साधक कमल कुलिश के मध्य में लीन हो जाता है । डोम्बी नाड़ी में राग दाह से आग प्रज्ज्वलित हो जाती है फिर साधक शशहर (विशुद्ध) चित्त के द्वारा उस आग को बुझाने लगता है । यह ज्वाला भौतिक ज्वाला से भिन्न है । इसमे ज्वलन शक्ति नही है । न तो इसमे से धुँआ निकलता है जो नयनों को पीडित करे । यह अग्नि प्रसरित होकर सुमेरु शिखर मे जाकर गगन में प्रविष्ट हो जाती है । इसके

---

१. पवण वहइ सो णिच्चलु जब्बे । जोइ कालु करइ कि रे तब्बे ।।६६।।
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १६२ ।

२. काआ तरुवर पन्च वि डाल ।
चंचल चीए पइठा काल ।। बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० १ ।

३. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य पृ० २१७ ।

द्वारा हरिहर, ब्रह्मा, भामना, क्लेश आदि जल जाते हैं। फिर पच इन्द्रियो से पानी पहुँचता है।[१] चण्डाली प्रज्वलित होने के बाद साधक काय, वाक् और चित्त को वज्र बनाकर अवधूती को वधू के रूप मे ग्रहण करता है।

सिद्धों की योग साधना मे विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षण चार क्षण, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द, सहजानन्द चार आनन्द माने गये हैं। इन आनन्दो को प्राप्त करने के लिए कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा चार मुद्राये मानी गयी है। मुद्रा का शाब्दिक अर्थ है मुद्+ददाति अर्थात् आनन्द देनेवाली। सिद्धो ने मुद्रा को नारी रूप माना। प्रारम्भ मे इसका नैरात्मा या प्रज्ञा के रूप मे आध्यात्मिक अर्थ था किन्तु बाद मे भौतिक अर्थ की प्रधानता हो गयी।' महामुद्रा की यह साधना सब से कठिन साधना मानी जाती थी और इसी साधना मे निष्णात होने के उपरान्त ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों मे होती है।[२]

देह का महत्त्व :

रहस्यवादी मुक्तको मे योगपरक मान्यताओ के कारण देह को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योकि चित्त या आत्मा का देह के अन्दर ही साक्षात्कार हो सकता है। आनन्द तिलक का कथन है कि अरसठ तीर्थों मे मूर्ख भ्रमण करता हुआ मर जाता है किन्तु आत्म विन्दु को नही जानता। इस घट (शरीर) मे अनन्त देवताओं का निवास रहता है।[3] साधना के लिए शरीर को साधन तो बनाया जा सकता है किन्तु स्थूल शरीर को ही सब कुछ मान लेना ठीक नही है। क्योंकि शरीर की सजावट, उबटन, तेल, सुमिष्ट आहार आदि दुर्जन के प्रति किये गये उपकार की तरह निरर्थक हो जाते है अन्ततः

१. कमलकुलिश माझे भवइ लेली। समताजोएँ जलिल चण्डाली ॥
डाह डोम्बी घरे लागेलि आगि (गी)। ससहर लइ सिन्चहु पाणी ॥
नउ खर जाला धूम न दिसइ। मेरु शिखर लइ गअण पइसइ ॥
दाढइ हरिहर बाह्म भडारा। दाढ़इ णव गुण शासनपाडा ॥
भणइ धाम फुड़ लेहु रे जाणी। पन्च नाले उठे गेल पाणी ॥
बागची . चर्यागीतिकोष, पृ० १५४।

२. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २२१।

३. अट्ठसट्ठि तीरथ परिभमई मूढा, मरइ भमन्तु।
अप्प विन्दु ण जाणहि, आणदा रे। घट महिं देव अणंतु। आणंदा ॥२॥

शरीर से कुछ उपलब्ध नही हो सकता ।[1] सिद्धो ने भी यह माना कि देह मे ही बुद्ध का वास है । पर मूर्ख उसे जान नहीं पाता । सरहपा कहते हैं कि इस देह मे ही सुरसरि, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी, चन्द्र, दिवाकर, पीठ, उपपीठ सब कुछ है ।[2]

कबीर आदि सन्तो ने इडा पिंगला नाडियों को गंगा यमुना के रूप मे परिकल्पित करके शरीर के अन्दर ही लोक जीवन के विश्वास को मोडना चाहा । जहाँ पर इडा पिंगला तथा सुषुम्ना मिलती है वही त्रिवेनी है । सच्चा साधक वही स्नान करता है । अपभ्रंश मुक्तक काव्य की योगपरक प्रवृत्तियो का हिन्दी मुक्तको पर दोहरा प्रभाव पडा । एक तो स्वीकारात्मक था और दूसरा निषेधात्मक । हिन्दी के सन्त कवियो ने समाधि, पवन निरोध आदि बातो को अपभ्रंश कवियो की तरह महत्त्वपूर्ण माना । सन्तो के काव्य मे सबसे अधिक शून्य महल, शून्य सरोवर, शून्य मण्डल आदि का प्रयोग पाया जाता है । हठयोग साधना में शरीर के अन्दर ही शून्य की स्थिति मानी जा चुकी थी । आकाश (शून्य) मे जहाँ शब्द होता है वही आज्ञा चक्र है ।[3] वहाँ आत्मा मे शिव का ध्यान करके योगी मुक्त हो जाता है । इडा तथा पिंगला नाड़ियो के मध्य भी शून्य माना गया था ।[4] सिद्ध तथा नाथ साहित्य मे प्राप्त वर्णनो से ज्ञात होता है कि शून्य के विविध स्थान माने गये है । आगे आनेवाले सन्तो ने इन शब्दों का इतना अधिक प्रयोग किया कि शून्य गुफा, त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र की वास्तविक स्थिति का पता पाना मुश्किल हो गया । डॉ॰ धर्मवीर भारती

---

१. उब्बलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार ।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिण दुज्जण उवयार ।।१८।। पाहुड दोहा ।

२. एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थु से गंगासाअरु ।
एत्थु पआग वणारसि एत्थु से चन्द्र दिवाअरु ।।४७।।
बागची : चर्यागीतिकोष, पृ १६१ ।

क्खेत्तु पीठ उपपीठ एत्थु मइं भमइ परिट्ठओ ।
देहा सरिसअ तित्थ मइँ सुह अण्ण ण दीट्ठओ ।।४८।। वही

३. आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानम् शिवम् ध्यात्वा योगी मुक्तिमाप्नुयातः ।।
गोरक्ष पद्धति, पृ॰ ८६ ।

४. इडा पिंगलयोर्मध्ये शून्यम् चैवानिलम् ग्रसेत्—
हठयोग प्रदीपिका. पृ॰ १६६ ।

का विचार है कि वे इनकी वास्तविक स्थितियो को भूल गये है और केवल परम्परा निर्वाह के लिए शून्य मण्डल, शून्य गुफा आदि का उल्लेख मात्र कर देते है। यह स्थिति न सिद्धों में है, न नाथो में।[1] सन्तो में इस तरह की सैद्धान्तिकता का अभाव स्वाभाविक ही है क्योंकि उनमे से अधिकतर अनपढ़ थे। उन्होने परम्परा तथा साधुओ की संगति से इन योगिक साधनाओं के संबंध में जाना समझा होगा।

सन्तों ने शून्य का प्रयोग परमतत्त्व के रूप में किया है जो सिद्धो से बिलकुल मिलता जुलता है। किन्तु अब तक त्रिकुटी का महत्त्व अधिक हो गया। मीरा त्रिकुटी महल मे बने झरोखे से झाँकी लगाती है। शून्य महल मे सुरत जमाकर सुख की सेज बिछाती हैं।[2] गुलाल शून्य को नगर का रूपक देते हैं।[3] सन्तों में शून्य के साथ मण्डल का प्रयोग गुह्य साधना के मण्डल चक्र के अनुष्ठानों से प्रभावित जान पड़ता है। सन्तों ने शून्य को अभावग्रस्त नही माना। सिद्धो ने शून्य मे वज्र की स्थिति कल्पित की थी। सन्तों ने उसे राम या शिव का निवास स्थान माना है। रन्ध्र जो सिद्धो के यहाँ वैरोचन द्वार था वह अब ऐसी गुफा बन गया जहाँ से अमृत झरता रहता है।[4]

वज्रयोग मे चंडाग्नि का वर्णन किया जा चुका है। शैवो ने इस चण्डाग्नि को ब्रह्माग्नि नाम से अभिहित किया। नाथो तथा सन्तो में इसके समान चित्रण तो मिलते हैं पर इस नाम का प्रयोग नही मिलता। कबीरदास कहते हैं कि जब दरिया (मन) अग्नि से प्रज्वलित होता है तब जल, स्थल, झील, वृक्षादि दग्ध हो जाते है एवं सभी अमूल्य रत्न विनष्ट हो जाते है।[5] कबीर द्वारा वर्णित वह अग्नि सिद्धो की चण्डाग्नि की तरह ही मन की सारी वासनाओं

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती . सिद्ध साहित्य, पृ० ३४६।

२. त्रिकुटी महल बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन महल मे सुरत जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री॥
मीरा—बृहद्-पद संग्रह, पृ० ३२४।

३. सुन्न नगर में आसन पाई जगमग जोति जगावै।
गुलाल साहब की बानी, पृ० ३२।

४. गगन गुफा के बीच पियाला प्रेम का चाखे।

५. कबीर दरिया प्रजल्या, दाझै जल थल झोल।
बस नाही गोपाल सू, जिनसे रतन अमोल॥१॥
स० ——— गुप्त कबीर ' ग्रंथावली, पृ० १२६।

को भस्म कर देती है। सन्तो में यह अग्नि परमात्मा से वियुक्त आत्मा की वियोगाग्नि बन गयी है।

सिद्धो मे एवं तथा बीज रूप वज्र जाप का विधान था। नाथ सम्प्रदाय ने योग प्रधान साधना पद्धति अपनायी थी अत: उसमें जप का वह रूप स्वीकृत हुआ जो श्वास निरोध के साथ सम्पन्न होता था। इसे नाथ योग में अजपा जाप कहा जाता था। सन्तो ने भी इस 'जाप' परम्परा को अपनाया लेकिन उसका नाम सहज जप रखा। सन्तो के इस सहज जप का प्ररूप नाथो तथा सिद्धो के अजपाजप तथा वज्र जप और वैष्णव सहजिया तत्त्व से मिल जुलकर निर्मित हुआ।

सन्तो मे देह के अन्दर चक और नाडियो की परिकल्पना सिद्धो से पर्याप्त भिन्न है। सिद्धो के चार चक्र के स्थान पर सन्तों ने हिन्दू योग पद्धति के अनुकूल छ चक्रो का वर्णन किया है। सिद्धो ने प्रमुख तीन नाडियो का वर्णन किया है ललना, रसना तथा अवधूती। सन्तो ने शरीर के अन्दर इनकी स्थिति सिद्धो के समान ही मानी है केवल नाम मे अन्तर है। सन्तो ने इनका नाम—इडा, पिंगला तथा सुषम्ना रखा। डॉ० त्रिगुणायत यह मानते है कि कबीर की प्रारम्भिक योग साधना इन्ही तान्त्रिको और हठयोगियो की जटिलतम योग साधनाओ का ही रूपान्तर है।[1] इन सन्त कवियो मे योग द्वारा प्राप्त सम-भाव, अनहदनाद ही परम सत्य नही है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन तथा उस अनहद नाद को बजानेवाला।[2]

निषेधात्मक रूप मे योग का प्रभाव सूरदास, नन्ददास तथा तुलसीदास पर पड़ा। उद्धव-गोपी सवाद में सूरदास ने योग की निन्दा करते हुए उसे कष्ट साध्य बताया है। भंवरगीत मे नन्ददास कहते है कि जिसका कर्म बुरा हो वह पद्मासन को धारण करके इन्द्रियो का हनन करे और योगासन सिद्ध करे।[3]

महासुख या समरसी अवस्था :

योगपरक प्रवृत्तियों में 'समरसी अवस्था' की साधना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शाक्त, शैव, जैन और सिद्ध काव्य मे इसकी अलग-अलग परिकल्पनाएँ मिलती है। वज्रयानी साधना मे प्रज्ञा रूपी स्त्री तथा उपाय रूपी पुरुष का

१. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० २०७।

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ६३।

३. नन्ददास : भंवरगीत, पृ० ८।

सम्मिलन ही समरस या महासुख है। प्रज्ञा और उपाय की साधना आगे चलकर वामाचार में परिवर्तित हो गयी और स्त्री-सुख को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। तान्त्रिक बौद्ध साधना में यह वामाचार अधिक प्रचारित हुआ। शैवों तथा शाक्तों ने शिव और शक्ति के संयोग को ही सामरस्य कहा है।[1] नाथ योगियों के विचार से जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषम्ना मार्ग से षट् चक्रों को वेधती हुई सहस्रार चक्र में स्थित शिव से जा मिलती है, तब समरसता की स्थिति आती है।

जैन कवियों ने मन और परमेश्वर, शिव और शक्ति के मिलन को समरसता माना है।[2] मुनि रामसिंह कहते है कि समरसता की अवस्था में समाधि की जरूरत नहीं होती क्योंकि जिस तरह नमक पानी में विलीन हो जाता है उसी तरह चित्त परमेश्वर में। दैहिक सुख-दुःख तभी तक संतापित करते है जब तक चित्त निरंजन में समरस नही हो जाता है। रामसिंह शिव और शक्ति के मिलन की भी चर्चा करते है।[3]

सिद्धों का सामरस्य भाव बिलकुल तान्त्रिकों जैसा ही है। सरहपाद ने कहा है कि जैसे जल-जल मे प्रवेश करता है तो समरस हो जाता है उसी तरह उपाय (चित्त) प्रज्ञा से संबद्ध होकर समरस हो जाता है। दोष तथा गुणों के चक्कर में रहनेवाला मूर्ख इसे नहीं जानता।[4] जब मन अस्त हो जाता है तो तन का बन्धन टूट जाता है। तब समरसी अवस्था में शूद्र और ब्राह्मण का भेद मिट जाता है।[5] इसी शरीर रूपी घर मे प्रज्ञा रूपी महिला है लेकिन वह उपाय रूपी मनुष्य से मिलती नहीं यही विडम्बना है।[6] भुसुकपा ने भी

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६।

२. मणु मिलियउ परमेसरहु परमेसरउ वि मणस्सु।
बेहि वि समरस हूवाहं, पुज्ज चडावउ कस्स ॥
परमात्म प्रकाश, पृ० १२५।

३ पाहुड दोहा, दोहा १२७।

४. जत्तइ पइसइ जलेंहि जलु, तत्तइ समरस होइ।
दोसगुणाउर चित्तता, वढ पडिवक्ख ण होइ ॥
राहुल साकृत्यायन, दोहा कोश पृ० १८।

५. जव्वें मण अत्थमणु जाइ, तणु तुट्टइ बन्धण।
तव्वे समरसहिं मज्झे, णउ सुद्दण बाम्हण। वही, पृ० २२।

६ एहु घरे ट्ठिअ महिला मणुसा। एहु ण दीसइ भण सहि कइसा ॥
वही पृ० ३२।

सामरस्य अवस्था को जल के उदाहरण मे ही समझाया है। उनका कथन है कि जिस तरह जल में जल समाकर अभिन्न हो जाता है उसी तरह मन रूपी मणि शून्यता मे समाकर अभिन्न हो जाता है।[1] समरसी अवस्था के लक्षण सन्त साहित्य मे दिखाई तो देते हैं परन्तु समूचे भक्ति काव्य पर इसका बहुत कम असर पड़ा है। कबीर योग द्वारा गगन में प्राणवायु चढ़ाकर ब्रह्म का दर्शन करते हैं ; अपनी आत्मा को ही सर्वत्र व्याप्त मानते है। उनका मन उन्मन मे विलीन हो जाता है। यद्यपि उनका रामदर्शन आत्म दर्शन ही है परन्तु विभिन्न वर्णनो मे राम का अलग अस्तित्व परिलक्षित होता है। उनके अनेक कथन अद्वैतवाद से अधिक प्रभावित दिखाई देते है।[2] उनमे आत्मा परमात्मा की एकता तो है पर उपाय और प्रज्ञा, शिव शक्ति के मिलन तथा समरसता का कोई वर्णन नही मिलता।[3]

शृंगारिक प्रवृत्ति

यद्यपि अपभ्रंश भाषा प्राकृत को आधार बनाकर विकसित हुई किन्तु इसमे शृंगारिक चित्रणों में प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' 'वज्जालग्ग' आदि की तरह वन्य तथा प्राकृत दृश्य नहीं मिलते है। लगता है कि समयानुसार लोगो की रुचि बदलती गयी। इन मुक्तकों मे गेयता का काफी ह्रास मिलता है। धीरे-धीरे चमत्कृति, विचित्रकल्पना उक्ति-वैचित्र, आदि की प्रधानता होने लगी। इन शृंगारी मुक्तको का हिन्दी के रीतिबद्ध मुक्तको पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

शृंगाररस के दो भाग है—

१—संयोग।

२—वियोग।

संयोग शृगार में नायक तथा नायिका एक साथ रहते हैं। वे एक दूसरे के दर्शन, स्पर्श, आलिगन आदि का सुख लेते हैं।

---

१ जिम जले पाणिआ टलिआ भेउ न जाअ।
तिम मण रअण समरसे गअण समाअ ॥चर्या ४३। बागची : चर्या गीति

२. हम सब माहि सकल हम माही। हम थै और दूसरा नाही।
मा० प्र० गुप्त : कबीर ग्रंथावली, स० २६, ३४४।

३. मन लागा उनमन्न सों, उनमन मनहि बिलग्ग।
लूण बिलग्गा पाणिया, पाणी लूण विलग्ग ॥ वही पृ० २६।

नायक नायिका का पारस्परिक दर्शन

प्रेमी और प्रेमिकाओं को यह स्वाभाविक अभिलाषा होती है कि वे एक दूसरे की नजर के ही आगे रहें। शृंगारिक मुक्तकों में प्रिय-दर्शन की इस अभिलाषा को कई रूपों में व्यक्त किया गया है। एक नायिका अपनी माँ से कहती है कि स्वस्थावस्था में सुख से मान किया जाता है किन्तु जब प्रिय का दर्शन हो जाता है तो मानसिक स्वस्थता समाप्त हो जाती है फिर हलचल में अपनेपन का चेत तो रहना ही नहीं मान की परवाह कौन करे।[1] प्रिय के देखते समय नायिका खाने-पीने में हिचकती है। उससे न तो कचर-कचर खाया जाता है और न घूँट-घूँट पिया जाता है।[2]

रसनिधि की नायिका की आँखों में लगी दरस की भूख से स्वाभाविक भूख मिट जाती है :—

> अद्भुत गति यह प्रेम की बैननि कही न जाइ।
> दरस भूख लागै दृगन भूखहिं देत भगाइ॥

अपभ्रंश के उपर्युक्त दोहे में जो संकोच और तृप्ति चित्रोपम शैली में व्यंजना के सहारे व्यक्त है वही रसनिधि के दोहे में अभिधात्मक रूप में कहा गया है। रसलीन की अभिव्यक्ति में पारिवारिक संकोच का भी अभाव है।

संभोग वर्णन :

अपभ्रंश के मुक्तककारों ने संभोग का वर्णन बड़ी कुशलता से किया है। चित्रण में अश्लीलता शायद ही कहीं मिलती हो। नायिका का नायक के प्रति इतना गहरा प्रेम है कि अंग से अंग, अधर से अधर मिले बिना ही प्रिय का रूप निहारते-निहारते सुरति समाप्त हो जाती है।[3] नायिका की अभिलाषा

---

१ अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु॥२॥
अनु० शालिकराम उपाध्याय, हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण पृ० १६।

२. लज्जइ नवि कसरक्केहिं पिज्जइ नवि घुटहिं।
एम्बइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठे नयणेंहि॥
हेम० . प्राकृत व्याकरण, ४।४२३।२।

३. अंगिहिं अंगु न मिलेउ मिलि अहरे अहर न पत्त।
पिअ जोअन्तिहे मुह कमलु, एम्वइ सुरउ समत्तु॥
हेम० : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५।

है कि वह प्रियतम को प्राप्त करते ही उसके अंग-अंग में अपूर्व कौतुक से प्रविष्ट हो जायेगी जैसे नये सकोरे में पानी प्रविष्ट हो जाता है।[१] कवि सुरति का एक चित्र बड़ी कुशलता से अंकित करता है। नायिका नायक के ऊपर लेटी हुई है। चंपकवर्णी नायिका मरकत वर्ण के वक्षस्थल पर इस प्रकार लग रही है जैसे कसौटी पर दी हुई सुवर्ण की रेखा।[२] अपभ्रंश मुक्तक काव्य में अश्लीलता से बचने के लिए अन्योक्तिपरक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया गया है।

अपभ्रंश के मुक्तककारों ने भाव तथा उत्सुकता पर विशेष जोर दिया तथा मिलन का चित्र अधिकतर सांकेतिक रखा किन्तु हिन्दी के मुक्तककार शारीरिक चेष्टा, आंगिक हाव-भाव के प्रति अधिक तल्लीन हो गये। अब लोक जीवन का न तो संकोच रह गया न दुराव। सूरदास ने सेज रूपी क्षेत्र में कृष्ण और राधा के रति युद्ध को चित्रित किया है जिसमें कोई किसी से पीछे नहीं हटता।[३] यही नहीं रीतिकाल तक कोकशास्त्रीय विधि-विधानों को भी अपनाया जाने लगा। साधारण रति ही नहीं विपरीत रति भी चित्रित होने लगी। मतिराम ने पूर्व वर्णित एक दोहे का भाव किंचित परिवर्तन के साथ इस तरह अपनाया है। नायिका की सुन्दर तथा क्षीण शरीर नील कमल दल सेज पर पड़ी है। वह ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे कसौटी के ऊपर सोने की रेखा हो।[४] अपभ्रंश के दोहे में श्यामल नायक तथा गोरी नायिका के

---

१. जउ केवंइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवं सव्वंगे पइसीसु॥
हेम० . अपभ्रंश व्याकरण पृ० ५० ।

२. ढोल्ला सामला धण चम्पा वण्णी।
णाइ सुवण्ण रेह कस वट्टइ दिण्णी॥ वही, पृ० २।

३. राजत दोउ रति रग भरे।
सहज प्रीति विपरीत निसा बस आलप सेज परे।
+ + +
+ + +
+ + +
सूर स्याम स्यामा रति-रन ते इक पग पल न हों।
—सूरसागर, पृ० ६४८।

४. नील नलिन दल सेज में परी सुतनु तनु देह।
लसै कसौटी में मनौ तनक कनक की रेह॥ सतसई सप्तक। पृ० १२६

सम्मिलित रूप को दर्शित करने की चेष्टा की गयी है किन्तु मतिराम को नायिका की क्षीणता तथा गौर-वर्ण व्यंजित करना ही अभीप्सित है। अपभ्रंश काल का स्वस्थ शृंगार धृष्टता में बदलने लगा था। अब नायक को रात्रि आगमन की प्रतीक्षा नहीं करनी होती। वह रात भर रति-क्रीड़ा में तृप्त न होकर दिन में ही घात लगाने लगता है।[1] हिन्दी के एक दोहे में प्रियतम के सौन्दर्य को एकटक निरखने का चित्रण मिलता है जो अपभ्रंश दोहे के समान ही है :—

तौ मैं अनिमिष नैनल निरखु लाल इस रैन।
अनिमिष नैन सुनैं ल ए निरखत अनमिष नैन॥

दंतक्षत या नखक्षत :

संभोग शृंगार के अन्तर्गत दंतक्षत या नखक्षत अमानुषिक कृत्य माने जाते हैं किन्तु भावनातिरेक में या उद्दाम भोग लालसा से ये पाशविक कर्म सम्पन्न हो जाते हैं। धीरे-धीरे काव्य-क्षेत्र में दंतक्षत या नखक्षत का चित्रण एक रूढ़ि बन गया। नायिका के बिंबाधर पर दंतक्षत के सौन्दर्य से सम्बद्ध अनेक सुन्दर कल्पनाएँ की गयी। नायिका के मुख का रदन-व्रण देखकर कवि को ऐसा लगता है मानो निरुपम रस पीकर प्रिय ने शेष पर मुद्रा (मुहर) लगा दी ताकि अन्य लोग उसका पान न करें।[2] रीतिकाल में दंतक्षत के साथ-साथ नखक्षत का भी पर्याप्त चित्रण मिलता है। हर कवि ने अपने कथन में चमत्कार तथा वैशिष्ट्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है। बिहारी की नायिका नखक्षत को बार-बार खरोंच देती है ताकि पिय की स्मृति ताजी बनी रहे।[3] इस तरह के चित्रणों में फारसी प्रभाव माना जाता है। जितेन्द्र पाठक का

---

१. केलि की रात अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'मतिराम'

२. बिबाहरि तणु रमण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द।
निरुवम रसु पिएं पिअवि अणु सेसहो दिण्णी मुद्द॥
हेम० : प्राकृत व्याकरण, ४।४०१।३

३ नित नित जु लगी चलत पिय, नख रेख खरौंट।
सूखन देत न सरसई खोंटि खोंटि खत खौंट॥
—बिहारी सतसई, ८४।२६८

कथन है कि अवश्य ही बिहारी की नायिका के बराबर नखक्षत को खरोंच-खरोंच देने मे फारसी रूढ़ियों का प्रभाव परिलक्षित होता है।[1]

संभोग शृंगार के अन्तर्गत नायक नायिका का रूप, छवि, तथा आंगिक सौन्दर्य बड़े विस्तार से अंकित किया गया है। भावों को उद्दीप्त तथा आकर्षक बनाने के लिए नायक तथा नायिका के अंगों का चित्रण मुक्तक काव्य की विशिष्ट रूढ़ि है। अपभ्रंश मुक्तकों मे नख-शिख के वर्णन विशुद्ध मुक्तकों मे उपलब्ध नहीं होते परन्तु प्रबन्धात्मक मुक्तक 'संदेशरासक' में नख-शिख का उत्कृष्ट चित्रण किया गया है।

नेत्र :

प्रेम-व्यापार मे नेत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अतः मुक्तककारों ने नेत्रों की शोभा तथा बाँकपन का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। उनकी साँवली नायिका के नेत्रों में जैसे-जैसे बाँकपन आता है वैसे-वैसे कामदेव खुरदरे पत्थर पर अपना बाण तीक्ष्ण करता है।[2] फिर बाला के चंचल नेत्रों के द्वारा जो देखे जाते हैं उन पर अनायास ही मकरध्वज का आक्रमण हो जाता है।[3] आँख में आँसू भरे रहने पर भी उसकी प्रभावात्मकता तथा चोट कम नहीं होती। एक सखी दूसरी सखी को सबोधित करती है कि हे सखी गौरी की नयन सरसी अश्रु जल से प्रायः भरी रहती है। वे नयन जब किसी के सामने होते हैं तो तिरछी चोट करते हैं।[4] नेत्रों की चंचलता मत्स्य की चंचलता से उपमित होती है यह साहित्यिक रूढ़ि है। पताका भी चंचल होती है। अपभ्रंश का कवि धन्या के चंचल नेत्रों की उपमा मत्स्य पताका से देता है। यह उपमा भी कारण रूप में प्रस्तुत की गयी है। मत्स्य पताका तो इसीलिए फहरा रही है

---

१. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०३।

२. जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
   तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर-खर-पत्थरि तिक्खेइ॥
   हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १३।

३. चलेहिं चलन्तेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा बालि।
   तहिं मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि॥ वही, पृ० ७३।

४. असु जले प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर।
   तें संमुह संपेसिआ देंति तिरिच्छी घत्त पर॥ ३॥
   हेमचन्द्र अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।

कि स्तन प्रदेश पर मदन निवास कर रहा है।[1] नयनों का बाँकपन तो रसिकों को और भी घायल करता है। कोई वयोवृद्ध दूती नायिका से कहती है हे बिटिया, मैंने तुमसे कहा था कि बांकी दृष्टि मत कर।" क्योंकि वह नोकदार बर्छी की तरह हृदय में पैठकर मारती है।[2] कुछ मुक्तकों में भ्रू-चक्र का भी चामत्कारिक चित्रण मिलता है। भ्रूचक्र पर चग को सुशोभित मानकर कवि उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग करके कहता है मानो त्रिभुवन विजयी अनंग जनों को आज्ञा देता है।

सूरदास तथा रीतिकालीन कवियों ने नेत्र की कटाक्षता तथा चुभन का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। बिहारी की नायिका के नेत्र विषम तथा तीक्ष्ण बाण की तरह हैं जो अंग-अंग को विकल कर देते हैं।[3] वास्तव में नायिका के कटाक्ष जितने तीक्ष्ण हैं उतने तीक्ष्ण बाण कामदेव के निषंग में नहीं हैं।[4] नेत्रों को सजीव रूप में कल्पित करके गोपियाँ उनसे विद्रोह करने को तैयार दिखाई देती है तथा बार-बार नेत्रों को उलाहना देती हैं।[5] इस तरह के चित्रणों में पर्याप्त मौलिकता मिलती है। किन्तु किसी-किसी भाव में अद्भुत साम्य भी है। मतिराम ने अपभ्रंश के एक मुक्तक के भाव को आत्मसात करके तथा अन्य कामोद्दीपक अंगो एवं भावों को एक ही दोहे में समेट कर सुन्दर चित्र अंकित किया है—

---

१ जं थण लाअण झसझय बल दीसहिं।
मयणावासउ, न थडगुड्डरि सई॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन,
६।१९३।१९-६।

२. बिट्टिए मइ भणिय तुहु मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥
हेमचन्द्र . प्राकृत व्याकरण, ४।३३०।३

३. दृगन लगत बेधत हियो विकल करत अंग आन।
ये तेरे सब ते विषम, ईछन तीछन बान॥ बिहारी सतसई।

४. कवि मतिराम जैसे तीछन कटाक्ष तेरे
ऐसे कहाँ सर हैं अनंग के निषग में।
सं० नगेन्द्र . रीतिशृंगार ५८।

५ सं० धीरेन्द्र वर्मा, सूर सागरसार—पद १५८; १६१,

भौंहनि संग चढ़ायो कर गहि चाप मनोज ।
नाह नेह साथहि बढ्यो लोचन लाज उरोज ॥[1]

मुख :

नायिका के मुख वर्णन मे चन्द्रमा के उपमान को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है । किन्तु मुक्तकारो की दृष्टि मे नायिका का मुख सौन्दर्य जो निष्कलुष है उसकी तुलना चन्द्रमा कैसे कर सकता है । वे चन्द्र जैसे उपमान को तीक्ष्ण धार वाले हथियार से छीलकर गौरी के मुख की समानता के उपयुक्त बनाना चाहते हैं ।[2] चन्द्रमा नायिका के मुख से पराजित होकर कभी-कभी बादलो मे छिप जाता है । यह स्वाभाविक ही है कि कोई भी पराजय प्राप्त शरीर वाला नि.शङ्क भाव से कैसे घूम सकता है ।[3] यही नहीं कंचन कांति के प्रकाश वाला कर्णिकार तो प्रिया के मुख से पराजित होकर वन की सेवा करने लगा है ।[4] कमल मुख के उपमान के लिए उपयुक्त था किन्तु ब्रह्मा ने उसे कीचड मे फेंक दिया ।[5] कवियो ने नायिका के मुख सौन्दर्य की अद्वितीयता निरूपित करने के लिए सारे उपमानो की हीनता सिद्ध कर दी । मुग्धा नायिका अपने मुख की किरणों से अपना हाथ देख लेती है परन्तु उसका मुख पूर्ण शशि मण्डल की तरह है तो वह दूर तक क्यों नहीं देख सकती ?[6] यह कवियों की दूरारूढ

१. सतसई संग्रह, मतिराम सतसई, १२३।७८

२. जिव तिवं तिक्खालेवि कर जइ ससि छोलिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुहकमलु सरसिम कावि लहन्तु ॥
हेम० : प्राकृत व्याकरण, ४।३९५।१

३. ओ गोरी मुह निज्जिअइ बदल्लि लुक्कु मयंकु ।
अन्नुवि जो परिहविय तणु सो किव भवइ निसंकु ॥
हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५३ ।

४. उअ कणिआरु पफुल्लिअइ कञ्चण कंति पयासु ।
गौरी वयण विणिज्जअउ ज सेवइ वनवासु ॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३९६।५

५. हेमचन्द्र : छन्दोनुऽशासन, २०'१. पृ० २०० ।

६. निअ मुँह करिहि विमुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ।
ससि मण्डल चन्दमिए, पुणु काइ न दूरं देक्खइ ॥
हेमचन्द्र : प्राकृत-व्याकरण, ४।३४९।१

कल्पना का एक श्रेष्ठ दृष्टान्त है। प्रतीप तथा व्यतिरेक अलंकार द्वारा मुख को चन्द्रमा कमल आदि उपमानो से श्रेष्ठ चित्रित करने की परंपरा संस्कृत-प्राकृत से ही चली आ रही है। अपभ्रंश के मुक्तककारो ने उक्ति चमत्कार का सहारा लेकर अनेक तर्कों तथा कारणो की सृष्टि की। इससे सौन्दर्य चित्रण मे एक नया मोड आया। मतिराम की एक कविता है जिसमे चन्द्रमा को नायिका के मुख की समता करने के कारण चोर की तरह दण्ड दिया गया है। ब्रह्मा क्रुद्ध होकर चन्द्रमा के मुख मे कालिख लगाकर रातो-दिन अमरालय के आस-पास घुमाया करता है।

> मतिराम कहै निसिकर चोरै जानि यह
> दीनी है सजाय कमलासन रिसाय कै
> रातौ दिन फेरै अमरालय के आसपास
> मुख में कलंक मिस कारिख लगाय कै।[1]

अपभ्रंश के दोहो मे इस तरह के दण्ड का वर्णन मिलता है। किन्तु वहाँ दण्ड का भोगी कमल है चन्द्र नही। दण्ड देनेवाला ब्रह्मा ही है तथा अपराध भी समान ही है नायिका के मुख सौन्दर्य की समता ग्रहण करने का दुस्साहस। रसलीन ने चन्द्र कलक के सबध मे एक नयी कल्पना की। उन्होने कहा कि न तो यह मृगांक है न भू अंक, न कलंक। बल्कि यह चन्द्रमा नायिका के मुख से हारकर अपने शिर को घिस कर काला कर डाला है।[2] अपभ्रंश मुक्तक मे यही चन्द्रमा नायिका के मुख से हारकर बादलो में छिपता है। रसलीन की कल्पना मे न तो कारण सत्य है न कार्य किन्तु अपभ्रंश कवि सत्य कार्य के लिए असत्य कारण की कल्पना करता है।

स्तन

स्तन की कठोरता तथा उत्तुंगता का चित्रण अपभ्रंश और रीति मुक्तकों मे समान रूप से मिलता है। स्तन नायिका के हृदय को फोड़कर बाहर निकले हैं। उनकी यह निर्दय कठोरता अपूर्व है क्योकि जो अपना ही हृदय फोड़ देता है उससे यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह पराए हृदय को फोड़ने में घृणा करेगा। इसलिए रसिको को सावधान करता हुआ कवि कहता है कि

---

१. सं० कृष्ण बिहारी मिश्र · मतिराम ग्रंथावली—पृ० १०९।
२ अंग दर्पण पृ० १३ छन्द ९।

अब दृष्टि संवरण करो इस बाला के विषम स्तन पैदा हो गये है ।[१] चित्रण को इतना दुरूह कल्पना पर आधारित कर दिया गया है कि सौन्दर्य का उन्मेष नही होता किन्तु व्यंग्य रूप मे इसे प्रभावात्मक भी कहा जा सकता है । स्तन श्रृंगारिक भावो को जागृत करने मे सर्वाधिक समर्थ माने जाते है । स्तन की निर्दयता उसकी अत्यधिक कठोरता ही है । कठोरता स्तनो के सौन्दर्य की कसौटी है । स्तन इतने उत्तुग हो गये हैं कि लाभ की जगह हानि होने लगी । इसके कारण प्रियतम बड़ी देर से अधरों तक पहुँच पाता है ।[२] मतिराम ने स्तनो की कठोरता का चित्रण किंचित् भिन्न रूप मे किया है जो उतना सुन्दर नही बन पड़ा । प्रियतम प्रिया के चरणो पर गिर गया तो भी नायिका ने उसकी ओर नही देखा । मतिराम ने निष्कर्ष निकाल लिया कि नायिका के स्तन कठोर है तो उर भी कठोर होगे ।[३] अपभ्रंश मे उक्ति चमत्कार तो है पर एक अभिनव भगिमा के साथ सहज और ढके-छुपे ढंग से उरोजो का वर्णन हुआ है किन्तु रीतिकाल मे स्तनों के सभी गुणो का वर्णन प्रचुर काव्य शक्ति खर्च करके किया गया है ।[४] उरोजो को श्रीफल, कनक-कलश आदि तो कहा ही गया उसे पर्वत का भी रूप प्रदान किया गया ।

कटि

कृश कटि सुन्दरी नायिका का लक्षण माना जाता है । इसी आधार पर मुक्तककारो ने कटि की क्षीणता तथा कृशता का ऐसा चित्रण किया कि अदृष्ट ब्रह्म की तरह वह भी अदृश्य हो गयी । कटि की कृशता का चित्रण संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी रीति मुक्तकों मे बराबर सजगता से किया गया

---

१. फोडेन्ति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराइ कवण घृण ।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पण बालहे जाआ विसम थण ।।२।।
हेम० . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १७ ।

२ अइत्तुंगन्तणु जं थणइ सो छेयउ न हु लाहु ।
सहि जइ केवंइ तुडि वसेण अहरि पहुच्चइ नाहु ।।
हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ४७ ।

३. प्रान पियारौ पग पर्‌यो तू न लखति इह ओर ।
ऐसो उरज कठोर तौं उचितै उर जु कठोर ।।
मतिराम सतसई, दोहा, ११८ ।

४. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास पृ० १०६ ।

किन्तु समयानुसार चमत्कार की प्रधानता होती गयी। रीतिकाल में उर्दू काव्य की होड मे यह चमत्कार बिलकुल मज़ाक बन गया। अपभ्रंश मुक्तककारों का कटि चित्रण बहुत कुछ स्वाभाविक तथा सौन्दर्यमूलक है। नायक के हाथ से अपना चीरांचल छुडाकर जब नायिका गमन करना चाहती है तो नायक कहता है मनस्विनी प्रसाद करके सुनो तुम औत्सुक्य वस मत जाओ। यदि कही संयोग से पैर स्खलित हो गया तो अत्यन्त क्षीण कटि कही टूट न जाय।[१] पैर के स्खलित होने पर कमर टूट जाना कोई अस्वाभाविक चित्रण नही है। अन्यत्र कवि कहता है कि नायिका की शरीर कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) है। इसलिए वहाँ मध्यदेश (अयोध्या) आदि कैसे संभव है। कवि ने यहाँ मध्यदेश का श्लिष्ट प्रयोग किया जिसका अर्थ कटि प्रदेश है।[२] अगो का यह चमत्कारमूलक चित्रण रीति कवियो मे और भी चमत्कार मूलक बन गया। अपभ्रंश के कवि को तो मध्यदेश की स्थिति से सिर्फ आश्चर्य हुआ किन्तु उसने कटि की अस्तित्व हीनता नही स्वीकारी। रीति कवि की जान मे तो कमर केवल लोनाई की लपेट मात्र है। जिस तरह भूमि और अम्बर के बीच में कोई खम्भा नहीं है। उसी तरह लोल लोचनी नायिका के अंक मे कमर नही है।[3] यदि है भी तो ब्रह्म की तरह अदृष्ट है।[४]

अंग समष्टि का चित्रण

श्रृंगारिक भावो को उद्बुद्ध करनेवाले अंगों का अलग-अलग चित्रण करने के साथ-साथ मुक्तक कवियों ने अंग समष्टि का भी चित्रण किया है। यह चित्रण भी चमत्कारिक तथा प्रभावोत्पादक दोनो तरह का है। वास्तव में ये दोनों स्थितियाँ मिली जुली ही परिलक्षित होती हैं। अग समष्टि के चित्रण के बिना नायिका का कोई रूप-चित्र बनता ही नही। सौन्दर्यानुभूति कराने के लिए समस्त अंगों या प्रमुख अगो का चित्र खीचना आवश्यक है। अब देखिये

---

१. जइ किवइ वि सचह पयजुयलु इहु बिहिवसिण विहट्टइ।
   ता तुज्झ मज्झु खीणउ खरउ किं न खामो अर तुट्टइ॥
   हेमचन्द्र · छन्दोऽनुशासन ४।८७।

२. कुसुम पुरु पच्चक्खु वि सुदरि तुज्झ देहु।
   तुहु बरु मज्झदेसु वहसि विवरीउ एंहु ॥५।६. १

३. मनोज मंजार-चतुर्थ कलिका, पृ० ७।

४ सुख सागर तरंग पृ० २६१।

कि अपभ्रंश कवि किस तरह की नायिका का चित्र प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम कवि सजग कर देता है कि नायिका अपने विशिष्ट अगों के विशिष्ट गुणो के कारण सामान्य नायिका से भिन्न है क्योंकि नायिका की वे बड़ी-बडी आँखें असामान्य हैं, दोनों भुजाएँ कुछ और ही है, और असाधारण है वह पृथुल स्तन भार। उसके केशकलाप भी अवर्ण्य ही हैं। गुण और सौन्दर्य निधि उस नितम्बिनी को जिसने बनाया वह विधि भी अन्य ही है।[1] यहाँ 'कुछ और' शब्द अनिश्चय बोधक होने के कारण अन्वेषण की उत्सुकता जागृत करता है। अन्यत्र कवि परम्परित उपमानो के माध्यम से नायिका के अगों को उपमित करता है। उसकी भ्रूवल्ली कामदेव के सुख कमल के, अंग चामीकर की प्रभा के, नेत्र नवीन कमल दल के और दन्त पंक्तियाँ हीरे की पंक्ति के समान है। अधर विद्रुम के तुल्य है। नायिका का यह रूप अत्यधिक प्रभावशाली है[3] उसे देखते ही पुरुष का मन विकल हो जाता है। ऐसी नायिका के निर्माण के लिए प्रजापति को भी शिक्षा लेने की जरूरत पड़ती है।[३] बसंत बडी मादक तथा कामोद्दीपक ऋतु होती है। नायिका उससे किसी भी माने म कम नही है। उसके हाथ अशोक दल, मुख कमल और हँसी नवमल्लिका के तुल्य है। मोहने मे निपुण यह कामिनी अभिनव बसन्त श्री है।[४] नायिका को बसन्त का रूपक देना अपभ्रश कवियो की मौलिकता जान पडती है। कवि को इतने मे ही सन्तोष नहीं हुआ। वह नायिका के अलग-अलग अंगो को चित्रित करके उसके अग समष्टि के प्रभाव को चमत्कारिक रूप से व्यक्त करता है। वह नायिका को स्वय कामदेव की मल्लिका मानता है।[५] यही नहीं वह विष की गांठ है जो

---

१. अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं भुअ जुअल।
अन्नु सु घण थण हारु त अन्नु जि मुह कमलु॥
अन्नु जि केस कलावु सु अन्न जि प्राउ-विहि।
जेण णिअम्बिणि घडिअ स गुण-लायण्ण-णिहि॥१॥

हेमचन्द्र : अपभ्रश व्याकरण, पृ० ६०।

२ छन्दोऽनुशासन ५।१२. १

३. जइ सो घडदि प्रियावदी केत्थु विलेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थु वितेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु॥

हेमचन्द्र : अपभ्रश व्याकरण, पृ० ५३।

४. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।२०. ३१।

५ वही ६ २० ५०

अपना अद्भुत प्रभाव डालती है। जिसके कण्ठ यह नहीं लगती वह भट भी पाश्चाताप से मर जाता है और चचल नेत्रों की छाया जिसके ऊपर पड़ जाती है उसे असमय काम आक्रात कर लेता है :—

साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गंठि।
भड पच्चलिओ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि॥
चलेहिं चलंतेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा बालि।
तहिं मयरद्धज तडवडउ पडइ अपूरइ कालि॥

विरह वर्णन :

अपभ्रंश मुक्तककारों ने संयोग वर्णन की अपेक्षा वियोग वर्णन में अधिक तल्लीनता तथा कला प्रदर्शित की है। नायक से वियुक्त हो जाने पर नायिका को अत्यधिक पीड़ा होती है। यह लोक सत्य तथा काव्य सत्य दोनो है। परतु मुक्तक कवियो ने अनेक प्रसंगों की कल्पना करके नायिका की कोमल शरीर तथा रूप यौवन पर विरह के अतिरंजित प्रभाव की ऊहा की। इस तरह की प्रवृत्ति मुक्तककारो की चमत्कार-प्रियता तथा उक्ति-वैचित्र्य का ही परिणाम है। काव्य मे कितने ही सुन्दर वर्ण हों, चाहे उसमे दोष का अंश न हो किन्तु जब तक उसमें बहुमूल्य मणि के समान कोई चमत्कारोत्पादक शब्द न होगा तब तक वह किसी के मन को उसी प्रकार आकर्षित नही कर सकेगा जिस प्रकार अगनाओ का यौवन लावण्यहीन होने पर किसी को आकृष्ट नही कर पाता।[1]

मुक्तककारो ने विरह जनित शारीरिक कृशता तथा ताप की अधिकता के चित्रण में ऊहात्मक पद्धति अपनायी है। नायक के वियोग के कारण नायिका की बाहे बहुत कृश हो गयी है। हाथ को नीचे करके चलते समय वलयावली के गिर जाने की शका है। अतः वह हाथ ऊपर करके चलती है। मानो वह विरह रूपी महोदधि का थाह ले रही है।[2] विरह ज्वर से पीड़ित नायिका का प्रश्वास अत्यधिक संतप्त हो गया है। ऊष्ण श्वास की ज्वाला से कपोलो पर

---

१. कंठाभरण-क्षेमेन्द्र उद्धृत रामसागर त्रिपाठी : बिहारी मीमांसा, पृ० २२३।

२. वलयावलि निवडण—भएँण धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ॥२॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।

रखने से नायिका की चूड़ियाँ चूर-चूर हो जाती है।[1] 'संदेशरासक की नायिका अंगों के दहन के भय से उच्छ्वास ही नहीं छोड़ती।[2] विरह की निरपेक्ष चपेटों से विरहिणी की देह टूट गयी है। हृदय मे संस्थित विरह की अग्नि मदन समीर से धौंकी जाकर और भी दाहक हो गयी है। उससे सदैव बेचैनी का क्षार क्षिप्त होता रहता है। इस विकट स्थिति में प्रिय-मिलन की आशा से स्वरारोह बढ़ता रहता है।[3] प्रेम की सच्चाई तथा प्रेमास्पद से संयोग की अभिलाषा कितनी प्रगाढ़ है कि नायिका ऐसी परिस्थितियों में भी सजीव रहती है। जबकि सामान्यत ये सब मरण की स्थितियाँ हैं। कवि का दावा है कि विरहिणी नायिका के तप्त वाष्पौघ जल (आँसू) स्तनो के बीच नहीं गिरे। कपोल पर ही छिम-छिम करके फिर सिम-सिम करते सूख गये।[4]

नायिका को खतरनाक हालत से बचाने के लिए स्नेही जन शीतलता उत्पादक उपचार करने लगते है। किन्तु इन उपचारो की क्या परिणति होती है वह भी दर्शनीय है। मुग्धा के कपोलो पर चूडक रखने पर वह श्वास वायु से निदग्ध तथा वाष्प सलिल से सिक्त होकर चूर-चूर हो गया।[5] शीतलता के लिए हरि चदन का लेप किया गया तो सर्पों द्वारा सेवित होने के कारण वह स्तनो को और भी तपाने लगा। इसके बाद विविध विलाप करती हुई जब नायिका ने हारलता तथा कुसुममाला धारण किया तो वे भी ज्वाला से उसे भयभीत करने लगे। शय्या पर सुख के लिए कमल दल बिछा दिये गये तो वे दुगुना उद्वेग

---

१ चूडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल जाल-झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ ॥४॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ४६।

२. ऊसासडउ न मिल्हिवउं दज्झण अंग भएण।
जिम हुउं मुक्की वल्लहइ तिम सो मुक्कि जमेण ॥७३॥
अद्दहमाण : सदेशरासक। प्रक्रम २, पृ० १६२।

३. मयण समीर विहुय विरहाणलदिट्ठि फुलिंग णिब्भरो।
दुसह फुरंत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल, दुद्धरो ॥
+ + +
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह बड्ढए। वही, पृ० १७४।

४. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन। ६।२१०।२२४।

५. हेमचन्द्र . छन्दोऽनुशासन, ६।२०९।२२.३।

उत्पन्न करने लगे ।[1] तरह-तरह के उपचारो को निरर्थक सिद्ध करने के लिए जो दूरारूढ़ कल्पनायें हुई हैं उनके मूल मे यही भाव प्रेरणा क्रियाशील जान पडती है कि प्रिय की विरहाग्नि प्रिय द्वारा ही बुझती है क्योंकि इसका वही मनोवैज्ञानिक उपचार है ।

चन्द्रमा, कोयल, चातक, मलयानिल, कमलवन, लतायें संयोगावस्था मे सुखो की अभिवृद्धि करते है, किन्तु वियोगावस्था में दु.खो के कारण बन जाते है । इस समय अमृत चन्द्र किरणे भी ऊष्ण हो जाती हैं । चन्दन का पंक भी दु सह हो जाता है । लतागृह जलने लगता है ; मृदुल मलयसमीर अंगों पर विप-कन्दली के समान लगता है । अभिनव पल्लव, कलकंठी की ध्वनि सभी विपवत् हो जाते है । निशाकर मत्तमातङ्ग के विजृम्भित की तरह असमय भय उत्पन्न करता है ।[2] नायिका की विरह दशा का चित्रण षड्ऋतुओं की पृष्ठभूमि मे करने की परिपाटी संस्कृत तथा प्राकृत काल से प्रचलित थी । अपभ्रंश के मुक्तक कवि भी इस परंपरा से विच्छिन्न नहीं हैं । 'सदेशरासक' मे विरहिणी की दशाओ का चित्रण ग्रीष्म से शुरू होता है । ग्रीष्म ऋतु मे व्योम तल में जो अति उष्ण प्रभजन बहता है वह झंखर विरहिणियों के अंगों को संस्पर्शित करके जला डालता है । ग्रीष्म की अग्नि पावस के जलधार से बुझ जाती है किन्तु नायिका के हृदय की विरहाग्नि, पूर्ववत् जलती रहती है ।[3] पावस मे घनों का शब्द असह्य हो जाता है । चचल विद्युत्मालिका मेघ रूपी राक्षस की दीर्घ कराल जीभ की तरह विस्फुरित होने लगती है । ऐसी स्थिति मे विरहिणी कैसे जी सकती है । पावस के बाद शरद आता है । इसमे नायिका की स्वाभाविक स्थितियो का चित्रण हुआ है । हेमंत बसंत शिशिर का भी चित्रण किया गया किन्तु इसमे से बसत ही ऊहात्मक पद्धति के अन्तर्गत वर्णित है । वसन्त समस्त ऋतुओ मे सर्वाधिक कामोद्दीपक ऋतु मानी जाती है । मत्त मधुकरियो के लगातार झंकार से तथा कामदेव के धनुष के झकार की तरह कलकंठी की कलकल ध्वनि से विरहिणियाँ कैसे जिएं जिनके पति दूर देश प्रवास ले लिये हैं ।

उपर्युक्त चित्रणो मे किसी न किसी सीमा तक सहृदयता तथा रसार्द्रता अवश्य परिलक्षित होती है किन्तु अपभ्रंश मुक्तककारों ने बाजी मारने के प्रयास

---

१. अद्दहमाण : संदेश रासक, छं० १३५, १३७, पृ० १७८ ।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७। २२६। ५५. १ ।

३ अद्दहमाण · संदेशरासक पृ० १८२ ।

में भी कोई कोर कसर नही रखी। मुग्धा नायिका ने कोयल के पंचम स्वरो से भयभीत होकर कुछ नही कहा क्योंकि वह भी कोयल-वयना है। कवि इस उपमा से भी उसकी रक्षा करता है और उसे कलहंस स्वरो वाली कहता है।[१] रीतिकाल के कतिपय कवि वियोग वर्जन के अन्तर्गत इस ऊहात्मक पद्धति से प्रभावित हुए। शायद ही ऐसा कोई कवि हो जिसमें ऊहा न मिलती हो। रीतिकालीन श्रृंगारिक चित्रण फ़ारसी काव्य से भी अधिक प्रभावित हुआ। प्रत्येक कवि में कोई न कोई अनूठी तथा अपूर्व उक्ति ढूँढ़ निकालने का सायास प्रयत्न देखा जाता है। ऐसी उक्तियों मे गभीरता, सहृदयता तथा सवेदना की खोज करना व्यर्थ है। इसमें तो यही देखना है कि किस कवि ने कितना कमाल दिखाया है।

अपभ्रंश की अतिरंजनापूर्ण ऊहात्मकता की प्रवृत्ति रीति कवियो मे भी परिलक्षित होती है। अपभ्रंश नायिका का ताप इतना अधिक था कि इससे चूडी चूर्ण हो जाने की संभावना थी किन्तु रीतिकालीन विरहिणी के छूते ही थाल और नारियल तक चटक कर टूटने लगे। जबकि अभी प्रियतम परदेश जाने के लिए ज्योतिषी से शुभ मुहूर्त्त ही पूछ रहा है।[२]

बिहारी की नायिका के सतप्त श्वास तथा विरह ताप की उष्णता से माघ मास में भी लू चलती है।[३] बिहारी के एक अन्य दोहे पर अपभ्रंश दोहे की स्पष्ट छाप है। आँसू का चित्रण दोनों मे किया गया है किन्तु अपभ्रंश के कवि ने उसे कपोलों पर सिम सिम करके उड़ जाने की चर्चा की तो बिहारी ने स्तनों पर से छन-छन करके छिप जाने का चित्रण किया।[४]

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ८७, ४।५।

२. थार गयो चटकि पटक नारियर गयो
   मुद्रा औटि चाँदी भई विरह की आच ते ।।

   मन्नालाल द्विज : श्रृंगार सुधाकर, पृ० २३४, छ०सं० २३०।

३. सुनत पथिक मुंह माह निस लुवै चलत वहि गाम।
   बिन बूझे बिनही कहे जियत बिचारी बाम ।।

   बिहारी बोधिनी, दोहा ४९८, पृ० २३५।

४. पलनु प्रगति, बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
   अँसुवा परि छतिया, छिनकु छन छनाइ छिपि जात ।।६५९

   बिहारी रत्नाकर।

संस्कृत साहित्य में भी इस तरह की पर्याप्त उक्तियां मिलती हैं। किन्तु अपभ्रंश मुक्तकों जैसी विविधता नहीं है। इन मुक्तककारों पर फ़ारसी परम्परा मात्र का प्रभाव मानना भी तर्क संगत नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि तत्कालीन फ़ारसी के ऊहात्मक पद्धति के विरह वर्णन की प्रतियोगिता में रीति कवियों ने भारतीय (अपभ्रंश) काव्य की परंपरा को अपनाकर कुछ अपनी मौलिकता से कुछ फ़ारसी काव्य से भी आगे बढ़ जाने की अभिलाषा से ऊहाओं को और भी काल्पनिक तथा अतिरंजित कर दिया।

देव ने क्षीण नायिका को इतना दुर्बल चित्रित किया कि वह सोने की छपी हुई बेलि जैसी लगती है किन्तु अभी उसका अस्तित्व तो था ही। पर मतिराम ने एक कदम और आगे बढ़ कर उसे इतना सूक्ष्म बना दिया कि वह अदृश्य हो गयी। अब उसकी उपस्थिति का अन्दाज केवल अंगों से निकलने वाली आंच से ही लग सकता है।[१] विरह के बीच प्रियतम द्वारा दी गयी अवधि भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। मध्यकालीन मुग्धा नायिकायें जो साक्षर नहीं थी इस अवधि की परिगणना ऊंगलियों के आधार पर करती थी। इसका चित्रण करते हुए कवि कहता है कि प्रवास के समय प्रियतम द्वारा अवधि के जितने दिन दिये गये थे गिनते गिनते विरहिणी नायिका की उंगलियाँ जर्जरित हो गयी। अपभ्रंश के कवि ने उसे यों चित्रित किया :—

> जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण।
> तारागणन्तिए अंगुलिउ जज्जरि आउ नहेण ॥[२]

ठाकुर की विरहिणी का कथन है कि अंगुलियों में घाव हो गये हैं अतः अवधि के दिनों को कैसे गिनूं।[३]

स्वाभाविक तथा मार्मिक चित्रण :

अपभ्रंश के मुक्तक कवियों ने कहीं-कहीं चमत्कारपूर्ण चित्रणों से भी प्रेम की मार्मिक व्यंजना की है। विरह-विधुरा नायिका की आँखों से निरन्तर आंसू गिरते रहते है। उसका बिस्तर पल्लव कल्पित होने के कारण बसंत की तरह

---

१. देखि परै नहिं दूबरी, सुनियों स्याम सुजान।
जान परै परजंक मैं, अंग आंच अनुमान ॥ सं० कृष्ण बिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली, पृ० ८६, छन्दसं० ४२३

२. हेमचन्द्र . प्राकृत-व्याकरण ४।४२३।१

३ सं० लाला भगवानदीन ठाकुर ठसक—पृ० १७ छन्द सं० ६८।

या माघ की रात की तरह ठण्डा हो गया है। गाल पीले पड़ गये है। उसका शरीर जल रहा है जैसे मार्गशीर्ष मे तिलवन का उच्छेद किया जाता है। शिशिर के कमल के समान उसका मुख हतश्री हो गया है।[1] इस उदाहरण में अन्तिम चित्र अधिक मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक है।

किसी प्रिय जन के आगमन की प्रतीक्षा मे प्रेमिका मार्ग निहारती रहती है। उस मार्ग की तरफ वह इतना तल्लीनता से देखती है कि उसे अन्य चीजो का ध्यान ही नहीं रहता। वह कुसुम, चन्दन आदि सब कुछ त्याग देती है।[2] वह अत्यधिक खीझकर प्रियतम को बुरा भला भी कहती है। किन्तु हर स्थिति मे वह प्रियतम की प्रिया ही बनी रहती है। नायिका अपने प्रियतम को कापालिक कहती है क्योंकि वह स्वयं भी तो उसके विरह में कापालिनी बन गयी है।[3]

डाक-तार की व्यवस्था न होने के कारण प्रवासी नायक या नायिका को किसी पथिक या दूत द्वारा संदेश-प्रेषण बहुत स्वाभाविक घटना थी। इस तथ्य को लेकर मुक्तककारो ने अनेक उक्तिवैचित्र्यपूर्ण मार्मिक उद्भावनाये की। विरहिणी नायिका अपने सुभग को संदेश देते हुए लज्जित होती है क्योकि प्रवास करते हुए प्रियतम के साथ वह क्यों चली नही गयी। यदि नही गयी तो उसका प्रेम उतना गहरा नही है अन्यथा वियोग होते ही उसे मर जाना था।[4]

---

१. एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ॥
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्गसिस।
तहें मुद्धहें मुह पङ्कइ आवासिउ सिसिरू॥ २॥

हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २२।

२. मालइ कुसुम न लेइ चंदणु चयइ।
तुह दसणउम्माही, मग्गु जि निअइ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन
६।२०।२०.१४

३. तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ,
तहि खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय॥ ८६॥

अद्दहमाण : संदेश रासक, १६५-६६

४. जउ पवसन्ते सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिं सुहय जणस्सु॥२॥

हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६६।

अत्यधिक पीड़ा से जीवन स्पृहा भी नष्ट हो जाती है। दु ख का उमड़ता हुआ पारावार नायिका के हृदय मे समाता नही। वह कहती है, हे हृदय तू फट जा। देखे कि मेरा दुर्भाग्य तेरे विना सैकडो दुखो को कहाँ रखता है। हृदय का फटना तथा सैकड़ों दु ख दोनों का प्रयोग मुहावरे के रूप में भी होता है।[1]

भान प्रसंग :

अपभ्रंश मुक्तकों में शृंगार का स्वस्थ तथा पारिवारिक रूप मिलता है। इसलिए मान प्रसग भी पारिवारिक ही है। मान धारण करना सभी नायिकाओं के लिए सभव नहीं है क्योंकि प्रियतम को देखते ही उनका हृदय विगलित हो जाता है। उस मुग्धा को अपनेपन का ही ख्याल नही रहता तो मान का ख्याल कौन करे।[2] प्रियतम के आगे मान करने का सौभाग्य भी सभी प्रियाओं को नही मिलता। अपभ्रश की एक नायिका प्रिय के आगमन तथा रुष्ट होने और प्रिय के द्वारा मनाये जाने की कल्पना मात्र से आनन्दित होती है।[3] प्रिय यद्यपि विप्रियता का कारण बन गया है तो भी आग की तरह उसकी आवश्यकता बनी ही रहती है। यह है नायिका की नायक के प्रति एकनिष्ठता जो विप्रिय पति को भी त्यागने की कल्पना नही करती।[4] यद्यपि वह पति से रूठकर बैठी है पर सखी जब सदोष पति की निन्दा करती है तो उसे यह कहकर वर्जित करती है कि वह इस बात को एकात में बताये ताकि उसका पक्षपाती मन न सुन सके।[5] अपभ्रश मुक्तककारों ने नायक के मान का भी

१. हिअडा फुट्टि तडत्ति करि काल खेवे काइं।
देक्खउ हय विहि कहिं ठवइ पइ विणु दुक्ख समाइं ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २३ ।

२. अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुढि चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लेहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ २ ॥
हेमचन्द्र अपभ्रंश व्याकरण ।

३ एसी पिउ रुसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥ वही, पृ० ६१ ।

४. विप्पिअ आरअ जइवि पिउ तोवि त आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥४॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, २।३४३।४ ।

५. भण सहि निहुअउं तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठ सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥
हेमचन्द्र : अपभ्रश व्याकरण, पृ० ६४ ।

चित्रण किया है। नायक मान किये बैठा है। कोई दूती या सखी उससे कहती है कि हे दुल्हा, तुझे बरजा कि दीर्घ मान मत कर अन्यथा नींद ही नींद मे रात बीत जायेगी, झटपट विहान हो जायेगा।[1] मान करनेवाली नायिकायें भी कई तरह की हैं—कुछ तो मान को स्वाभिमान से सयुक्त करके आन्तरिक इच्छा के बावजूद मान तोड़ना नही चाहती हैं।[2] ऐसी एक मनस्विनी नायिका के चरणो पर पति गिर गया है तब भी उसके चित्त में मान विसर्पण कर रहा है। उसका शरीर कोप से आरक्त है। मनस्विनी तथा मान-गर्विता नायिका के लिए मादक ऋतुएँ बड़ी खतरनाक होती हैं। बसन्त जैसी मादक ऋतु में मान धारण करना मुश्किल हो जाता है। कुछ सखियाँ तो मान को किसी भी अवस्था में उचित नही मानती क्योंकि अविघट परस्पर प्ररूढ़ गुण ग्रंथि से निबद्ध अतिचार से सरलता से लब्ध प्रेम गलने लगता है। इसलिए उत्तम रमणी के लिए मान का भार उचित नही है। हस्त गामिनियो को कलह करने पर भी प्रणत मुख पति के मुख की इच्छा करनी चाहिए। यही नही बलपूर्वक क्रीड़ा करना भी उचित है। विप्रिय होते हुए भी अग्नि की तरह प्रिय की उपयोगिता का चित्रण विद्यापति ने भी किया है—

> जइसे डगमग नलिनि का नीर तइसे डगमग धनि क शरीर।
> भन विद्यापति सुनु कविराज, आगि जारि पुनि आगि क काज ॥[3]

अपभ्रंश की नायिका की तरह बिहारी की नायिका को सखियाँ मान की विधि समझा रही हैं इतने में नायिका उन्हे इशारो से वर्जित करती है कि वे धीरे-धीरे बात करें क्योंकि उसके हृदय में बिहारीलाल सदा निवास करते हैं।[4] प्रिय दर्शन से उत्पन्न बौद्धिक विगलन की मजबूरी का अनुभव रीति

---

१. ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
   निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥२॥
   हेम० : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २

२. किं अज्ज वि माणासिणिमाणसि माणु विसट्टइ माणइ न
   इअ संजाइण कोविण णावइ आरत्तयतणु पयाणउ रमणु
   अहिणवउग्गमि हिमकिरणु ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ४८.१,

३. विद्यापति पदावली, ४७।१०६।

४. सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजत बाल।
   हरुएँ कहि मोहिय बसत, सदा बिहारी लाल ॥
   लालचन्द्रिका ७१३।

नायिका भी करती है। सखियाँ कहती हैं और वह खुद भी समझती है परन्तु नायक को देखते ही उसका मन अपना रह ही नहीं जाता तो मान कहाँ धारण किया जाय।[1] वसन्त, पावस आदि मादक ऋतुओं में मान करने की कठिनाई का चित्रण रीति कवियों ने अनेक स्थलों पर किया है। सूरसागर में भी इस तरह के अनेक चित्रण मिलते हैं। प्रकृति के विशाल प्रांगण में लताओं तथा तरुवरों के मिलन का चित्रण करती हुई सखियाँ नायिका से कहती हैं कि यह ऋतु रूठने योग्य नहीं है।[2] फिर वे घोर घटाओं की उमड़न तथा बड़ी-बड़ी बूँदों वाली वर्षा के आगमन की चर्चा करके राधा को मान की दुष्करता का आभास देती हैं।[3]

प्रिय के पास पहुँचने का उपक्रम :

प्रवासी प्रिय से मिलने के लिए विरहिणियाँ अनेक उपाय करती हैं। संदेश-प्रेषण, पत्र-प्रेषण, पत्र-प्रेषण के साथ वे मानसिक पहुँच भी करती हैं। इस मानसिक गमन का चित्रण अपभ्रंश कवियों ने बड़ी मार्मिकता से किया है। नायिका कहती है 'हे मन उस देश में जाओ जहाँ प्रिय का प्रमाण उपलब्ध हो। यदि आता है तो उसे लाओ और यदि नहीं आता तो वहीं निर्वाण प्राप्त कर लो।'[4] इतना कड़ा आदेश देकर मन भेजा गया। नायिका को ज्ञात था कि वह प्रिय को लाकर उसे सन्तोष देगा। परिस्थिति और भी मार्मिक हो

---

१. तूँहूँ कहति हौं आपुहूँ समझत सबै समान।
लखि मोहन जो मन रहै, तौ मन राखौं मान॥ ४५८॥
बिहारी बोधिनी, पृ० १६४।

२. यह ऋतु रुसिवे की नाही।
बरसत मेघ मेदिनी कै हित प्रीतम हरपि मिलाही॥
सूरसागर, पृ० १०६४ पद ३३६४।

३. घोर घटा उमड़ी चहुँ ओर ते ऐसे मे मान न कीजै अयानी।
तू तो बिलंबति है बिन काज बड़े-बड़े बूँदन आवत पानी॥
सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर-सीताराम उद्धृत-रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० ४३१

४. जाइज्जइ तहिं देसडउ लब्भइ पिय हो पमाणु।
जइ आवइ तो आणियउ अहवा तं जि निवाणु॥
हेमचन्द्र - प्राकृत व्याकरण ४।४१६।२।

गयी जब मन भी धोखेबाज निकल गया। 'संदेश-रासक' में ऐसे ही धोखा देने वाले मन का चित्रण किया गया है। नायिका बेचारी अब बैठकर पाश्चाताप कर रही है। उसने घना दुख सहकर विचारपूर्वक मनोदूत भेजा था। प्रिय नही आया मनोदूत भी वही रत हो गया। इस तरह शून्य हृदय वह भरमती हुई रात व्यतीत करती रही। यहाँ तो वही हाल है कि खच्चरी सींगों के लिए गई और कान भी गंवा आयी। फिर वह प्रियतम को भी अन्यायी समझती है जिसने दूत भी पकड लिया।[1] 'ढोला मारुरा-दूहा' की नायिका घोड़े पर सवार होकर जाने की इच्छा व्यक्त करती है[2] और विद्यापति की नायिका सखियो से प्रियतम के देश को पूछती है और योगिनी का वेप धारण करके जाना चाहती है।[3] कभी मन प्रियतम के साथ संयुक्त हो जाता है साथ मे छाया लगी रहती है। प्रिया का मन प्रियतम के जी में बसने लगता है परन्तु प्रिय का ध्यान भी प्रियतमा की ओर नही खिचता। इस तरह की अनन्यता मे मन को दूत बनाकर प्रिय के पास भेजना मुश्किल होता है क्योकि वह अपना साथ ही छोड़ चुका होता है। सूरदास अपने एक पद मे इस भाव को व्यक्त करते हैं—

> साई मेरौ मन पिय सौं यौं लाग्यौ
> ज्यौं सग लागी छाहि।
> मेरौ मन पिय जीव बसत है,
> पिय जिय मो मैं नाहि॥[4]

---

१ मइ जाणिउ पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ,
णहु मुणिअउ खलु धिट्ठ सोवि महु मिल्हिहइ।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थवि रहिउ,
सव्व हियउ महु दुक्खि भरिउ पूरिउ अहिउ॥ १६७॥
अद्दहमाण : संदेशरासक-१६३-१६४, छं० १६६।

२. जइ तूँ ढोला नावियउ कइ फागुण कइ चेत्रि।
तउ मे घोड़ा वाधिस्या काती कुड़ियाँ खेत्रि॥
ढोला मारुरा दूहा, १४६, १४५।

३. मास असाढ उनत नव मेघ प्रिय विसलेख रहओं निरथेघ।
कौन पुरुष सखि कौन सो देस करन मोकं तहाँ जोगिन भेस॥
विद्यापति पदावली।

४. स० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार (राधाकृष्ण), पृ० १०५।

इस तरह हम देखते है कि प्रिय के पास मन को दूत रूप मे भेजकर मानसिक मिलन करने की चेष्टा अपभ्रंश तथा हिंदी में समान रूप से पायी जाती है।

नायिकाओं का रूप :

अपभ्रंश मुक्तको मे अधिकतर पारिवारिक तथा स्वस्थ चित्रण के कारण स्वकीया नायिकाओ का ही वर्णन मिलता है। अपभ्रश मुक्तककारो के लिए इस तरह का वर्णन आवश्यक भी था क्योकि लोक जीवन मे यौन सम्बन्धी स्वच्छन्दता सख्त रूप से वर्जित होती है। किन्तु मस्त और छलकता यौवन कभी-कभी सामाजिक बन्धनो को तोड़कर स्वेच्छाचार की ओर प्रवृत्त होता है। इस तरह सामाजिक वर्जनाओ के बावजूद नायक और नायिकाओं का लुका-छिपा प्रेम चला करता है। अपभ्रंश मुक्तककार इन तथ्यो से अनभिज्ञ नही थे। अत: स्वकीया के एकनिष्ठ प्रेम के साथ परकीयाओ का भी सकेत मिलता है। चन्द्र ग्रहण को देखकर असतियों ने हँसकर कहा कि प्रियजनो का बिछोह करने वाले को हे राहु निगलो निगलो। ये असतियाँ परकीया ही है जो अपने प्रेमियो से मिलने के लिए अंधेरी रात की प्रतीक्षा में है।[1] परकीया नायिका में अनुरक्त पति को सम्बोधित करके स्वकीया कहती है कि हे दूल्हा ऐसा परिहास किस देश में होता है। हे प्रिय मैं तो तुम्हारे लिए क्षीण होती हूं और तुम अन्य के लिए।[2]

भक्तिकाल मे श्रीकृष्ण और गोपियो के आध्यात्मिक प्रेम चित्रण मे स्वकीया और परकीया का आदर्श बिलकुल क्षीण हो गया। रीति कवियो ने अपभ्रंश के इन परकीया संकेतो को अपने सामाजिक परिवेश में अपने ढग से विकसित किया। भक्तिकाल में चित्रित परकीया प्रेम के आदर्श को रीति कवियों ने लौकिक श्रृंगार के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया। रीतिकाल मे सैकडो दोहे ऐसे मिलते हैं जहाँ नायिका कभी अपनी पडोसिन के हाथ में अपने प्रियतम द्वारा दिये गये गहनों को देखकर खीझती है कही नायक की लाल-लाल आँखों तथा अन्य रति-क्रीडा के चिह्नों को देखकर कुपित होती है।

---

१. जं दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु।
पिअ माणुस विच्छोहगरु गिलि-गिलि राहु मयंकु॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।३९६।१

२. ढोल्ला एँह परिहासडी अइ भण कवणिहिं देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिं पिअ तुहुं पुणु अन्नहि रेसि॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।४२५।१

प्रेम के मध्यस्थ उपादान :

संयोग मान या वियोग की अवस्था मे प्रेमी और प्रेमिकाओं को एक दूसरे से मिलाने के लिए दूत रूप में दासी, छोटी जाति की स्त्रियों तथा सखियो का प्रयोग संस्कृत तथा प्राकृत आदि में बराबर होता आ रहा था किन्तु अपभ्रंश में दूती का प्रयोग अत्यन्त विरल है। वास्तव में लोकजीवन से उत्प्रेरित अपभ्रंश काव्य मे इसका कम प्रयोग स्वाभाविक भी है। फिर भी अपभ्रंश काव्य में उसका ग्रहण एक विशेष तथ्य की सूचना देता है। वह यह कि यहाँ से लोक भाषा के काव्यों में दूतियों का ग्रहण आरंभ हो जाता है।[1]

सखी :

नायक-नायिका के प्रणय व्यापार मे सखियों की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश मे सखियों द्वारा एक दूसरे की मनःस्थिति का संप्रेषण सर्वाधिक हुआ है। प्रणय तथा रमण के उपयुक्त ऋतु की सूचना प्रायः सखी ही देती है।[2]

अम्मीए :

अपभ्रंश में प्रेम के मध्यस्थ के रूप मे 'अम्मीए' नाम की स्त्री का अत्यधिक उल्लेख मिलता है। विद्वानो ने इसे अम्बिका का अपभ्रंश रूप मानकर माँ अनुवाद किया है। किन्तु 'अम्मीए' द्वारा व्यक्त अनेक उक्तियो पर ध्यान देने से सन्देह उत्पन्न होता है कि एक माँ अपनी बेटी को इस तरह कह सकती है। एक स्थल पर 'विट्टीए' को सम्बोधित करके कोई स्त्री उसे दृष्टिको वंकिम न करने की सलाह देती है क्योंकि उसकी दृष्टि नुकोले भाले की तरह रसिकों के हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है।[3] ऐसी उक्तियाँ भारतीय आचार तथा नैतिकता की दृष्टि से उपयुक्त नही है। अतः श्री जितेन्द्र पाठक ने इसी आधार पर यह अनुमान लगाया कि यह अम्मा या अम्मडि जननी न होकर कोई अन्य वृद्धा नारी होगी जो दूतियों, सखियों, सन्यासिनियों में से कोई भी हो सकती है।[4]

---

१. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० ८४।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।१६, ५।

३. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।३६६।२

४. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० ८६।

भक्ति-काव्य तथा रीति-काव्य मे मध्यस्थों के रूप में सखी और दूती का अधिक प्रयोग मिलता है। 'अस्मीए' नामकी मध्यस्था यहाँ लुप्तप्राय है। रीति कवियो ने दूती का प्रयोग अधिक किया है। दरबारी संस्कृति तथा नायक मे विकसित लम्पटता इसका कारण माना जा सकता है। वचन-विदग्धा दूतियाँ ही इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त थीं। कहीं-कही दूतियों के साथ भी नायक द्वारा रति-क्रीडा का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शील की रक्षा के लिए मध्यस्थता का कार्य समवयस्का सखियों के लिए कितना दुष्कर हो गया था। इसके साथ-साथ रीति कवियों ने परकीया नायिकाओं के प्रणय का चित्रण करके सौतिया डाह आदि के चित्रण में जितनी तल्लीनता दिखायी उतना मध्यगता सखियों का संवेदनात्मक तथा सहानुभूति-पूर्ण चित्रण नही किया।

प्रवास के लिए तैयार प्रिय :

विरह का दु:ख जितना कष्टकारी होता है उसकी संभावना कम भयानक नही है। संस्कृत तथा प्राकृत मुक्तको मे भी ऐसे पर्याप्त कारुणिक चित्रण मिलते है। प्रियतम परदेश जाने के लिए तैयार है। नायिक उसे रोकते-रोकते हार जाती है। फिर वह कहती है यदि वह जाता है तो जाने दो। देखूं वह कितने पग देता है। हृदय में तो मैं तिरछी होकर पड़ी हुई हूँ। यह तो केवल जाने का आडम्बर है।[1] वैसे चाहे नायक हाथ छुडाकर चला ही जाय किन्तु हृदय से तो वह जा नहीं सकता।[2] अगर चला भी जायेगा तो नायक को छोडते हुए नायिका का मरण हो जायेगा और नायिका को छोड़ते हुए नायक का। दोनों के अलगाव की असम्भावना सारस के उदाहरण से सिद्ध की गयी है क्योंकि सारस के मिथुन मे से जो अलग होता है वह कृतान्त का शिकार हो जाता है।[3]

हिन्दी मुक्तककारों में सूरदास ने तो अपभ्रंश के एक दोहे का बिलकुल अनुवाद ही कर दिया है। अपभ्रंश का दोहा प्रवास के लिए तैयार पति के लिए है और सूरदास का दोहा आराध्य कृष्ण के प्रति। इससे अधिक दोनों में कोई अन्तर नही है। अपभ्रंश का दोहा इस प्रकार है :—

---

१. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६७।

२. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण—४।४२०।४

३. वही ४।४२९।२

बाँह बिछोडवि जाहि तुहु हउं तेवंइ को दोसु।
हिअयट्ठिअ जइ नीसरइ जाडउ मुंज सरोसु ।।

सूरदास—बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानि कै मोहिं।
हिरदय ते जब जाहुगे सबल बदौगे तोहिं ।।

रीतिकाल के कवि ने प्रवास करते हुए प्रियतम के लिए अवरोधक रूप प्रिया का चित्रण बाह्य सदर्भ मे किया किन्तु उसे बड़ा विराट रूप प्रदान करके आन्तरिक प्रेम की कसक पर नही बल्कि बाह्य भयंकरता पर आधारित रखा। वह कहता है कि इस संसार सागर को लांघकर कौन पार जा सकता है क्योंकि नारी-सौन्दर्य की छाया उसे बीच मे ही ग्रस लेती है।[1] अपभ्रंश के दोहे मे जो बात चित्रोपम भाषा मे सरस बनाकर कही गई है उसे ही बिहारी ने सिद्धान्त रूप मे रख दिया है अन्यथा बात एक ही है।[2] नायक ने जिस दिन से परदेश जाने की बात चलाई उसी दिन से नायिका पीली होने लगी। उसने भूषण, वसन, पान तथा हँसी का त्याग कर दिया। यह मुग्धा नायिका है अत: प्रवास की संभावना मात्र से तथा अव्यक्त भाव से प्रभावित दिखाई गई है। अपभ्रंश की नायिका प्रौढा है और उसे अपने रूप सौन्दर्य तथा प्रेम पर नाज़ तथा विश्वास है कि नायक उसे छोड़कर जा ही नही सकता।[3]

श्रृंगारिक भावों के अन्तर्गत प्रकृति :

प्रकृति की पृष्ठभूमि में श्रृंगारिक भावो का चित्रण वैदिक काल से किया जाता रहा है। वैदिक संहिता मे ऊषा का चित्रण श्रृंगारिक भावों से ओत-प्रोत है किन्तु आगे चलकर प्रकृति-चित्रण की प्रमुख रूप से दो पद्धतियाँ प्रचलित हुई है।

---

१. या भव पारावार को उल्लंघि पार को जाय।
तिय छवि छाया ग्राहिनी गहे बीच ही आइ ।। १४३३।

बिहारी रत्नाकर

२. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०४।

३. जा दिन ते चलिबे की चलाई तुम,
ता दिन तें वाके पियराई तन छाई है।
कहै मतिराम छोड़े भूषन, वसन, पान,
सखिन सो खेलनि हँसनि बिसराई है ।।
सं० कृष्ण बिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली, पृ० २४८. छं० २०६।

(१) आलम्बन रूप में चित्रण की पद्धति :

इस तरह के चित्रण में प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य का उद्घाटन होता है। किन्तु अपभ्रंश मुक्तककार शुद्ध प्रकृति के प्रति आकर्षित होते नही दिखाई देते।

(२) उद्दीपन रूप :

शृंगारिक भावो को उत्तेजित या उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति को विशिष्ट माध्यम बनाया गया है। अपभ्रश के मुक्तको मे अधिकतर वियोग शृगार के अन्तर्गत प्रकृति के मादक तथा चुभने वाले चित्रण ऊहात्मक पद्धति पर हुए हैं। बसन्त के नैसर्गिक सौन्दर्य लोकोत्तर आह्लाद तथा मादक वातावरण से काम-तप्त, कोयल तथा चातक की ध्वनि को न सह सकनेवाली, ग्रीष्म की तप्त लू से जली हुई, बादलो की कड़कड़ाहट से भयभीत, जाड़े की लम्बी रातों को बिताने में असमर्थ नायिका की विभिन्न दशाओं के चित्रण में प्रकृति को उद्दीपन-विभाव के रूप में ही ग्रहण किया गया है।

अपभ्रश मुक्तककारो ने सर्वत्र प्रकृति को उपर्युक्त रूप में ही ग्रहण नहीं किया वल्कि कुछ चित्रण ऐसे हे जिसमे आलम्बन और उद्दीपन की मिली जुली स्थितियाँ हे। इन चित्रणों मे प्रकृति सजीव तथा मानवीयकृत रूप में उपस्थित होती हैं। प्रकृति अपनी स्वाभाविक रमणीयता के द्वारा कवि को आकर्षित नहीं करती वल्कि अलक्तक से रंजित पगो तथा कण्ठिका से युक्त नारी रूप मे उसके हृदय में शृंगारिक भावों को उद्बुध करती है। इस चित्रण को उद्दीपन विभाव के रूप मे भी माना जा सकता है। विभिन्न ऋतुओ पर नारी-भावो के प्रक्षेपण की प्रवृत्ति अपभ्रंश मे विशेष रूप से परिलक्षित होती है। वसन्त को श्री (लक्ष्मी रूप में कल्पित करते हुए कवि भ्रमरों के रव को उसका सुन्दर गीत मानता है तथा चपक को उसका शेखर मानता है।[१] नायक स्वय नायिका का ध्यान आकर्षित करता है कि नवकुवलय के समान नेत्रोवाली चन्द्रमा के समान मुखवाली, कोमल कमल के समान हाथों वाली शरत् लक्ष्मी को देखो।[२] इन चित्रणों में नारी के समस्त अगो तथा गुणों का आरोपण न

---

१ अलिरव गीई कयचंपयसेहर,
महुसमयसिरी उअ जणहु मणोहर ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन
६।१६३।१६१३

२. नवकुवलय नयण संसक बयण धण ।
कोमल कमलकर उअ सरयसिरि किर ॥ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन
६।२१०।२५.१

होकर किसी में सौन्दर्य प्रसाधनों का किसी में ललित गुणों का और किसी मे प्रमुख अंगों का प्रक्षेपण करके श्री या लक्ष्मी की परिकल्पना कर ली गयी है। श्री या लक्ष्मी शब्द भी साभिप्राय प्रयुक्त जान पड़ते हैं। श्री सौन्दर्य का भी पर्याय है। अर्थात् सौन्दर्य ही शरद, पावस या बसन्त के रूप में सजीव नारी बनकर मूर्त्त हो उठा है।

रीति-मुक्तकों में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन तथा आलम्बन दोनों रूपों मे हुआ है। इनमें षड्-ऋतु वर्णन तथा बारहमासा आदि परम्परित रूढ़ियाँ ही है। इनमे मूल भावों की प्रायः समानता ही पायी जाती है। अपभ्रंश कवियों द्वारा ऋतुओ की नारी रूप कल्पना का प्रभाव बिहारी के प्रस्तुत दोहे पर स्पष्ट परिलक्षित होती है—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुख चन्द।
समय आय सुन्दरि सरद, काहि न करति अनन्द ॥[१]

अपभ्रंश के कवियों ने प्रकृति के चचल नृत्य, मधुर गीत तथा मनोहर नाटक को स्पष्ट रूप मे दृष्टिगत किया था। कोयल के संगीत के साथ नवलता रूपी वनिता नाचती है। मलयानिल ही नर्तक है। रीति कवि भी इसी से मिलता जुलता चित्रण करता है—

रचि नाच लतागन तानि वितान
सबै विधि चित्त चुरायो करै ॥[२]

अन्य ऋतुओं के चित्रण में रूढ़ियाँ समान रूप से चित्रित है। शरद की दीर्घ रात्रि, ग्रीष्म की बेहद गर्मी, विद्युत तथा घनघोर घटाओं की भयंकरता के चित्र बिलकुल समान ही है। रीतियुगीन कवियों का चित्रण दरबारी वातावरण से अधिक प्रभावित है। इसीलिए ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते समय कवि रंग मन्दिर को नहीं भूलता।[३]

पूरे प्रकृति-चित्रण में कला का विशेष आग्रह अपभ्रंश तथा हिन्दी दोनों में मिलता है। अधिकतर तो प्रकृति चित्रण की पूर्व प्रचलित रूढ़ियाँ है जो अपभ्रंश तथा रीतिकाव्य में अपने-अपने ढंग से चित्रित हैं।

---

१. लाला भगवानदीन : बिहारी बोधिनी—पृ० २८८।

२. द्विजदेव सं० जवाहरलाल : शृंगार-लतिका सौरभ, पृ० ८०।

३. सं० पं० उमाशंकर शुक्ल : कवित्त रत्नाकर, छं० ४०।

वीर-भावात्मक प्रवृत्ति :

संस्कृत, प्राकृत आदि मे शौर्य तथा वीरता का चित्रण महाकाव्यों में अधिक प्रतिफलित हुआ । मुक्तक काव्यों मे शृंगार के मधुर तथा ललित भावों को ही निरूपित करने का उद्यम किया गया । अपभ्रंश में अपने आश्रयदाता, धर्म, कला तथा प्रजा को सरंक्षण प्रदान करने वाले राजाओ की वीरता, कीर्ति तथा उनके शत्रुओं की दुर्दशा का अतिरंजित, चमत्कारात्मक वर्णन की प्रवृत्ति का सूत्रपात ही नही पर्याप्त विकास भी हुआ । वीर भावो को प्रस्फुटित करने के लिए कई पद्धतिया अपनायी गयी । उनमे से प्रमुख अधोलिखित हैं—

१ —नायिका के विभिन्न कथनो के माध्यम से ।

२—राजाओं के यश तथा शौर्य के प्रत्यक्ष वर्णन से ।

३—शत्रुओं की अनेक दुर्दशाओ के चित्रण से ।

४—युद्ध प्रयाण, तलवार, युद्ध प्रवृत्त नायक के वर्णन से ।

नायिकाएँ आराध्य-देवताओ तथा देवियो से ऐसे कंत की याचना करती हैं जो त्यक्तांकुश प्रमत्त गजो से हँसता हुआ भिड जाय ।[1] अपभ्रंश की नायिका अपने पति को सिंह के समान मानने में अपमान का अनुभव करती है क्योकि सिंह तो अरक्षित गजो को ही मार पाता है जबकि उसका पति हजारों पदरक्षको से रक्षित गजों को मार गिराता है ।[2]

कुछ नायक-नायिकाओं के लिए युद्ध विशेष रुचि का विषय बन गया था । बहुत दिन युद्ध न होने पर शक्ति के अतिरेक से उनके अंग फड़कने लगते थे । नायिका अपने वीर पति से निवेदन करती है प्रियतम उस देश में ,चलो जहाँ खड्ग का व्यापार होता है क्योकि रण-दुर्भिक्ष मे दोनो भंग हो गये हैं और बिना जूझे मन नही मानता ।[3] युद्ध के समय नायक के प्रयाण कर जाने पर

---

१. आयहिँ जम्महिँ अन्नहिँ वि गोरी सु दिज्जहि कंतु ।
गय मत्तहं चत्तकुसहं जो अब्भिडइ हसंतु ॥ हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३७९।२

२. कंतु जु सीहहो उवमि अइ तं महु खंडिउ माणु ।
सीहु निरक्खम गय हणइ पिउ पय रक्ख समाणु ॥ वही; ४।४१८ ।

३. खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं ।
रण दुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं ॥ वही ४।३८६।१ ।

हाथ पर हाथ रखकर वह रोती बिलखती नहीं है। वह सच्चे अर्थों में वीर वधू है जो युद्ध में भी अपने पति की सहयोगिनी है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश मे वीर-दम्पति का अपूर्व वर्णन मिलता है। हिन्दी साहित्य मे वीर-दम्पत्तियो का वर्णन शायद ही मिलता हो। इस परम्परा का प्रभाव सीधे राजस्थानी हिन्दी के डिंगल रूप पर पडा। इन्ही भावो से मिलती जुलती अनेक मार्मिक उक्तियाँ डिंगल काव्य मे मिलती है। डिंगल काव्य से चित्रित एक नायिका के हाथ मे पाणिग्रहण के समय जब तलवार के मूठ से चिन्हित हाथ गडते हैं तो वह खुशी का अनुभव करती है और सोचती है कि उसका पति युद्ध में अकेले होने पर भी उसकी चूडियों को लज्जित नही करेगा।[1] वीर पति की कामना की व्यंजना अपभ्रश की नायिका की कामना के तुल्य ही है। कवि द्वारा वर्णित नायिका पहले युद्ध में तो नही गयी थी पर रण मे विस्फोट सुनकर अपनी भाभी से कहती है कि हम लोगों ने जो घुड़सवारी सीखी है वह किस काम की। रण की तेज़ आवाज सुनायी दे रही है इसलिए शीघ्र ही हाथ मे घोडे की लगाम लो—

> **घोड़े चढ़णो सीखिया, भाभी किसणो काम।**
> **नव सुणी जै दार रो, लीजै हाथ लगाम ॥[2]**

वीर-वधू अपने प्रिय के घावो को देखकर सती हो जाने का हर्ष व्यक्त करती है। उसका पति बहुत से घावों से छिद गया है। खून के बहने के कारण रास्ता कुंकुम वर्ण का और सफेद घोड़ा मजीठ रग का हो गया—

> **घव घावां छकियाँ घणां है लो आवै दीठ।**
> **मारगियो कूंकू वरण, लो लौ रंग मंजीठ ॥[3]**

कवियो ने राजाओं तथा वीरो की कीर्ति तथा यश का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण शैली में किया है किन्तु यह अतिशयोक्ति भी अस्वाभाविक नही है। कवि द्वारा चित्रित वीर की कीर्ति गंगा शिव के हास के समान उज्ज्वल है यह सागर का

---

१. हथलेवे की मूठ किण, हाथ विलग्गा माय।
   लाखा वातां हेकलौ, चूडी मो न लजाय ॥
   कविराजा सूर्यमल्ल : डिंगल में वीररस, ५।६२।

२. जितेन्द्र पाठक : हिंदी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २३३।

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ७६।

रहते है और घने कंटक में घूमते रहते है।[1] प्रियतम के मर जाने के कारण शत्रु-पत्नियों की दशा भी सोचनीय है। उनकी कज्जल की रेखा आसुओ के साथ गलकर गिर रही है। निरन्तर विलाप करते रहने के कारण उनकी आंखे रक्त हो गयी है। मानो अधर का अलक्तक उनके नेत्रों में प्रविष्ट हो गया है।[2] अति दौर्बल्य के कारण उन्होने सोने के आभूषणों को त्याग दिया, वस्त्रो को छोटा कर लिया तब भी वे रमणियाँ रमण स्थान के भार से आक्रान्त होकर चलती है :

> कंचण भूषण छड्डिअ लंडिवि वसणु वि लहुइउतुटिअ पलाइरिहिं।
> तु वि किच्छिण रसणत्थलभारवकंतिहि गम्मइ तुह रिउसुंदरिहिं॥

शत्रुओ की दुर्दशा का चित्रण जितना मार्मिक है उससे अधिक चमत्कारिक। यह द्विविध प्रवृत्ति अपभ्रंश तथा हिंदी मुक्तक काव्यों मे एक जैसी परिलक्षित होती है। हारे हुए राजाओ की स्त्रियाँ जो ऊँची अट्टालिकाओ मे रहती थी वे पर्वतो की गुफाओं में रहने लगी हैं। कंदमूल की जगह वृक्षो की जड़ें बेर तथा वनस्पतियाँ खाकर जीती हैं और पानी की दुर्लभता से मुरझाकर मरती है।[3] बैरी की पत्नियाँ बार-बार अपने पतियो को कहीं छिप जाने की सलाह देती हैं।[4] अपभ्रंश मे रण-स्थल, तलवार, सेना के प्रस्थान आदि का भी सुन्दर वर्णन मिलता।

'प्राकृत पैंगलम्' मे राजा हम्मीर की रण-यात्रा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। हम्मीर जब हाथियो की सेना से सुसज्जित होकर रणयात्रा के लिए चलते हैं तो म्लेच्छो के पुत्र बड़े कष्ट से हाहाकार करके मूर्छित हो जाते हैं। उनकी सेना साधारण नहीं है बल्कि इतनी विशाल है कि उसके बोझ से पृथ्वी दब जाती है। प्रस्थान से जो धूल उठती है उससे सूर्य ढक जाता है। कमठ की पीठ तड़क जाती है और मदराचल के अग्रभाग प्रकम्पित हो उठते

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ५।१८६।४२।१।

२. कज्जल लेहविललोअणहं, गलिअंसु जलिणपम्हुट्ठउ।
अहरालत्तयरसु सामरिसु, तुहरिउवहुनयणिपइट्ठउ॥ वही, ६।२०।५४।

३. भूषण ग्रंथावली . श्री शिवा बावनी, पृ० ११४-११५।

४. सं० उदय नारायण तिवारी : शिवराज भूषण, पृ० ७४।

है।[1] कवि अपने स्वामी का यशगान तथा शौर्यगान ही नही करता बल्कि स्वयं सुलतान के सिर पर तलवार मारकर अपने शरीर का परित्याग कर स्वर्ग जाना चाहता है। कवि जज्जल क़लम का ही सिपाही नही एक युद्ध वीर भी प्रतीत होता है। भूषण आदि हिंदी कवियो ने सैनिक प्रस्थान का चित्रण बिलकुल इसी अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में किया। मान कवि का उदाहरण देखिये :—

सल सलिल सेस दल भार सिर
कमठ पीठि उठि कल कलिय
हल हलिय असुर घर परि हलक,
खनि सहित रिपु रलतलिय।[2]

रण स्थल में हाथियों का जूझना, तलवार संचालन का चित्रण करने में कवि अपभ्रंश की परम्परा से काफी निकटता स्थापित करता है। असि का गत्यात्मक चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

भुज भुजगेस की है संगिनी भुजंगिनी सी खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
पाखरिन बीच धंसि जाति मीन पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के।[3]

सुभाषित :

साहित्य मे किसी न किसी रूप से मानवीय हित की भावना निहित मानना असंगत नहीं कहा जा सकता। कवि अपनी सूक्ष्म तथा सर्वग्राहिणी दृष्टि से जीवन सम्बन्धी सामान्य तथा कटु सत्यो को संस्पर्शित करने की चेष्टा मे सफल होता है। वह सारे बौद्धिक अनुभवों को भावना के रंग में रंगकर या कला से सँवार कर पाठकों या श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि धर्म, नीति, आचार आदि उसके अनुभवो की सीमा में बड़ी सरलता से आ जाते हैं। कवि बिना किसी अवरोध के इन पर अपने विचारों को व्यक्त करते है। इनकी ये सुन्दर उक्तियाँ किसी दार्शनिक या राजनीतिक

---

१. पअभरु दरमउ धरणि तरणिरह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठपिट्ठ टर परिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ॥
कोह चलिअ हम्मीरवीर गअजूह संजुत्ते।
किअह कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते॥
संपा० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, पृ० ८१, १।९२।

२. उदय नारायण तिवारी : वीर काव्य, मान कवि।

३. भूषण ग्रंथावली : श्री शिवा बावनी, पृ० १३१।

के सैद्धान्तिक तथा पेचीदे नियमो से भिन्न होती हैं ये पर्याप्त काव्यरस से सिक्त होने के कारण आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण होती हैं। काव्य गुणो के कारण ही इन्हे सुभाषित या सूक्ति कहा जाता है। मोटे रूप से ये सूक्तियाँ छः प्रकार की हैं :—

(१) धर्मपरक ।
(२) कामपरक ।
(३) नीतिपरक तथा समाजपरक ।
(४) स्वभावमूलक ।
(५) अनित्यता तथा भाग्यवादी ।
(६) वैराग्यपरक ।

(१) धर्मपरक सूक्ति या सुभाषित :

चाहे सिद्ध कवियो की धार्मिक सूक्तियाँ हों, चाहे जैन धर्म की या शैव धर्म की सब में करीब-करीब वही बातें मिलती हैं जो अन्य भारतीय धर्मों में पायी जाती है। ऐसे कथनों में ये कवि अपनी साम्प्रदायिक सीमा से बिलकुल मुक्त होते है। इसी कारण इनके विचार सार्वभौमिक तथा समस्त मानवीय कल्याण से उत्प्रेरित होते है। क्रूरता, स्त्री लंपटता तथा गुरु के वचन को खडित करने से सासारिक आवागमन छूटते नही हैं। बल्कि इस तरह के व्यक्ति को ससार में पुनः पुनः आना पड़ता है जैसे कोल्हू का बैल बार-बार चक्कर लगाता है।[1] यम के मुख के नीचे सदैव जीवन दबा हुआ है। यह निश्चित नही है कि कब मृत्यु आ जाय। इसलिए विषय-तृष्णा को छोड़कर भगवान् का गुण-गान करना चाहिए। कवि सत्सगति के लाभ को बड़े चमत्कारिक तथा कलात्मक ढग से 'तर्‌यौना' तथा 'बेसर' के गहनो को श्लिष्ट अर्थ मे ग्रहण करके व्यक्त करता है। श्रुति का सेवन अर्थात् पठन, पाठन श्रवण करते रहने पर स्वर्ग प्राप्ति शीघ्रता से संभव नही होती।[2] ये समस्त उक्तियाँ भाव तथा उपदेशात्मकता की दृष्टि से सरहपाद, जोइन्दु, देवसेन, कबीर, सूर, तुलसी की उक्तियो से तनिक भी भिन्न नही हैं। किन्तु अपनी चमत्कारिकता तथा

---

१. कूड चित्त तिय लंपडा गुरु वयनं कुरु क्खत्त ।
अठहि कोलहव वसहु जिम णर संसारि भमंत ।। बारक्खडी ।

२ अजौ तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक संग ।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग ।। २० ।। बिहारी रत्नाकर

कलात्मकता के कारण ही रीतिकालीन जान पडती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि धार्मिक सूक्तियो का एक सर्वमान्य सिलसिला अपभ्रंश तथा हिंदी मुक्तक काव्यो में समान रूप से मिलता है। भाग्य के दुर्धर्ष चपेटे सहना, नश्वरता का का अनुभव तथा किसी तरह की परवशता मे पड़कर परेशान होना स्वाभाविक ही नहीं जीवन के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। अपभ्रंश कवि कहता है कि सचराचर महापीठ के सिर पर जो दिनकर अपने 'पाद (किरणों) को डालता है वह भी अस्त हो जाता है। भवितव्यता होकर ही रहती है उसे कौन रोक सकता है :—

महवीढ़ह सचराचरह जिणि सिरि दिण्हा पाय।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होउ चिराय ॥[१]

कामपरक सुभाषित :

अपभ्रंश के मुक्तक कवि प्रेम की समस्त चेष्टाओं तथा भंगिमाओं के सफल निरूपक थे। उन्होंने प्रेम तथा काम सम्बन्धी अनेक निष्कर्ष भी निकाले थे। उनकी काम सम्बन्धी सुन्दर उक्तियाँ बहुत प्रभावशाली तथा मार्मिक हैं। प्रेम ऐसा भाव है जिस पर दूरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता यदि प्रेम मे कोई कपट या कृत्रिमता नहीं है। कहाँ चन्द्रमा और कहाँ समुद्र, कहाँ मयूर और कहाँ मेघ। दूर रहनेवाले सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है।[२] विरह मे संतप्त नायिका को यदि प्रियतम का सँग नहीं प्राप्त होता तो संदेश से क्या लाभ जैसे सपनो के पिए जल से प्यास नही बुझती।[३] ललित और विलास के योग्य कोमल नायिका का शरीर तप के योग्य नहीं होता क्योंकि मालती का पुष्प भ्रमर के पदों को सहता है किन्तु गधे और शकुनि के स्पर्श को नही। सुन्दर नायिकाओं की दृष्टि सब युवको पर अनुरक्त नही होती कोई धन्य युवक

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० ९७।

२. कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु।
दूर हिआइ वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥ ७ ॥
हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ७१।

३. संदेसें काइं तुहारेण जं सङ्गहो न मिलिज्जइ।
सुइणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥ १ ॥
वही, पृ० ८२।

होता है जो विकसित नेत्रों वाली तथा विभ्रम से तथा विलसित मुखों वाली तरुणी से समादृत होता है।[1] ये समस्त उक्तियाँ सामान्य अनुभवों पर आधारित तथा मौलिक हैं।

श्रृंगार तथा प्रेम के सफल चितेरे रीतिकालीन कवियों ने कामपरक सुभाषितों की भरमार कर दी। सौन्दर्य और असौन्दर्य की अनुभूति बहुत कुछ व्यक्ति रुचि पर निर्भर है इसी आधार पर एक सूक्ति रची गई :—

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ ॥[2]

नीतिपरक तथा समाजपरक सुभाषित :

अपभ्रंश कालीन सामन्ती व्यवस्था में स्वामी और भृत्य की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण थी। धन-दौलत से मदान्ध स्वामी लोग उचित अनुचित पर प्रायः ही ध्यान देते थे। तत्कालीन जीवन को प्रतिबिम्बित करनेवाली कुछ सूक्तियाँ अपभ्रंश काव्य मे बिखरी हुई प्राप्त होती हैं। अपभ्रंश कवि सुभृत्य के परि-त्याग और खल के सम्मान की बात को एक सामान्य सत्य से जोड़कर कहता है कि सागर तृणों को अपने ऊपर धारण करता किन्तु बहुमूल्य रत्नों को भीतर तले में रखता है।[3] तत्कालीन परिवेश मे उन्नति का दो ही सुकर मार्ग दीखता था पहला तो स्वयं प्रभु होना दूसरा किसी अच्छे प्रभु का विश्वास पात्र होना। यह थी कवियों की विवशता जिसका कि अपभ्रंश कवि को पूरा-पूरा अहसास था और यही थी विकास की सुन्दर नीति :—

आपणपइं प्रभु होइयइ कइं प्रभु कीजइ अत्थि।
काजु करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि ॥[4]

---

१. कुइ धन्नु जुआणउ विआसिअ दीहर नयणिए।
मज्जइ तरुणिए, विब्भम विलसिअ वयणिए ॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।१९, ३६

२. बिहारी रत्नाकर, दोहा ४३२, पृ० १७८।

३. सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं ॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३३४।१।

४. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० ८१।

हिन्दी के रीति कवियों मे अधिकतर राजाश्रय प्राप्त करने मे सफल ही थे परन्तु कतिपय कवियों को इसके लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ा था। दीनदयाल गिरि ने तो अविवेकी देश मे जाने के लिए सुजनो को वर्जित ही कर दिया है :—

नहिं विवेक जेहि देस में तहां न जाहु सुजान।
दच्छ जहां के करत है करिवर खर सम मान ॥[1]

धन का अनावश्यक संचय किसी भी युग मे उपयुक्त नहीं माना गया। जब जीवन ही निश्चित नहीं है तो संपति बटोरने से लाभ ही क्या है। ऐसा करना मूर्खता है क्योंकि कोई ऐसा भय पड़ेगा जब जीवन ही समाप्त हो जायेगा :—

दिवेंहिं विढत्तउं खाहि वढ संचिय एक्कु वि द्रम्मु।
को वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥[2]

कृपण धन को संचित करके न अपने लिए खर्च करता है न दूसरों के लिए। वह न तो खाता है, न पीता है न तो धर्म मे ही खर्च करता है जैसे मानो कृपण यह जानता ही नहीं कि यम का दूत क्षण भर मे ही आ पडेगा।[3] रहीम ने भी संचय के विरोध मे एक सूक्ति रची है जिसका भाव अपभ्रंश के उपर्युक्त सुभाषितों से मिलता जुलता है—

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।

सज्जन तथा दुर्जन :

दुनियाँ मे सज्जनो की कमी तथा दुर्जनो का बाहुल्य है। इसीलिए सज्जनों को देश तथा समाज की शोभा माना जाता है। कोई भी देश सरिताओं, सरों, उद्यान तथा वनों से रमणीक नहीं होता अपितु सुजनो के निवास से रम्य होता है।[4] जो निष्कलुष तथा शुद्ध है उसके ऊपर बाह्य सगति का कोई असर नहीं होता। ठीक उसी तरह जैसे यदि राजहंस को सफेद गंगाजल में या कृष्ण

---

१. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, दृष्टांत तरंगिणी, २६।७५

२. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ७०।

३. किर खाइन पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण ॥ वही, पृ० ६५।

४. सरिहिं न सरेहिं न सरवरे हि न वि उज्जण वणेहिं।
देस खण्णा होत्ति वढ निवसन्ते हि सुअणेहिं ॥ वही, पृ० ७२।

यमुना जल मे छोड़ दिया जाय किन्तु उसकी शुभ्रता न बढ़ती है न घटती है।[1]

किन्तु दुर्जन अत्यन्त कुटिल स्वाभाव के होते है। वे वाचाल परुष, गुणो से रहित, प्राण हरने वाले होते है तथा सज्जन प्रचुर स्थान में शीघ्र प्रसार पा लेते है।[2] सामन्तवादी युग मे आर्थिक विषमता बहुत कठोर थी। इस तरह के समाज में धनहीन मनुष्य को सम्मान मिलना कठिन था। कभी-कभी धनी सामन्त युद्धों मे अधिक धन खर्च कर देने के कारण धनहीन हो जाते थे। अत. उनके सहयोगीजन उन्हे छोड़ देते थे और अन्य लोग भी सम्मान नहीं करते थे। सामान्य निर्धनों की भी यही दशा रहती है—

रिद्धि विहूणइ माणुसह न कुणइ कुवि सम्माणु।
सउणिहिं मुच्चउं फल रहिउ तरुवर इत्थु पमाणु ॥[3]

इसी तरह का वर्णन रहीम ने भी किया है—

दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहो वित हानि को, जो न होय हित हानि ॥[4]

ऐसे सामान्य धनी लोगों का जीवन अधिक स्तुल्य तथा सार्थक होता है अपेक्षाकृत उन महान् विस्तार वाले धन-दौलत वाले लोगों के जीवन से। कृपणों का धन विस्तृत सागर के जल के समान है जिससे किसी की प्यास नहीं बुझती है—

तं तेहिउ सायरहो सो तेवड़ वित्थारू।
तिसहे निवारणु पलु वि नवि पर घुट्ठअइ असारू ॥[5]

हिन्दी के प्रसिद्ध नीतिकार रहीम ने उसी पंक जल की प्रशंसा की है जिससे लोगों की किंचित प्यास बुझती है। समुद्र की क्या बड़ाई है जहाँ से संसार प्यासा लौट जाता है—

---

१ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।२० . ४६।

२. वायाला फरूसा विधंणा, गुणिहिं विमुक्का प्राणहर।
जह दुज्जण सज्जण जण पउरि, तेम्ब पसरु न लंहति सर ॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।२२।३

३. कुमारपाल प्रतिबोध, उद्धृत जितेन्द्र पाठक :
हिन्दी मुक्तककाव्य का विकास, पृ० २४६

४. रहिमन-विलास ६।६७

५. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण ४।३६५।७।

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाइ कौन है जगत पियासो जाय ॥[1]

स्वभावमूलक सुभाषित :

स्वभावमूलक सुभाषितों के अन्तर्गत कवियो ने प्रेमी, लक्ष्मी, याचक आदि के स्वभाव का चित्रण किया है। ऐसे मनुष्य जिन्हे असुलभ चीजो की प्राप्ति की प्रबल इच्छा होती है वे दूरी की गणना नहीं करते जैसे भ्रमर कमलो को छोडकर हाथियो के गण्डस्थल की इच्छा करते है—

कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि गण्डाइ महंति ।
असुलहमेच्छण जाहँ भलि ते णवि दूर गणंति ॥[2]

जिन्दगी किसे प्रिय नही है। धन किसे इष्ट नही, पर अवसर आ पड़ने पर कुछ विशिष्ट लोग दोनो को तृण के समान गिनते हैं—

जीविउ कासु न वल्लहउ, धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णि वि अवसर निवडि-अइं तिण सम गणइ विसिट्ठु ।[3]

वृन्द ने कहा कि तन, धन दोनों देकर वीर लोग लाज रखते हैं—

तन धन इ दै लाज के जतन करत जे धीर ।
टूक टूक है गिरत वै नहिं मुख फेरत बीर ॥[4]

अनित्यता तथा भाग्यवादी सूक्तियाँ :

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समय के परिवर्तन के साथ बड़े-बड़े राजा रंक हो जाते हैं। बड़े-बड़े वीर मृत्यु के गाल मे समा जाते हैं। रावण जैसे त्रिलोक्य विजयी जिसके पास लंका जैसा गढ़, चतुर्दिक सागर जैसे खाई थी नष्ट हो गया। नाश और निर्माण की अविरल प्रक्रिया ही तो जगत् है—

सायरु खाइ लकु, गढ़ गढ़वइ दसशिर राउ ।
भग्ग पइ सो भंजि गइ, मंज म करिउ विसाउ ॥[5]

जिस युधिष्ठिर ने पांडव वंश मे जन्म ग्रहण किया सम्पत्ति का अर्जन करके उसे

१. रहिमन विलास, १०।१०२ ।
२. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३५३।१ ।
३. वही, ४।३५८।२ ।
४. सतसई संग्रह—वृन्द सतसई ६२६।२२६ ।
५. प्रबंध चिन्तामणि, पृ० २३ ।

धर्म के लिए दिया। उसी युधिष्ठिर को संकट प्राप्त हुआ। दैव के लेख को कौन मिटा सकता है—

पंडवंसहि जम्म धरीजे, संपअ अज्जिअ धम्मक दिज्जे।
लोउ जुहिट्ठिर संकट पावा, देवक लिक्खअ केण मिट्टावा ॥[१]

रहीम ने भी भावी को प्रबल बताया—

भावी काहू न दही भावी दह भगवान्।
भावी ऐसी प्रबल है कहि रहीम यह जान ॥[२]

मनुष्य कर्म के द्वारा कठपुतली की तरह नाचता है—

ज्यों नाचत कठपूतरी करम नचावत गाथ ॥[3]

वैराग्यपरक सुभाषित :

शृंगार की एकरसता से ऊब कर तथा परलोक की गति-अगति से सन्त्रस्त कवियों में कभी-कभी विरक्ति की भावनायें उठती थी। वे तुरन्त एक उपदेशक का बाना पहन कर वैराग्य का उपदेश देने लगते थे। धार्मिक काव्यों में वैराग्य-परक उपदेशों का बाहुल्य तो स्वाभाविक ही है। प्रत्येक अपभ्रंश का धार्मिक कवि सासारिक सुखों के त्याग तथा स्त्री आसक्ति से बचने का उपदेश करता है। पंचेन्द्रियो सहित मन के नियंत्रण पर इसलिए जोर देना चाहिए। संसार की अनित्यता, दु ख आदि का बोध कराकर धार्मिक कवियों ने अपने मतों की पुष्टि की है। सुप्रभाचार्य स्पष्ट शब्दों में उद्घोष करते हैं कि एक घर मे बधाई है तो दूसरे घर मे हाहाकार रोदन। अतः सुप्रभ के द्वारा कथित वैराग्य भाव को लोग क्यों नहीं स्वीकार करते।[४] सुप्रभ ने धन सम्पत्ति को क्षणिक, मानव देह को नश्वर तथा संसार के सबंधो को मिथ्या माना है।[५] वास्तव मे उनकी एक छोटो सी रचना जिसका नाम 'वैराग्यसार' है वैराग्यपरक सुभाषितो का संग्रह ही है।

भक्तिकालीन मुक्तको में नश्वरता, विषय-त्याग, स्त्री-त्याग से संबंधित अनेक मुक्तक मिलते है। कबीर कहते हैं कि यह तन कच्चे कुंभ की तरह है

---

१. स० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् पृ० २३१, २।१०१।
२. रहिमन विलास, १३।१२६।
३. वही, पृ० ६।५८।
४. एक्कहि घरे बधामणा अण्णहिं धाहहि रोविज्जइ—वैराग्यसार।
५. वैराग्यसार पद्य, ५६, ५६, ६० आदि।

जिसे मास लेकर फिराया जा रहा है। "ठबका" लगने मात्र से यह फूट जाता है और कुछ भी हाथ नही आता। इसलिए विषय वासनाओ का त्याग करके भगवान को भजना चाहिए। कामिनी तो काली नागिन, के समान है। एक ही लोक में नही बल्कि तीनो लोकों मे, यह राम-सनेही को छोड़कर विषयासक्त लोगो को मारकर खा लेती है।[1]

नैतिकता तथा शुद्ध आचरण पर जोर देनेवाले भक्त कवियो ने सत्संगति, परोपकार, सहानुभूति, दान, दया, बाह्याम्बर का तिरस्कार, आन्तरिक शुद्धि इन्द्रिय-निग्रह आदि का उपदेशात्मक वर्णन किया है। ये समस्त वर्णन भक्ति-काव्य के आधारभूत अंग ही हैं। किन्तु मुक्तक काव्य की शुद्ध परिपाटी का निर्वाह रीति-कवियों मे मिलता है। लौकिक शृंगार मे आकंठ मग्न, रति-क्रीड़ा को ही मुक्ति का साधन मानने वाले रीति कवियो ने जो सत्संगति, शुद्ध आचार स्त्री-भय, दान, परोपकार आदि का वर्णन किया है वह अपभ्रंश मुक्तको की विविध प्रवृत्तियो का ही प्रभाव है। अपभ्रंश से पूर्व भी इस तरह की प्रवृत्ति मुक्तक काव्यों में परिलक्षित होती है। एक ही कवि वय-परिवर्तन के साथ या भाव तरंग के बदलाव के साथ शृंगार-नीति वैराग्य के उत्कृष्ट मुक्तको की रचना करता है।

●

१. स० डॉ० माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ५०

अपभ्रंश-मुक्तक काव्य में भाव व्यंजना तथा उसका हिन्दी पर प्रभाव

मुक्तक काव्य मे समस्त रसावयवो का सम्यक् चित्रण न हो पाने के कारण पूर्ण रसनिष्पत्ति का प्रश्न अत्यधिक विवादास्पद रहा। नाटकों में पात्रो की साज सज्जा, आगिक चेष्टा तथा अन्य व्यापारों के प्रत्यक्ष निदर्शन से तथा प्रबन्ध काव्यो मे विस्तृत वर्णन से रस के समस्त अवयवयो का सफलतापूर्वक समावेश कर लिया जाता है। इसीलिए उनमे रस की पुष्टि तथा शास्त्रीय विधानों से सिद्ध अनुभूति होती है। आकार की लघुता तथा सीमितता के कारण मुक्तकों में समस्त रसावयवो को एक साथ समेटना कठिन होता है, किन्तु भाव विशेष को व्यक्त करने के लिए मुक्तक सशक्त माध्यम हैं।

कुछ आलोचकों ने माना है कि मुक्तक काव्य मे रस के छीटे ही पड़ते है। किन्तु यह मत सर्वथा समीचीन नहीं जान पडता क्योकि रसात्मक मुक्तको मे रसानुभूति किसी भी प्रबन्ध काव्य से कम नही होती। 'अमरुक शतक', 'चौर पचाशिका', 'सूरसागर' आदि मुक्तक नीरस नही है। अमरुक के एक-एक श्लोक को सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर माना जाता है। यह अत्युक्ति आकारगत नही बल्कि रसगत है। रसहीन मुक्तक भी महत्त्वहीन तथा अर्थहीन नही होते बल्कि उनका अपना विशिष्ट लक्ष्य होता है। नीरसता के बावजूद उनका सबध मानवीय श्रेयता से रहता है। रस की कम-बेश अनुभूति के आधार पर कोई स्तर भेद भी नहीं माना जा सकता है। किन्तु संपूर्ण मुक्तक-काव्य मे अधिकांशतः भाव-व्यंजना अधिक पुष्ट रूप मे मिलती है। समस्त रसावयवो के अभाव की पूर्ति करने के लिए मुक्तककार किसी एक भाव को इतना गहरा तथा चमकीला बना देता है कि उसमे रसास्वादन की पूरी क्षमता आ जाती है। सामान्य-अनुभवों को भी आनन्दोत्पादक बनाने के लिए मुक्तक कवि उक्ति वैचित्र, चमत्कार आदि माध्यमो का सहारा लेते हैं। मुक्तक काव्य का एक-अन्य रूप जिसमें कला तथा भाव दोनो के प्रति विशेष सजगता मिलती है रस-व्यंजना या भाव व्यंजना की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है। अपभ्रंश तथा हिन्दी दोनो मे रचित पदों की स्थिति ठीक इसी तरह की है। किन्तु जहाँ तक अपभ्रंश में प्राप्त पदों (चर्यागीति पद) का प्रश्न है उनमें वैयक्तिकता, आत्मानुभूति तथा गीतात्मक हिन्दी पदो जैसी है। किन्तु भावनात्मक सूक्ष्मता तथा विविधता वैसी

नही है। अद्वैत की पृष्ठभूमि मे भक्ति भावों के अन्तर्गत माधुर्य-भावो का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना अवश्य है।

अपभ्रंश के लौकिक मुक्तकों मे शृंगारिक भावो को व्यंजित करने के लिए प्रायः सभी काव्य रूढियों को अपनाया गया है किन्तु उनमे अपभ्रंश कवियों की अपनी मौलिक छाप भी है। संभोग चित्रण मे उत्कट लालसा, प्रथम मिलन की दुर्दम अभिलाषा तथा रति-सुख के लिए साथ लेटे हुए प्रिय और प्रिया की सांकेतिक भाव व्यंजना गार्हस्थिक पृष्ठभूमि मे की गयी है। इसलिए ये चित्र अधिक संवेदनात्मक तथा मार्मिक है। चित्रण मे अश्लीलता न होते हुए भी शृंगारिक भावो को उद्बुद्ध करने की पूर्ण क्षमता है। प्रसंगवश कुछ चित्रो के भाव-सौन्दर्य का दर्शन आवश्यक प्रतीत होता है। नायिका का अंग नायक से संस्पर्शित न हुआ तथा ओठो से ओठ भी न मिले। प्रिय का रूप निहारते-निहारते ही सुरति समाप्त हो गयी।[1] इस चित्रण में रूप-सौन्दर्य के दर्शन मात्र से प्राप्त सुरत सुख तथा तृप्ति की व्यंजना होती है। नायिका के मानस में रति-सुख की इच्छा तीव्र हो उठती है। वह कहती है कि यदि मैं किसी तरह प्रिय को पा जाऊँगी तो एक अपूर्व कौतुक करूँगी। जिस प्रकार पानी नये कसोरे मे प्रविष्ट हो जाता है, उसी तरह मैं उसके अग-अंग में प्रविष्ट हो जाऊँगी।[2] इस उक्ति मे कामोद्दीपक अंगो के माध्यम से स्थूल मिलन की कामना नही है बल्कि प्रियतम के रग-रग मे समा जाने की भावना है किन्तु अगो के मिलन का चित्रण कितना भी सूक्ष्म हो वह बाह्य मिलन तक ही सीमित रहता है। कवि नये सकोरे तथा पानी के उदाहरण मे आतरिक मिलन को व्यजित करना चाहता है। नये सकोरे में पानी डालने पर वह उसके आतरिक कणो को भी सिक्त कर देता है। उसी तरह नायिका का आगिक मिलन प्रिय तथा प्रिया दोनो की भावनाओं को एकमेक करके रति की अबाध आनन्दानुभूति में सहायक होगा। वास्तव मे मिलन बाह्य रूप से ही होता है किन्तु पारस्परिक स्पर्श से आन्तरिक भाव उद्दीप्त हो उठते हैं और रसास्वाद होने लगता है। अत अपभ्रंश के इस अपूर्व कौतुक मे तन ही नही मन का भी मिलन

---

१. अंगिहि अंगु न मिलेउ मिलि अहरे अहर न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह कमलु, एम्बइ सुरउ समत्तु॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५।

२. हेमचन्द्र . अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५०।

है।[1] संयुक्त-पारिवारिक व्यवस्था में स्त्री-पुरुष के मिलन की पूर्ण स्वच्छन्दता नहीं रहती। नायक नवागता वधू के प्रथम मिलन की लालसा को ढो रहा है। वह दिवसावसान की प्रतीक्षा कर रहा है। किसी महत् वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा की अन्तिम घड़ी सबसे अधिक मुश्किल होती है। नायक को भी रात में दाम्पत्य सुख की उपलब्धि होगी। इसलिए उसके लिए दिवस बिताना अवश्य ही दुष्कर है। मिलन की तीव्र लालसायें उसके अन्तर को बेचैन किये हैं इधर दुष्ट दिन बीतने का नाम ही नही लेता। प्रतीक्षा की दुष्करता, मिलन सुख की अभिलाषा तथा पारिवारिक संकोच आदि भावो की एक साथ व्यंजना करा देना अपभ्रंश कवि की निजी विशेषता है। नायक द्वारा नायिका के आलिंगन का चित्र पाठकों तथा दर्शकों दोनो के संस्कारगत स्थायी भाव रति को उद्बुद्ध करने में सर्वाधिक सक्षम होता है। ऐसे स्थलों के चित्रण में कविगण प्रायः अश्लीलता से ग्रस्त हो जाते है। अपभ्रंश कवि आलिंगन का एक चित्र प्रस्तुत करता है। नायिका दधि, अक्षत, घन चन्दन मालिका आदि नवरंगो से सुसज्जित है। रति रस के युक्त कंदलिका नायिका को पवित्र प्रसाधनो से युक्त देखकर नायक उसका आलिंगन करता है। इस उदाहरण मे परम्परित रस-व्यंजना के करीब-करीब सभी विधान मौजूद है। इसमे नायक आश्रय है नायिका आलम्बन है, दधि, अक्षत आदि प्रसाधन उद्दीपनपन विभाव के अन्तर्गत हैं क्योंकि ये नायक के भावो को उत्तेजित करते है। उत्कंठा को संचारी भाव माना जा सकता है। अगर कही कोई कमी रह गयी हो तो कवि द्वारा प्रस्तुत रति रस से युक्त कंदलिका नायिका से उसकी पूर्ति हो जाती है। स्थायी भाव रति स्पष्ट ही है। अतः इसमे पूर्ण रूप से रस परिपाक हुआ है।[२]

इस प्रकार हम देखते है कि अपभ्रंश मुक्तको मे भाव-व्यंजना पर अधिक जोर दिया गया है तथा मिलन का चित्रण अधिकतर सांकेतिक रखा गया है।

---

२. जितेन्द्र पाठक : हिंदी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० १०० ।

३. केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ।
नव बहु दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ।।

हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २ ।

१. दहि अक्खय घण चंदण मालिअ नव-नव रगय वावड निअवि पिअ।
गाढोक्कंठासरलिअभुअजुउ अवरुंडइ रइरसभरकंदलिअ ।। ३०.१ ।।

हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, अध्याय ७ ।

हिन्दी के मुक्तककारों ने इसी रति को मुक्ति के समान सुखद माना जिसमें चमक-दमक, हँसी, मजाक, झपट तथा लपट हो। रीति कवियों ने विपरीत-रति को भी व्यंजित करने का उद्योग किया। अपभ्रंश के कवि ने प्रिय-दर्शन का प्रभावात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। नायिका की अभिलाष-दशा विभिन्न संदर्भों में विभिन्न रूप धारण करती है। कवि द्वारा कल्पित हर परिस्थिति एक नये भाव को उजागर करती है। नायक परदेश चला गया है। नायिका प्रियतम के आगमन की संभावना या असंभावना का निश्चय कौआ उड़ाकर करना चाहती है। कौआ उड़ाते समय ही सहसा उसका प्रिय आता हुआ दिखाई दे गया। इतने में उसकी आधी चूड़ियाँ उसके हाथ से निकल कर पृथ्वी पर गिर गयीं और जो बची थीं वे तड़क कर टूट गयीं।[1] इस चित्र में दो प्रकार के भावों को एक साथ व्यंजित किया गया है—एक विरहजन्य दुर्बलता जिसके कारण नायिका की कृश कलाई से चूड़ियाँ निकलकर जमीन पर गिर पड़ती हैं दूसरा भाव प्रिय-दर्शन से उत्पन्न हुलास या खुशी से संबधित है जो चूड़ियों के तड़कने से व्यंजित होता है। चूड़ियां इसलिए तड़क गयीं क्योंकि प्रियदर्शन से नायिका एकाएक स्वस्थ हो गयी। यहाँ पर हर्षातिरेक की व्यंजना आंगिक परिवर्तन की असत्य या ऊहात्मक कल्पना से की गयी है जिसमें मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति के अनुकूल उक्ति-वैचित्र्य ऊहा आदि के होते हुए भी वियोग की अनुभूति की सक्रांति को चित्रित करने की मौलिक चेष्टा की गयी है। प्रिय-दर्शन का दूसरा प्रभाव एक नायिका के शिकायत से व्यक्त होता है। वह अपनी माँ से कहती है कि स्वस्थावस्था में सुख से मान किया जाता है किन्तु प्रिय के दिखाई देने पर हलचली में अपनी ही चेत नहीं रहती।[2] कवि मानसिक अस्वस्थता के कारण मान की असभावना अंकित करना चाहता है। प्रियतम की अनुपस्थिति में मानसिक तनाव को कायम रखना संभव है। किन्तु प्रियतम के सामने आते ही सच्ची प्रेमिका के हृदय में भावना का तेज प्रवाह उद्वेलित होता है तथा मानसिक अस्वस्थता के कारण अपनापन भी विस्मृत हो जाता

---

१. वायसु उड्डावन्तिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥
हेमचन्द्र अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १९।

२. अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधि चिन्तिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १९।

है। फिर मान की परवाह करना कठिन हो जाता है। यही नही प्रेम की प्रबल अनुभूति में नायिका का अपनापन नायक में ही कुछ क्षणो के लिए खो जाता है। दोनों दृष्टांतो की तुलना करने पर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होता है। द्वितीय दृष्टान्त में नायक और नायिका एक दूसरे से बहुत दूर नहीं थे। केवल मान के द्वारा कुछ क्षणों तक वियोग था वह भी प्रियतम की अनुपस्थिति मे, परन्तु प्रथम उदाहरण में नायक और नायिका के बीच दूरी और समय दोनो का बड़ा अन्तराल था। जिसके बाद दोनों का दर्शन हुआ जिसके कारण द्वितीय दर्शन की अपेक्षा काफी अधिक हर्ष हुआ होगा। हर्ष की अनुभूति के इसी महान् अन्तर को दर्शाने के लिए प्रथम चित्रण में कवि को ऊहा का सहारा लेना पड़ा।

तीसरी स्थिति बिलकुल सयोग की है जिसमें प्रिय के समक्ष कचर-कचर न खा सकने और घूँट-घूँट न पी सकने वाली नायिका के सकोच भाव की व्यंजना की गयी है।[१]

रीति-कालीन कवियो ने भी इसी पद्धति से प्रिय-दर्शन-जनित हर्षातिरेक को दर्शाने का प्रयास किया है। मतिराम की नायिका ने जब प्रियतम को परदेश से आया हुआ देखा तो हृदय से इतनी हुलसित हुई कि उसकी चोली टूक-टूक हो गयी। इस चित्रण में भाव व्यजना का द्विविध रूप नहीं दिखाई देता और हुलास में उतनी शक्ति भी नही कि समस्त अंगों पर प्रभाव डाल सके। हिय मे हुलसनेवाला भाव कंचुकी तक ही प्रभाव डाल सका जबकि अपभ्रंश के कवि ने उसका प्रभाव हाथ तक मे माना। दोनों कवियो ने ऊहात्मकता को आधार बनाया है किन्तु मतिराम की उक्ति किंचित क्षीण हो गयी है।[२] प्रियदर्शन से उत्पन्न बेचैनी का अनुभव रीति-नायिका भी करती है। सखियाँ कहती है और वह खुद भी समझ रखती है परन्तु प्रिय के देखते ही उसका मन अपना रह ही नहीं जाता तो मान कहाँ धारण करें।[३]

१. खज्जइ नवि कसरक्केहिं पिज्जइ नवि घुंटेहिं।
एम्बइ होइ सुहच्छडी पिएं दिट्ठें नयणेहिं॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।४२३।२।

२ पति आयो परदेश तें, हिय हुलसी अति बाम।
टूक-टूक कन्चुक कियो, करि कमनैती काम॥१४५॥
हरदयाल सिंह : मतिराम मकरन्द, पृ० २१४।

३. तूहूँ कहति हौं आपहू समझत सबै समान।
लखि मोहन जो मन रहै, तौ मन राखौं मान॥४५८॥
बिहारी-बोधिनी- पृ० १६४

सौन्दर्य-चित्रण के माध्यम से श्रृंगारिक भावों की व्यंजना :

नायिका या नायक सभी के श्रृंगारिक भावों के आलम्बन बन सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि उनका रूप विधान सामान्य स्त्री-पुरुषों से भिन्न हो। मुक्तक कवियों ने इसी दृष्टि से नायिका के अंगों के सौन्दर्य का चित्रण किया है। यद्यपि नायिका के नख से लेकर शिख तक के सभी अंगों का वर्णन मिलता है किन्तु महत्त्वपूर्ण अंगों में नेत्र, मुख, उरोज आदि पर कवियों की दृष्टि अधिक रमी है। ये अंग अधिक कामोद्दीपक भी हैं। अत. इनके चित्रण में अधिक सजगता बरतना स्वाभाविक है। नायक और नायिका एक दूसरे का दर्शन नेत्रों से करते हैं किन्तु नायिका की यह चितवन अन्य चितवनों से भिन्न होती है। इसमें स्निग्ध तथा मधुर भावों को व्यक्त तथा अभिव्यंजित करने की पूरी शक्ति होती है। इसमें अपूर्व भावनात्मक प्रखरता तथा तीक्ष्णता भी होती है जो बर्छी की तरह हृदय में पैठकर नायक को घायल कर देती है।[1] नायिका की बाँकी दृष्टि से देख लिये जाने पर नायक को अपने प्रति आकर्षण तथा आसक्ति के भाव का एहसास होने लगता है। इस तरह के प्रथम दर्शन से अनुराग का अंकुर प्रस्फुटित हो जाता है। अपभ्रंश कवि ने एकदम काव्यात्मक अनुभूति में मिलाकर इसी भाव को संप्रेषित किया है—नायिका के भ्रूचक्र पर चक्र ऐसा सुशोभित है मानो त्रिभुवन विजयी अनंग जनों को आज्ञा देता है। अनंग-काम या श्रृंगार भाव का ही मूर्त्तरूप है। काम के द्वारा नायक को भोग का आमन्त्रण नहीं बल्कि आज्ञा दी जा रही है। आज्ञा में स्वीकार की अनिवार्यता जुड़ी हुई है आमंत्रण में नहीं। नायिका के भ्रू-चक्रों का सौन्दर्य रति-भाव को जागृत करने में पूर्ण समर्थ है क्योंकि उसमें विश्व-विजय करने की सामर्थ्य है। अत नायक बरबस उस ओर आकर्षित होता है। नायिका के वय-परिवर्तन के साथ-साथ नेत्र भगिमा भी बदलती जाती है और उसमें माधुर्य भावों की अभिवृद्धि होती जाती है। इस भाव को दर्शाने के लिए बाण को तीक्ष्ण करते हुए कामदेव का चित्र खींचा गया है। श्यामली के जैसे-जैसे नेत्र बंकिम होते जाते हैं वैसे-वैसे कामदेव अपने बाणों को पत्थर पर रगड़कर तीक्ष्ण बनाता जाता है—

---

१. बिट्टिए मइ भणिय तुहुं मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥

हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३३०।३

जिव जिव बंकिम लोअणहिं णिरु सामल सिक्खेइ ।
तिवं तिवं बम्महु निअय सर, खर पत्थर सिक्खेइ ।।[1]

विहारी ने भी नेत्रों की तीक्ष्ण प्रभावत्मकता को तीक्ष्ण बाण से व्यंजित किया। मतिराम ने काम की प्रबलता, स्नेह, लज्जा आदि भावों की वृद्धि को यों चित्रित करते हैं—

भौंहनि संग चढ़ाइयो कर गहि चाप मनोज ।
नाह नेह साथहिं बढ्यो लोचन लाज उरोज ।।[2]

मुक्तककारों ने नेत्रो को गोपनीय भावाभिव्यक्ति का माध्यम भी बनाया है। जब रुष्ट नायक नायिका के बीच तिलतार सम्बन्ध भी नहीं अवशिष्ट रहता तो नायक निराश हो जाता है। किन्तु नायिका के नेत्रो द्वारा बार-बार देखे जाने पर वह आश्वस्त हो उठता है कि नायिका के मन मे उसके प्रति कहीं-न-कहीं प्रेम अवश्य शेष है।[3] रीति नायिका भी नेत्रो से विवश है। वह अपने स्नेह को छिपाना चाहती है किन्तु सतरोही भौएँ उस प्रेम को व्यक्त कर देती हैं।[4]

नयन से नयन मिलने पर मुख-सौन्दर्य ही एक दूसरे को आकर्षित करता है। इसीलिए मुख को शोभायमान चित्रित करना मुक्तक-कवियों के लिए स्वाभाविक था। सम्पूर्ण शारीरिक अंगो के सुसंस्थित तथा सौन्दर्ययुक्त होते हुए यदि मुख की रचना सुन्दर तथा आभायुक्त नहीं है तो नायिका सुन्दरी नहीं मानी जा सकती है। इसलिए मुक्तक कवियो ने अपनी नायिका के मुख सौन्दर्य को चित्रित करते समय सारे प्रचलित उपमानो चन्द्रमा, कमल आदि को हीन ठहराया। प्रारम्भ मे इन उपमानो मे नायिका के मुख सौन्दर्य की कान्ति, कोमलता आदि व्यंजित करने की पूरी शक्ति रही होगी परन्तु धीरे-धीरे रूढ उपमानों की शक्ति क्षीण होती गयी। मुक्तक कवियो ने नये उपमानो की खोज मे अधिक श्रम नहीं किया बल्कि अपनी नायिका को अपूर्व सुन्दरी बताने के लिए जगह-जगह अतिरंजनाओ तथा चमत्कारो से काम लिया। इन चित्रणो मे

---

१. हेमचन्द्र . प्राकृत व्याकरण ४।३४४।१।

२. सतसई संग्रह : मतिराम सतसई, १२३, ७८।

३. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३५६।१।

४ सतरौही भौंहनि नहीं दुरै दुराए नेह।
होति नाम नंदलाल को नीपमाल सी देह ।।

मतिराम सतसई, १२२।६६।

मूल भाव यही रहा होगा कि सामान्य जीवन मे दृष्टिगत होनेवाली स्त्रियो से नायिका का सौन्दर्य इतना बढा चढ़ा हो कि उसकी कल्पना मात्र से सुप्त भाव जागृत हो उठे और पाठकों को रसानुभूति होने लगे। परन्तु ऐसे अत्युक्तिपूर्ण चित्रणों मे साधारणीकरण के अभाव तथा लोक-निरीक्षण से प्राप्त सौन्दर्यानुभूतियो से बिलकुल अलगाव के कारण भावोद्रेक नहीं हो पाता। मुख की शोभा के वर्णनों में यह बात उतनी संगत नही है जितनी उरोजों और कटि के वर्णनो मे क्योकि मुख सौन्दर्य के चित्रण मे अधिकतर मुख कान्ति (प्रकाश) के सम्बन्ध मे ऊहा की गयी है। यहाँ तो व्यंजना के सहारे इतना समझा जा सकता है कि मुख की आभा असाधारण है। परन्तु उरोजों का चित्रण करते समय कवि उसे हृदय फोड़कर निकलनेवाले निर्दयी की तरह मानता है[1] और उनकी उत्तुंगता इतनी अधिक है कि वे रति मे साधक न होकर बाधक हो गये है।[2] भाव-व्यंजना इन चमत्कारो में उलझ जाती है किन्तु अपभ्रंश मुक्तककारो ने रीति कवियो की अपेक्षा अधिक मर्यादा से काम लिया है। रीति-कवियों ने मुख की आभा को कुछ और चमत्कारिक बनाकर शृंगारिकता मे विहित कर दिया। या इसे यों कहा जाय कि उनका रूप-चित्रण शृंगारिक भावों के अन्तर्गत न आकर शृंगारिक वर्णनो के अन्तर्गत आ गया। बिहारी की नायिका का पूर्ण मुख-चन्द्र सदैव उदित रहता है। अतः उसके घर के आसपास पत्रा से ही तिथियो का ज्ञान किया जा सकता है। स्तनो के सौन्दर्य चित्रण में कठोरता के प्रतिमान को रीति कवियो ने भी ग्रहण किया[3] लेकिन उसे भी वर्णन का स्वतन्त्र विषय बनाकर वे कला के प्रदर्शन मे तल्लीन हो गये अतः भाव-व्यंजना की ओर से उनका ध्यान हट गया। अपभ्रंश के कवियो ने नायिका के कटि की क्षीणता का चित्रण अभिधात्मक शैली मे किया तथापि उनका समस्त चित्रण भावोत्तेजक है किन्तु रीति-कवियों ने कटि-हीन-नायिका की कल्पना करके उसकी सामान्य भौतिक सत्ता ही समाप्त कर दी।

प्रकृति के माध्यम से शृंगारिक भावों की व्यंजना :

मुक्तक काव्य के अन्तर्गत प्रकृति का उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रण की परिपाटी सर्व प्रचलित थी। संयोग की अवस्था में सुरम्य प्राकृतिक दृश्यो से

१. फोडेन्ति जे हियडउं ताहं पराई कवण घृण।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पण बालहे जाआ विषम थण ॥२॥
हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १७।

२. वही, पृ० ४५।

३ ऐसो उरज कठोर तौ उर जु कठोर—मतिराम सतसई दोहा ११८

भोग की अभिलाषा और भी उद्दाम हो उठती है। प्रकृति की मादकता के प्रभाव से छोटे वियोग संयोग में बदल जाते हैं। मान के प्रसंगों मे इसीलिए नायक और नायिका दोनो के लिए उद्दीपक ऋतुएँ दुःसह हो जाती है। नायिकाओं की रुष्टता पाश्चात्ताप में बदलने लगती है। आत्म गौरव की रक्षा के लिए नायिकाएँ तब भी मान पर अटल रहती है किन्तु सखियो को इस बात का पूरा ज्ञान रहता है कि काम संतप्त तथा वियुक्त नारी के लिए रमणीय ऋतुएँ कितनी भयकर होती हैं। अगर प्रियतम बाहर है तो इन ऋतुओं द्वारा अभिवृद्ध वियोग का दुःख किसी न किसी रूप में सहना ही पड़ता है परन्तु यदि प्रियतम निकट ही है और मिलन नहीं होता तो और भी पीड़ा होती है। क्योकि निकटस्थ प्रियतम की स्थिति से संयोग की लालसायें तीव्र हो उठती है। नायिका को समझाती हुई सखियाँ कह रही है कि यह चन्द्रमा कही तुम्हारे लिए उल्कापात न बन जाय, मदनाग्नि को संक्षुब्ध करनेवाला मलयानिल कही तुम्हें पीडित न करे। यदि कही मदन-बाण खडखड़ाकर तेरे ऊपर गिर गया तो गजब हो जायेगा। मदन-बाण का खडखड़ाकर गिरना काम-भावनाओ की तीव्र चोट को व्यंजित करता है।[1] अपभ्रंश के मुक्तक कवियों ने षड्ऋतु वर्णन के माध्यम से विरहिणी नायिका की बदलती हुई भाव दशाओ को पूरे प्रकृति के परिप्रेक्ष्य मे चित्रित किया है। प्रत्येक ऋतु अपने नवीन वैशिष्ट्य के साथ नायिका के आगे प्रस्तुत होती जाती है। अन्य नायिकाएँ इन ऋतु परिवर्तनो में आनन्द-केलि करके तृप्ति का अनुभव करती हे किन्तु विरहिणी नायिका हर स्थिति मे वेदना की ही अनुभूति करती है। प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति का अपना निजी सौन्दर्य भी चित्रित होता चलता है जिससे आनन्द की अलग अनुभूति भी होती है। यद्यपि ऋतु-वर्णन का मूल उद्देश्य विरहिणी के अपार विरह दुःख को व्यंजित करना ही होता है। 'संदेश-रासक' में षड्-ऋतु वर्णन की शैली अपनायी गयी है और प्रकृति-व्यापार को विरह-वेदना की पृष्ठभूमि के रूप में अपनाया गया है। कवि ने ऋतुओ के चित्रण में कही-कही पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है जो स्वयं भावोत्पादक तथा आनन्ददायक है।

अपभ्रंश कवियों ने प्रकृति को निर्जीव तथा भावोद्दीपक मात्र नही समझा। विरह-दशा में कवियो ने भाव-विस्तार के चित्रणो की परम्परा निभायी है। विरह में जब नायिका का हृदय जलता रहता है तो उसे सारी सृष्टि जलती हुई दिखाई देती है किन्तु अपभ्रंश के कवियो ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत ही

---

१ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७.५ पृ० १६५।

शृंगारिक भावों का विस्तार से चित्रण किया है जो अधिक मार्मिक तथा मौलिक है। ऐसे स्थलों पर वे काव्य शास्त्रीय आलम्बन तथा उद्दीपन आदि विधि-विधानों से बिलकुल स्वतन्त्र हैं। अपभ्रंश मुक्तककारों ने प्रकृति को मानवीय संवेदनाओं से जोड़ने का उद्योग किया है। शृंगार का भाव ऐसा भाव है जिसकी व्यापकता मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियों तक में है। किन्तु जड़ कहे जानेवाले लता-वितानों में भी शृंगारिक अनुभूति की कमी नहीं है परन्तु इसका अनुभव कवि ही कर पाता है। फिर वह मानवीय भावों तथा अनुभूतियों से जोड़कर अपने उस विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करता है ताकि पाठकों के लिए वह बोध-गम्य हो सके। पावस के चित्रण मे कवि इन्द्र गोप की लाल कान्ति को पावस-लक्ष्मी के चरणों में लगे हुए अरुण महावर के रूप में कल्पित करता है। उसे प्रभूत-शोभावाली बिजली की रेखा जात रूप की रेखा के समान प्रतीत होती है।[1] प्रकृति अपनी स्वाभाविक रमणीयता के द्वारा कवि को आकर्षित नहीं करती बल्कि अलक्तक से रंजित पगों तथा कंठिका से युक्त नारी रूप मे उसके हृदय मे शृंगारिक भावों को उद्बुद्ध करती है। इसी तरह कवि ने बसन्त श्री तथा शरत् लक्ष्मी का चित्रण किया है।[2] अम्बर मे बिखरे हुए तारे अपनी टिमटिम आभा से आकर्षक नही है बल्कि वे नायिका की किंकिणी के घूँघुर बन जाते हैं। कवि कहता है कि ये नक्षत्र मालायें नही है बल्कि रात और चन्द्रमा रूपी नायक नायिका के रति-क्रीडा के समय उल्लालित किंकिणी के घुंघुर हैं। क्रीडा के बाद किंकिणी के घुंघुरुओ का बिखर जाना कितना स्वाभाविक है। शृंगार की वह विराट् भावना अपभ्रंश कवि के मानस मे प्रस्फुरित हुई थी। बसन्त के द्वारा प्रकृति मे मदनजय नाटक का अभिनय किया जा रहा है जिसमे मत्त कोयल का स्वर द्वादश तूर्य के घोष के समान है। शृंगाररस का उद्गार प्रधान रस है।[3] प्राण और प्रेम दोनों की द्विधा का चित्रण करके कवि पाठकों की संवेदना जगाने की कोशिश करता है। एक तरफ तो गर्भ से अलस हरिणी एक पग भी नहीं चल पाती। दूसरी तरफ कर्णारोपित बाणों वाला बहेलिया वर्त्तमान है। इस स्थिति मे मृग क्या करे ? यदि हरिणी की अपेक्षा करे तो लुब्धक द्वारा नष्ट हो जाये। यदि लुब्धक से

---

१ हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ५।१७३।८.१

२. वही, ६।२१०।२५.१

३. वही, ५।१७६।१७.१

त्रस्त होता है तो हरिणी नष्ट होती है।[1]

रीति-कवियों ने भी प्रकृति पर नारी भावों को आरोपित करके शृंगारिकता की व्यंजना की है। केशवदास ने हेमन्त ऋतु का चित्रण प्रीतम-विमुख प्रिया के रूप में तथा शिशिर की शोभा का चित्रण वीरांगना के रूप में किया है।[2] प्रकृति में नृत्य तथा गान का चित्रण करके नाटकीयता के द्वारा भाव व्यंजना की चेष्टा रीति कवि द्विजदेव ने भी की है—

रचि नाच ललाम लालि बितान
सबै विधि चित्त चुरायो करै ।।[3]

हिन्दी के रीति-कवियों ने भी शृंगारिक भावों के अन्तर्गत प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत विशेष रूप से चित्रित किया है। अपभ्रंश कवियों की तरह ही हिन्दी रीति-मुक्तककारों का भी यही लक्ष्य था कि प्रकृति के माध्यम से नायिका के शृंगारिक भावों को अधिक प्रगाढ़ बनाकर उनकी तीव्र व्यंजना की जाय। यद्यपि भाव-व्यंजना के लिए इन कवियों ने ठीक वैसी परिस्थितियों की कल्पना की किन्तु भाव-चित्रण में विशेष मौलिकता न होने के कारण भाव-व्यंजना उतनी गम्भीर तथा मार्मिक नहीं हो सकी। जहाँ पर प्रकृति का आलम्बन रूप में स्वतन्त्र चित्रण हुआ है वहाँ सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ भावानुभूति भी होती है। पावस की प्रचंडता का चित्रण करता हुआ कवि गोपियों के समर्पण भाव को व्यंजित करता है।[4] 'संदेश-रासक' की नायिका जिस प्रकार पपीहा, चातक, सारसी आदि को बोलने से

---

१. एत्तहे गब्भभरालस हरिणी पउ न हु एक्को वि संचरइ।
एत्तेहे कण्णारोविअसरु हयलुद्धउ भण मिउ किं करइ।।
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७।१२, १

२. रीतिकाव्य नवनीत संपादक—भगीरथ मिश्र : कविप्रिया—ऋतुवर्णन, छं० २०, २१।

३. सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी : शृंगार लतिका सौरभ—पृ० ८, ६.२४।

४. बुद्धि बल थाको सोई प्रबल निसा को मेघ,
देखि ब्रज सूनो बैर आपनो गहतु है।
एहो गिरधारी राखो सरन तिहारी,
अब फेरि यहि बारी ब्रज बूड़न चहतु है ।।३।।
द्विजदेव : रीति-काव्य नवनीत-प्रकीर्ण पृ० ६३।

वर्जित करती है उसी तरह देव की नायिका भी कहती है कि पावस आ गया किन्तु प्राण प्यारे नहीं आये। हे सखी मेघों को वर्जित कर दो कि गरज न सुनावें। दादुरों की वक कान को फोड़े दे रही है। चातक के गान, मोर के शोर तथा घन की घुमड उसे रुचिकर नहीं लगते। विरह-व्यथा से व्याकुल पड़ी हुई उस नायिका के चित्त में जुगुनी की चमक से चिनगी लग जाती है। विकट दुख के समय सभी वस्तुओ के प्रति एक अरुचि का भाव जागृत हो उठता है। नायिका को भी प्रियतम के अभाव से तीव्र अरुचि पैदा हो गयी है।[1] बूँद से अंगो का ताप शान्त होता है किन्तु पानी से नायिका की शरीर मे और आग लग जाती है यह आश्चर्य की बात है।[2] इसी तरह के आश्चर्य का अनुभव 'सदेशरासक' की नायिका को भी हुआ था। जिन रस-मत्त मधुकरो को देखकर अपभ्रंश की नायिका को अपने प्रियतम की अरसिकता पर आक्रोश आया था उन्हीं माधुरी मधु के गंध से मस्त, घूमते हुए भ्रमरो का बिहारी ने स्वतन्त्र चित्रण किया है। वियोग शृंगार के अन्तर्गत मान की दुष्करता का चित्रण बसन्त तथा पावस जैसी ऋतुओ मे असभव है इसकी व्यजना हिन्दी मुक्तककारो ने भी बड़ी सफलता से की है। सखियाँ राधा से कहती हैं कि यह ऋतु रुठने योग्य नहीं है। ये बरसने वाले मेघ हर्षित होकर पृथ्वी के हित के लिए बरस रहे हैं। मानवती नायिकाएं हर्षित होकर प्रियतम से मिल रही है।[3] बड़े-बडे बूँदों से

१. आयी ऋतु पावस न आये प्रान प्यारे याते,
मेघनि बरजि आली गरज सुनावै ना।
दादुरनि कहि, वकि वकि जनि फोरै कान,
पिकनि हटकि, हठि सबद सुनावै ना॥
विरह-विथा में हौं तो व्याकुल परी हौं देव,
जुगनू चमकि चित चिनगी लगावै ना॥
चातक न गावै मोर सोर न मचावै घन,
घुमडि न आवै जौ लौं कान्ह घर आवै ना॥५॥

रीतिकाव्य नवनीत देव, पृ० ६५।

२. बूदें लगै सब अंग दगै उलटी गति अपने पापनि पेखी।
पौन सो जागति आगि सुनी है पै पानी सो लागति आँखिन देखी॥

वही, घनानन्द, पृ० ८८।

३. यह ऋतु रुसिबो की नाही।
बरसत मेघ, मेदिनी के हित प्रीतम हरषि मिलाही॥

सूरसागर, पृ० १०६४, पद ३३६४।

युक्त पानी के आगमन की चर्चा करके एक सखी नायिका को मान धारण करने की दुष्करता का अहसास कराती है।[१]

बिरह-भावों की व्यंजना :

प्रायः समस्त लौकिक मुक्तककारो ने श्रृंगार चित्रण के अन्तर्गत वियोग श्रृंगार को अधिक चित्रित किया। मुक्तककारो ने विरह वर्णन के अंतर्गत ऊहात्मकता को अधिक प्रश्रय दिया अत. अधिकतर प्रसगों में भाव-व्यंजना काफी कमजोर पड़ गयी है किन्तु स्वाभाविक तथा मार्मिक स्थलों का भी एकदम अभाव नहीं है। विरह दुःख से पीड़ित नायिका की दुर्बलता, पीलापन, निरन्तर रोदन आदि प्रिय के प्रति उसके अत्यधिक लगाव को ही व्यक्त करते हैं। विरह-विधुरा नायिका की दशाओ का चित्रण करते हुए कवि ने कुछ दृष्टान्तों के सापेक्ष में उसका चित्रण किया जो सारे भावो को व्यंजित करने मे समर्थ है। नायिका प्रिय के वियोग मे सदैव रोती है, उसके गाल पीले पड़ गये हैं। वह अत्यधिक दुर्बल हो गयी है। इन सब का असर मुख-सौन्दर्य पर पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिए उसका मुख शिशिर के कमल के समान हतश्री हो गया है।[२] प्रियतम के अभाव में नायिकाओं में अन्य चीजो के प्रति अरुचि का भाव आ जाता है अतः वे कुमुम-चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का सेवन बन्द कर देती है। 'सदेशरासक' की नायिका खीझकर अपने पति को बुरा-भला कहती है किन्तु हर स्थिति मे वह प्रियतम की प्रिया ही बनी रहती है। कभी-कभी उसकी खीझ बहुत अधिक बढ जाती है। वह उसे निरक्षर तस्कर, निर्दय, मूर्ख, खल, पापी सब कुछ कह डालती है क्योकि विलपती हुई उसे वह आश्वासन नही देता।[३] नायिका अपने प्रिय को कापालिक कहती है क्योकि अब वह भी कापालिनी हो गयी है। वह कापालिकों की तरह हर क्षण अपने एक हाथ मे कपाल धारण किये रहती है, आसन (शय्यासन) कभी नही छोडती तथा प्रिय के मोह मे सदैव विषम समाधि लगाए रहती है।[४] इस उदाहरण में प्रेम की एकनिष्ठता, खीझ आदि भावों की एक साथ व्यंजना होती है। प्रिय के लिए प्रयुक्त ये विशेषण विरह के संदर्भ मे उसके प्रति नायिका के अतुल प्रेम

१. डॉ० किशोरी लाल : रीति कवियो की मौलिक देन, पृ० ४३१।

२. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० २२।

३. संदेशरासक—छन्द १६१, पृ० १६१।

४. संदेशरासक, छन्द ८६, पृ० १६६।

को ही प्रकट करते है। 'जिन्होने ग्राम-वधुओं को अपने पतियो से झगड़ते या उनको कोसते देखा है उन्हे यह समझने मे कठिनाई नही होगी कि साधारणतः ये निन्दार्थक विशेषण जब उच्छल प्रेम-रस से परिपूर्ण होकर व्यवहृत होते हैं तो उनमें कितनी मधुरिमा और भाव-व्यंजकता निहित रहती है।[1] कवियों ने नायिकाओ की दीन-हीन दशा, अत्यधिक कृशता आदि का चित्रण करके व्याकुलता तथा विरह-कातरता व्यंजित की है। कहीं-कही कवियो ने भावों को व्यक्त करने के लिए नायिका की भाव-विकल चेष्टाओ से ही काम लिया है। ऐसे स्थल अधिक मार्मिक तथा संवेदनशील बन पड़े हैं। मध्यकालीन नायिका अपने प्रियतम के लिए हजारों संदेशो को अपने हृदय मे सजोती हुई पथिको की प्रतीक्षा करती रहती थी। ऐसे समय मे यदि कोई दिखाई दे जाता था तो संदेश देने के लिए उसके हृदय के अनन्त भाव उमड़ पड़ते थे। संदेश देने की उत्कण्ठा की अधिकता सदेश देने की शीघ्रता के कारण भले ही नायिका के नितम्बों से करधनी खिसककर गिर पड़े, उसकी किंकिणियों का स्वर फैल जाय। स्थूल मुक्ताओं की हारलता टूट जाय। चरणो की दुर्बलता के कारण नूपुर ही निकलकर दूर छिटक पड़े।[2] नायिका अपने प्रिय में पौरुष तथा लज्जा का भाव जागृत करना चाहती है वह कहती है कि तुम मेरे हृदय में स्थित हो। तुम्हारे पौरुषवान व्यक्ति के रहते मुझे इस गुरुतर पराभव को सहना पड़ रहा है। क्योंकि जिन अंगों के साथ तूने विलास किया था उन्हे अब विरह जला दे रहा है।[3] निराशा के भावो से युक्त नायिका ने मनोदूत भेजा पर वह भी लौटकर नहीं आया।[4] नायिका देखती है कि भ्रमर तरुओ पर (मधु) चाटते हुए परस्पर बिंध जाते है। वे तीक्ष्ण कंटाओ की परवाह नहीं करते। रसिक लोग रस लोभ

१. संदेशरासक (भूमिका)—विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ० १३४-३५।

२. वही, द्वितीय प्रक्रम, पृ० १५२-१५३।

३. कंतु जु तइं हिअयट्ठियह विरह विडंबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ परपरिहव संताउ ॥७६॥
गरुअउ परिहमु किन सहउ पइ पउरिसुनिलएण।
जिहि अंगिहि तं विलसयउ ते दद्धा विरहेण ॥७७॥
संदेशरासक—पृ० १६४।

४. संदेशरासक, पृ० १६३ छन्द सं० १६०, १६८, १६६।

मे शरीर दे देते हैं। प्रेम मोह मे पापों की परवाह नही की जाती है।[1] नायिका की यह चिन्तादृष्टि है। रसिको मे इस तरह की उत्कट भोग लिप्सा जागृत हो जाती है कि वे काँटो की परवाह नही करते किन्तु उसका प्रियतम तब भी नही आता इसके माने वह अरसिक हो गया है। नायिका को अपने पति की मन.स्थिति पर कितनी खीझ होती है तथा अन्य रसिकों की भोग लिप्सा से कितनी ईर्ष्या इसकी बडी मार्मिक व्यंजना भ्रमरों के चित्र से करायी गयी है।

अन्य मुक्तकों में उद्दीपन विभाव के रूप में बसंत पावस तथा शरद को ही विशेष रूप से चित्रित किया गया है। एक तरफ एकाकिनी नायिका है दूसरी ओर मेघ रूपी राक्षस की जीभ की तरह विस्फुरित होती विद्युत्मालिका। नायिका ऐसी परिस्थिति मे कैसे जी सकती है।[2] प्रवासी नायक भी पावस के प्रभाव से अछूते नही है उनके हृदय मे गौरी शालती रहती है। यह है प्रेम की कसक जिसे नायक अनुभव करता है। नायिका अपने प्रिय को सन्देश देती हुई भी लज्जित होती है क्योंकि वह प्रवास करते समय प्रिय के साथ नही गई या जिसके वियोग मे मरी नही।[3] बेचारी नायिका को इस बात की शंका है कि उसके प्रेम मे कहीं कोई कमी तो नही है। प्रियआगमन की आशा से वह पथ को निरखती रहती है कि कही उसका पति आता हुआ दिखाई दे जाता।[4]

रीति-कवियों ने वियोगिनी नायिका की भाव-दशाओं की अभिव्यंजना पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कलाबाजी पर। उनकी नायिका वियोग की संभावना मात्र से पीली होने लगती है तथा भूषण वसन सब कुछ त्याग देती है।[5] जबकि अपभ्रंश में पूर्ण वियोगिनी नायिका की इस तरह की दशाएँ होती

---

१. विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति, कटंगतिक्ख ते णहु गणति।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि णहु पाउ गणिज्जइ पिम्ममोहि ॥२०६॥
सदेशरासक पृ० १९५।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।१९·३३।

३. हेमचन्द्र: अपभ्रंश, व्याकरण पृ० ६६।

४. हेमचन्द्र: छन्दोऽनुसासन, ६।२०२।२०·१४

५. जा दिन ते चलिबे की चलाई तुम,
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है।
कहै मतिराम,छोडे-भूषन बसन पान,
सखिम सों खेलनि हंसनि, बिसराई है ॥
सं० कृष्ण विहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली,पृ० २४८ छन्द २०६।

है। अपभ्रंश की नायिका वियोग की कठोर यातना तथा प्रहारों को सहती हुई प्रियतम से मानसिक लगाव रखती है तथा उसकी तन्मयता में कमी भी नहीं आती। नायिका का यह विश्वास कि नायक हाथ छुड़ाकर भले ही चला जाय पर हृदय से नहीं जा सकता है अंत तक सुरक्षित दिखाई देता है। रीतिकाल की नायिका अपनी ननद में ही पति का अनुहार देखकर जीती रहती है। प्रथम की भावस्थिति अधिक गम्भीर तथा दुरूह है जब कि दूसरी भाव-स्थिति कुछ सरल तथा निकट अनुभूतियों के सन्तोष पर निर्भर है।[1]

मधुर वस्तु जो खात निरन्तर सुख से भारी।
बीच बीच कटु अम्ल तिक्त अतिशय रुचिकारी॥

नन्ददास की इस उक्ति में इस बात की व्यंजना की गयी है कि शृंगार के मधुर भावों का निरन्तर आस्वाद लेते-लेते अरुचि सी उत्पन्न हो जाती है बीच-बीच मे मान या विरह का कटु अनुभव भी अतिशय रुचिकारी होता है। अपभ्रंश कवियों द्वारा चित्रित मान अधिकतर प्रणयमान है जिसमे एक प्रकार की आनन्दानुभूति है। नायिका की एक उक्ति मे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। नायक विदेश चला गया है। नायिका कहती है कि प्रिय आयेगा मै रूठूँगी तो वह मुझे मनायेगा[2]।

रीति कवियो ने भी उपर्युक्त चित्रणों मे मिलते जुलते प्रसंगो की उद्भावना से प्रेम की अनन्यता, एकाग्रता तथा निरन्तरता को व्यंजित किया है—

सखी सिखावति मान-विधि सैननी बरजत बाल।
हरुएं कहि मो हिय बसत, सदा बिहारी लाल॥[3]

रीति कवियों ने मान के सरस प्रसंगों की उद्भावना प्रायः कलहांतरिता, खंडिता और धीरादि के संदर्भो में की है और ऐसे वर्णनो में उनकी प्रगाढ

---

१. जा दिन ते परदेश गये पिय ता दिन ते तन छीजुत है।
निशिवासर मौन सुहात नहीं सुधि आये उसासन लीजतु है।
अब और उपाय बनै न कछू अनुभौ इतनौ सुख कीजतु है।
उन प्यारे पिया की उन्हारि सखी ननदी मुख देखिके जीजतु है।
सं० प० वन्दीदीन दीक्षितः प्रयाग नारायण विलास, पृ० ४०।

२. एसी पिउ रुसेसु हउं रुट्ठी मइ अणुणेइ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ॥
हेमचन्द्र - अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।

३. लाल-चन्द्रिका, पृ० ७१३।

तन्मयता और हृदय की सहज तरलता का प्रस्फुटन स्वतः हुआ है। बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर जैसे रीति युग के कलाकारों ने कहीं व्यंग्य गर्भित शैली द्वारा सीधे सादे ढंग से अवसाद और विषाद की मार्मिक अभिव्यक्ति की है।[1]

प्रवासजन्य वियोग में भी अपभ्रंश कवियों ने वियोग भावों को व्यंजित करने की चेष्टा की है। विरह की पीड़ा जितनी दुखदायी होती है उसकी संभावना कम भयंकर नहीं। नायक के विदेश चले जाने पर नायिका क्षण भर भी नहीं जी सकेगी। दोनों के अलगाव की असंभावना सारस मिथुन के वियोग से लक्षित की गयी है।[2] प्रवास के लिए तैयार पति के प्रातःकाल गमन के निश्चय से नायिका अपने जीवन के अन्त की परिकल्पना करती है। वह हाथ मींजकर पाश्चाताप करती है। कवि एक कलात्मक उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह अपने आयु की रेखा को मिटा दे रही है।[3] अपभ्रंश के उदाहरण में नायक और नायिका दोनों पक्षों में प्रेम की बराबर उत्कृष्टता है। यहाँ नायिका ही अधिक बेचैन है तथा जीवन के अन्त होने की चिन्ता मे संत्रस्त है।

प्रेम में एकान्तिकता का भाव पाया जाता है। लौकिक श्रृंगार मे प्रेमी अपने प्रेमास्पद पर एकाधिकार चाहता है। वह अपनी प्रिया को अन्य पुरुष की भोग्या नहीं बनने देना चाहता। इन समस्त भावों को दन्तक्षत जैसी काव्य रूढ़ि के आधार पर व्यंजित किया गया है। कवि कहता है कि नायिका का रदनव्रण ऐसा लग रहा है मानो निरुपम रस पीकर प्रिय ने शेष पर मुद्रा लगा दी ताकि अन्य लोग उसका पान न करें। रीतिकाव्य मे इस तरह की भाव-व्यंजना शायद ही मिलती हो।

संदेश-रासक की नायिका की तरह घनानन्द की नायिका की मरणावस्था आ गयी है। किन्तु अब भी उसकी इच्छा है कि प्रियतम क्षण भर के लिए आकर वियोग के वटवृक्ष पर बैठकर उसकी पीड़ा का अनुभव करता। इस चित्र में वियोगिनी के दैन्य की चरमावस्था तथा असह्य वेदना का चित्र खीचा गया है—

---

१. डॉ. किशोरी लाल . रीति-कवियों की मौलिक देन पृ० ४३२।

२. हेमचन्द्रः प्राकृत व्याकरण, ४।४३६।३।

३. यो कर मींजत है बनिता सुनि प्रीतम को परभात पयानो।
आपने जीवन को तकि अन्त सु आयु की रेख मिटावत मानो॥
सरदार, श्रृंगार-संग्रह, पृ० ११३।

हम सों हित कै कितकौ हित ही चित बीच वियोगहि बोय चले।
सु अखैवट बीज लौं फैलि परयो बनमाली कहाँ धौं समोय चले॥
घन आनन्द छाय बितान तन्यो हम ताप के आतप खोय चले।
कबहूँ तिहि मूल तो बैठिये आय सुजान ज्यों छाय के रोय चले॥[1]

नायिका कुछ शारीरिक दुर्बलता के कारण और कुछ लज्जा के कारण सदेश देने में अपने को असमर्थ पाती है। कई भावों को सश्लिष्ट करके रीति-स्वच्छन्द कवि बोधा ने मार्मिक चित्र अंकित किया है—

कबहूँ मिलिबो कबहूँ लिलिबो यह धीरज ही मै धरैबो करै।
उर ते धाढ़ि आवै गरै ते फिरै मन को मन ही मे सिरैबो करै॥
कवि बोधा न चाउ सरी कबहूँ नित ही ह्वा सो हिरैबो करै।
सहते ही बने कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै॥[2]

ऊहात्मक चित्रणों में भी भाव-व्यंजना की बिलकुल उपेक्षा नहीं की गयी है। कृश कलाइयोंवाली नायिका वलय के पतन के भय से हाथों को ऊपर उठाकर चलती है कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह विरह महोदधि का थाह लेना चाहती है।[3] यहाँ विरह की अगमता व्यंजित है। यह विरह का अगम पारावार नायिका के हृदय मे समाता नहीं। वह कहती है कि हे हृदय तू फट जा। देखे कि मेरा दुर्भाग्य तेरी बिना सैकड़ों दुखों को कहाँ रखता है।[4] उक्ति चमत्कार से युक्त होते हुए भी ये दोहे दुखमय जीवन से ऊबी नायिका की मन: स्थिति के अनुकूल हैं।

मान के संदर्भो मे नायिका या नायक की रुष्टता को व्यजित करना कवियो का मुख्य लक्ष्य होता है परन्तु अपभ्रंश के मुक्तक कवियों ने इन्ही सदर्भों मे नायिका के प्रेम की अनन्यता, निरन्तरता, रूप-गौरव, ईर्ष्या, प्रणय आदि भावो की अभिव्यंजना मे सफलता हासिल की है। प्रिय के विप्रिय हो जाने पर आग के समान उसकी आवश्यकता बनी रहती है। उसका पक्षपाती मन सदैव प्रियतम के साथ ही रहता है। मुग्धा नायिका को इस बात का सदैव एहसास होता रहता है कि प्रियतम के प्रति उसका मानसिक लगाव अटूट

---

१. सं० प० विश्वनाथ प्रसादमिश्र घनानन्द कवित्त-पृ०७४ छं० स०१२२।
२. बोधा : इश्कनामा, पृ० २१।
३. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ६१।
४. वही. पृ० २३।

और अभिन्न है। इसलिए जब सखियाँ सदोष पति की निन्दा करती हैं तो वह उन्हें यह कहकर वर्जित कर देती है कि वे इस बात को एकांत मे बतायें ताकि उसका पक्षपाती मन प्रियतम की निन्दा न सुन सके।[1]

धार्मिक मुक्तकों में भाव व्यंजना तथा भाव-निरूपण :

मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी भाव से प्रेरित रहता है। जिस तरह शृंगारी या लौकिक कवि लौकिक चित्रणों के माध्यम से सामान्य मानवीय भावों को व्यंजित करने की चेष्टा करते हैं उसी तरह धार्मिक कवि लौकिक सुखों के निषेध के द्वारा आध्यात्मिक भावों को जागृत करते है। धार्मिक कवियो मे यह दृढ़ विश्वास होता है कि लौकिक भावों के आधार पर की गयी रसानुभूति क्षणिक है जबकि आध्यात्मिक भावो की प्राप्ति मे हुई आनन्दानुभूति शाश्वत तथा श्रेष्ठ है। अतः धार्मिक काव्य मे उदात्त मानवीय भावों को व्यंजित किया गया है। यद्यपि ये भाव-सामाजिक जीवन मे भी निर्देशक तत्त्वो के रूप मे मान्य है अत. इन भावो के चित्रण मे कोई विशेष प्रभावात्मकता परिलक्षित नही होती है। कवियो ने आत्म-कल्याण की अपेक्षा परोपकार को अधिक श्रेष्ठ ठहराया इसीलिए दान की महिमा का चित्रण बड़े विस्तार से किया है। दान को महत्त्वपूर्ण बताने के लिए कवियों ने विशेषत. दो मानवीय गुणो को आधार बनाया। प्रथम मनुष्य श्रेष्ठता की भावना को संरक्षित रखने के लिए कुछ ऐसे कार्यों का संपादन करता है जो कि सामान्य जीवों के द्वारा करणीय कार्यो से भिन्न होते है। दान के बिना कोई गृहस्थ गृहस्थ कहलाने योग्य नही है ऐसा होने पर तो पक्षी भी गृहस्थ हे।[2] दूसरी सामान्य मानवीय भावना है प्रतिदान की अर्थात् वह कुछ देकर उसके बदले मे कुछ पाना चाहता है। यदि कम मूल्य अथवा परिमाण की वस्तु देने से उसे किसी महत् तथा बहुमूल्य वस्तु की प्राप्ति होती है तो शीघ्र ही लाभ की भावना से प्रेरित होकर उस वस्तु के दान के लिए तैयार हो जाता है। कवि कहता है कि जो दिया जाता

---

१. भण सहि निहुअउँ तेव मइ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेव न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु।।

हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५४।

२. जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पभणिज्जइ कोइ।
ता गिहत्थु पंखि वि हवइ जे घरताहवि होइ।।

दोहा-दो० ८८ पृ० २८।

है उससे अधिक प्राप्त होता है जैसे गाय को खली-भूसा देने से क्या वह दूध नही देती ?¹

धार्मिक तथा रहस्यवादी कवियों मे आचारपरक नैतिक मूल्यों तथा गुरु के प्रति श्रद्धा का भाव पाया जाता है। इसी भाव से सारी मानवता को रंजित करने के लिए वे उपदेशक का रूप धारण करते है उनमे गुरु के प्रति अन्ध-श्रद्धा नही है बल्कि उसके गुणो और कल्याण भावो के आकर्षण से श्रद्धा प्रस्फुटित हुई है। सयमशील, शौच और तप से युक्त गुरु के उपदेश से नर शिवपुर चले जाते हैं। अंधकार में दीपक जो कार्य करता है वही कार्य गुरु का बचन अज्ञानांधकार मे करता है। यदि गुरु का संबल मिल गया तो उसके प्रति समर्पण की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। श्रद्धा भाव की ही प्रगाढ अनुभूति होने पर कवि पूजा के लिए बाह्य विधि विधानो का सहारा लेने लगता है। उसके इस पूजा-भाव मे भी कही प्रतिदान की भावना क्रियाशील दिखाई देती है। कवि देवसेन कहते है कि जो जिन भगवान् को घृत और पय से स्नान कराता है उसे सुर नहलाते है क्योकि जो जैसा करता है वैसा पाता है, यह लोक प्रसिद्ध ही है। धार्मिक कवियो ने अपने आराध्य या पूज्य गुरु के सौन्दर्य का बडा काव्यात्मक चित्र अंकित किया जिससे अन्य लोगो का मन उसमे अनुरंजित हो सके तथा स्वत कवि की भी मानसिक तन्मयता बनी रहे। रूप का लोभी मन अरुचिकर तथा रूक्ष चीजों पर आसानी मे टिकता नही किन्तु सौन्दर्ययुक्त वस्तुओ पर वह सद्य अनुरक्त होकर तन्मय हो जाता है। इसी आधार पर देवसेन जिन भगवान् के भामण्डल, पुष्प वृष्टि, सिंहासन, दुदभि, चमर, छत्र, आदि का विस्तृत वर्णन करते हैं और सूर, तुलसी अपने आराध्य ईश्वर के सौन्दर्याङ्कन पर अधिक बल देते है।

समस्त धार्मिक अपभ्रंश काव्य में शुचिता की भावना पायी जाती है। आचारपरक कवियों ने बाह्य शुचिता को भी स्वीकार किया है किन्तु रहस्य-वादी कवियो ने बाह्य शुचिता के निषेध के साथ आन्तरिक शुचिता पर बल दिया है। इन कवियों का कुछ सिद्धान्तों या नियमों के प्रति विशेष लगाव था। ऐसे नियमो को वर्णित करते समय इनमे पक्षपात की भावना आ गयी है। दया, पर्वोपवास, पात्रदान, सन्यासधारण, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, ब्रह्मचर्य, शकादि आठ दोष, आठ मद और तीन मूढता का त्याग ये सब मुक्ति के साधन हैं। अत ये जीवन में अनिवार्य रूप से पालनीय हैं।

१. सावयधम्म दोहा, दो० नं० ६२, पृ० ३०।

रहस्यवादी मुक्तकों में कवियों ने बाह्याडम्बर, पुस्तकीय ज्ञान, जप-तप, तीर्थ आदि के विरोध में अपने विचारों को व्यक्त किया है। अभिव्यक्ति में कवि का विरोधमूलक भाव तो व्यंजित होता ही है साथ-साथ भावों में आक्रोश तथा उग्रता की भी अभिव्यंजना होती है। सरहपाद की उक्तियाँ अधिक तीव्र तथा प्रभावोत्पादक हैं। उनसे कर्मकाण्डों की अनर्थकता तो सिद्ध ही होती है उलटे पीडा की भी व्यंजना होती है। मिट्टी, पानी तथा कुश लेकर होम करने से दुनिया का रहस्य अज्ञेय है क्योंकि दुनिया की रहस्यानुभूति से इनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। तत्काल उपलब्ध क्या होता है आँखों में प्रविष्ट होकर पीडा पहुँचानेवाला धुँआ जो आन्तरिक दृष्टि को उद्घाटित करने में असमर्थ है और वाह्य दृष्टियों में भी अवरोधक बनता है। जैनों के सम्बन्ध में किया गया व्यंग्य और भी चुभने वाला है। ज्ञान के विरोध में ऐसे दृष्टान्त दिये गये हैं जिसमें निरर्थकता के भाव को दृढ़ करने की पूर्ण क्षमता है। मुनि रामसिंह ने कहा कि श्रेष्ठ पंडित कण (दाने) को छोडकर तुस को ही कूटते रहते है। वे ग्रंथ के अर्थ से ही सन्तुष्ट रहते है किन्तु वे मूढ़ है उन्हे परमार्थ का ज्ञान नही होता। कभी-कभी अनावश्यक सन्तोष से ज्ञान की पिपासा शान्त हो जाती है और मनुष्य का विकास रुक जाता है। शास्त्र ज्ञान से पंडित बन जाने की अहमन्यता परमार्थ ज्ञान या अनुभूति की ओर प्रेरित नही करती है।[1] आगम वेद, पुराण आदि ब्रह्म के सम्बन्ध मे ज्ञान तो करा सकते है किन्तु ब्रह्म की अनुभूति के स्तर पर लाने का कार्य साधना से ही सिद्ध हो सकता है। ब्रह्म के सम्बन्ध मे ज्ञान हो जाने मात्र से ब्रह्मानुभूति जनित रस का आस्वाद नही हो पाता। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए काण्हपाद ने कहा कि आगम वेद, पुराण के भार को ढोने वाले पंडित ऐसे भ्रमर के समान हैं जो श्रीफल के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं और रसपान से वंचित रहते हैं।[2] इस तरह रहस्यवाद के अन्तर्गत परिस्थितियों की परिकल्पना तथा उदाहरणों के माध्यम से अनुभवों को मार्मिक ढंग से संप्रेषित करने का प्रयत्न किया गया। तत्कालीन परिस्थितियों में इन व्यंग्यों में कितनी शक्ति रही होगी जो श्रोताओं के विश्वासों को एक बार झकझोर देती रही होगी। इन आक्रोशों का एक प्रमुख कारण अनुभवों में ताल-मेल का अभाव भी था।

१. परमात्म प्रकाश, द्वि० महा०, पृ० २२३-२२४।

२. आगम वेअ पुराणे पंडिआ माण वहन्ति।
पक्क सिरि फलें अलिअ जिम वाहेरिअ भमन्ति॥

बागची : चर्यागीति-कोष, काण्हपादानाम्, पृ० १६७।

हिन्दी के सन्त कवियो मे विशेष रूप से तथा सगुण भक्तों में गौण रूप से ये विरोध-मूलक भाव व्यक्त हुए हैं। कबीरदास ने तीर्थ स्थान, पुस्तकीय ज्ञान तथा अन्य आडम्बरो का उग्र विरोध किया है जिसमे सरहपाद से कम आक्रोश तथा व्यंग्य नही है। कबीर का कथन है कि जप, तप, तीर्थ, व्रत मे विश्वास थोथा है जिस प्रकार शुक ने सेमल की सेवा की पर बाद मे निराश चला गया उसी तरह जगत् भी इनकी सेवा कर निराश चला जाता है।[1] मूड मुडाने से राम नही मिलता।[2] माला पहनने से कुछ नही होता।[3] काशी के कंठ पर घर बना लिया निर्मल जल का पान करने लगे पर राम-नाम बिना मुक्ति नही मिलती।[4] कबीर पुस्तक को फेंक देने की राय देते हैं—

कबीर पढ़िबा दूर करि, पुस्तक देइ बहाइ।

समस्त धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तकों ने ईश्वर साक्षात्कार की प्रबल भावना उद्भासित है। यह भावना कही आत्म-विश्वास के रूप में और कही-कहीं अद्वैतानुभूति के रूप मे अभिव्यजित होती है।

ब्रह्म की सर्वव्यापकता की परिकल्पना से इन रहस्यवादी कवियो मे अपूर्व दया की भावना का विकास हुआ। समस्त वनस्पतियों मे जीवन की कल्पना करके उन्होंने पूजा-पाठ के लिए उन्हे नष्ट करने के लिए वर्जित किया। सिद्धो में यह दया का भाव करुणा के रूप मे वर्णित है। उनमें अधिकतर सैद्धान्तिकता के आधार पर करुणा के महत्त्व को समझाया गया है। भाव-व्यजना करने की चेष्टा कम की गयी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि शून्य की संलग्नता करुणा से रहित होने पर किसी काम की नही। इससे उत्तम मार्ग नही मिल पाता।[5]

---

१ कबीर जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत वेसास।
सूवैं सैवल सेविया, यूँ जग चल्या निरास ॥८॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ७४।

२. कबीर मूड मुंडावत दिन गये, अजहूं न मिलिया राम।
राम नाम कहु क्या करैं, जे मन के औरै काम ॥
वही, पृ० ७७।

३. कबीर ग्रंथावली—भेष कौ अंग, पृ० ७५।

४. कासी काठै घर करै, पीवै निरमल नीर।
मुकति नही हरि नाव बिन, यूँ कहै दास कबीर ॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ६३।

५. राहुल सांकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० ६।

वैराग्य भावों की व्यंजना :

अपभ्रंश के समस्त धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तककारों और हिन्दी के भक्त कवियों का संपूर्ण जीवन-दर्शन विरक्ति की दृढ भित्ति पर आधारित है। उनमे बहुत कम ऐसे थे जो सांसारिक क्रिया कलापों के साथ आध्यात्मिक साधना को सुकर समझते रहे हों। इन्द्रियों के विषयासक्त होने पर प्रत्यक्ष सुखानुभूति चाहे क्षणिक ही हो किन्तु उन इन्द्रियों को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने की प्रक्रिया अधिक दुष्कर होती है। इसके लिए रहस्यवादी कवियों तथा अन्य भक्तों ने परमानन्द शाश्वत सुख के महत् प्रलोभन को इन्द्रियों के समक्ष रखा ताकि वे सासारिक माया-मोह को त्यागकर धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावों की ओर प्रवृत्त हों। कवियों ने विरक्ति भाव जागृत करने के लिए जगत् के ऐसे रूप का विवेचन किया जो दुःख पूर्ण तथा सारहीन है। जोइन्दु मुनि कहते है कि तुम इस ससार को अपना निवास न समझो। यह तो दुःख का निवास है। अज्ञानी जीवों के बन्धन हेतु यमराज ने पापों से मंडित बन्दी गृह बनाया है।[1] यह जगत् मृग मरीचिका है तथा गन्धर्व नगरी के समान प्रतिभास्यमान है। संतो ने भी ससार को मिथ्या, नश्वर और स्वप्नवत् माना है। सूरदास ने ससार की नश्वरता, क्षणिकता तथा असत्यता स्वप्न से सिद्ध की है। उनका कथन है कि यह संसार स्वप्न की तरह मिथ्या है इसलिए सब कुछ तजकर हरि को भजना चाहिए।[2] स्वप्न शब्द में जगत् के स्वरूप को व्यंजित करने की पूर्ण सामर्थ्य है। शाश्वत जीवन-मरण की परम्परा में मनुष्य रूप में सुख-दुख को अनुभव करने की प्रखर शक्ति जगत् को ही सत्य मानकर उसी में पूर्ण रूप से उलझ जाना तथा अपने मूल उद्देश्य का विस्मरण, मृत्यु के साथ जगत् के सारे संबंधों का टूटना आदि एक स्वप्न के समान ही है। कामिनी जागतिक सम्बन्धों को जोडने की एक प्रमुख कड़ी है। अतः निवृत्तवादी कवियों ने स्त्रियों से विरक्त होने का उपदेश दिया। ये उपदेश सीधे अभिधात्मक रूप मे नहीं कहे गये है बल्कि काव्यात्मक अनुभवों में ढालकर मार्मिक ढंग से व्यंजित किये गये हैं—

> जासु हरिणच्छी हियइ वसइ तसु णवि बंभु वियारि।
> एक्कहिं केम समंति बढ़ बे खण्डा पडियारि॥

---

१. घट वासउ म जाणि जिय दुक्किय वासउ एहु।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु॥१४४॥
परमात्म प्रकाश द्वि० महाधिकार।

२. सूरसागर पद २०१।

कवि यहाँ पर स्त्री-त्याग की बात नहीं कहता। वह केवल एक चित्र प्रस्तुत करता है कि जिसके हृदय में मृग-नयनी स्त्री बस रही है उसे ब्रह्म विचार कैसे हो सकता है कहीं एक म्यान में दो तलवारें आ सकती है। पूरे कथन से व्यंजित है कि ब्रह्मविचार लाने के लिए मृगनैनी-स्त्री को चित्त से निकाल देना चाहिए। कवि ने अभीप्सित भाव को व्यक्त करने के लिए एक लोकोक्ति का सहारा लिया जिससे असम्भाव्यता का भाव और पुष्ट हो जाता है। एक म्यान मे दो तलवारें नही रह सकती तो स्त्री तथा ब्रह्म की अनुभूति दोनो चित्त में कैसे रह सकती है। यह परंपरा कबीर, सूर, तुलसी में भी सुरक्षित है। कबीरदास ने कामिणी को काली नागिन तथा नरक का कुण्ड कहा।[1] भला कौन काली नागिन तथा नरक के कुण्ड से बचने का प्रयास नही करेगा। सिद्धो की उलटवासियों मे कार्य और कारण तथा विशेष और विशेषण का ऐसा संबंध दिखाया गया है जो वस्तु जगत् मे सामान्यत: नही देखा जाता। ऐसे स्थलों पर विस्मय भाव की व्यंजना होती है। घड़ियाल का इमली खाना, कच्छपी के दूध से सम्पूर्ण पात्र का भर जाना, मेढक से सर्प का भयभीत होना, बैल का प्रसव करना आदि ऐसे वर्णन हैं जिनमें विस्मयता का भाव निहित है। कबीर की उलटवासियों मे भी इसी तरह के वर्णन मिलते हैं। सूरदास ने कृष्ण को अलौकिक शक्ति के चित्रण मे विस्मय भावों को व्यंजित किया है जैसे कृष्ण के मुंह फैलाने पर मुंह के अंदर त्रयलोक का दर्शन, एक छोटे से बालक के खीचने पर वृक्ष का उखड़ जाना। काली नाग के नाथने की लीला, गोवर्द्धन को उंगली पर धारण करने की लीला विस्मित करने वाली लीलाएं ही है।

रहस्यवाद के अन्तर्गत मधुर भावों की व्यंजना :

रहस्यवादी कवियों ने सासारिकता से विरक्त होने के लिए कामपरक अनुभूतियों का हनन करने का प्रयास किया किन्तु मनुष्य की मूल वृत्तियो का समूल नाश सरल नहीं है। अतः उनकी साधना मे इन्हीं मूल-वृत्तियो की प्रेरणा से कहीं कही मधुर भावों का प्रवेश हो गया। सिद्धों की गुह्य साधना मे स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका आदि के मधुर

---

१. कामणि काली नागणीं तीन्यू लोक मंझारि।
राम सनेही ऊबरे, विषई खाये मारि॥ २०-४
नारी कुण्ड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरै सब जगमूवा लाग॥ २०।१४ कबीर ग्रंथावली,

सम्बन्धों का समावेश हो गया। यद्यपि इनका एक आध्यात्मिक अर्थ है परन्तु लौकिक रूप से भी कहीं कहीं मुद्रा मैथुन तथा कामिनी को साधना मे सहायक समझा गया है। ये सारे तत्त्व सिद्धों की साधना के विकास मे अवरोधक हुए लेकिन किंचित अन्तर के साथ कबीर आदि सन्तों मे इन भावो को विशेष प्रश्रय मिला जिससे शुष्क साधना मे एक विशेप माधुर्य तथा आकर्षण उत्पन्न हुआ। सिद्ध तथा जैन कवियो को काव्य जनित ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति काम्य नही थी। वे तो साक्षात् ब्रह्मानन्द का आस्वादन करना चाहते थे जिसका सप्रेषण अत्यधिक कठिन है तथा साधारणीकरण की स्थिति तक लाना तो और दुर्गम। गूगे के गुड की तरह इसका जो अनुभव करता है वही इसे जान सकता है दूसरा नहीं। जोइन्दु मुनि ने इस सुख को कोटियों रानियों के रमण मे इन्द्र द्वारा अनुभूत सुख से भी श्रेष्ठ माना है।[1] यह तो एक संकेत मात्र है। सिद्धों ने इसी आनन्द को महासुख की सज्ञा दी और इस अनुभूति को सिद्धो ने वाणी से परे बताया। इसकी संपूर्ण प्रक्रिया हृदय में ही घटित होती है। सुरंग से उठनेवाली धूल जैसे सुरग मे ही विलीन हो जाती है ठीक वैसी ही यह अनुभूति है। सरहपाद ने इसे जोइन्दु से भी अधिक मार्मिक ढंग से समझाया है। इसका अनुभव कौमारिका द्वारा अनुभूत सम्भोग के प्रथम आनन्द के समान है। सखियाँ जब उससे इस आनन्द को अभिव्यक्त करने का निवेदन करती है तो वह हारकर यही कहती है कि उसके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता। उसे तो तुम लोग तभी समझ सकती हो जब परिणय के उपरान्त प्रिय से मिलोगी। इस दृष्टान्त मे आनन्दानुभूति को व्यंजित करने के लिए कुमारी के प्रथम सम्भोग को चित्रित किया गया है जो अपनी तीव्र अनुभूति के कारण तथा सामान्य अनुभवो के निकट होने के कारण साधारण जनो को ब्रह्मानन्द के संबंध में किंचित संकेत करता है।[2] मुक्ति को लिया पुरन्ध्री के रूप में परिकल्पित करके सामान्य जनो को आकर्षित करने की चेष्टा की गयी। समस्त सांसारिक संबधों की उपेक्षा करने वाले

---

१ जं सिव दंसणि परम-सुहु पावहि णाणु करन्तु।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणन्तु॥ ११६
जं मुणि लहइ अणन्तु-सुहु णिय-अप्पा झायन्तु।
तं सुहु इन्दु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमन्तु॥
परमात्मा प्रकाश' प्र० महा०, पृ० ११८-१९।

२ सो परमेसर कासु कहिज्जइ सुरअ कुमारी जिम पडिवज्जइ

मुनि कभी कभी स्वयं साधना की शुष्कता से विचलित होते रहे होंगे। इसीलिए मोक्ष आदि को नारी का कहने मात्र से नारी से जुड़े हुए सारे शृंगारी या मधुर भाव जागृत हो उठते हैं। सद्गुरु को तुष्ट करके मुक्ति प्रिया के घर निवास पाया जा सकता है।[2] इनमें यद्यपि भोग परक भावना भी उद्बुद्ध होती है। लेकिन लौकिक नारी के प्रति नहीं बल्कि सिद्ध-पुरन्ध्री के लिए। जिनदत्त सूरि कहते हैं कि राग-द्वेष मोह को जो पराजित कर देते हैं वे सिद्ध पुरन्ध्री का निश्चय ही भोग करते हैं।[3] सिद्ध साहित्य में लौकिक भाव या राग की उपेक्षा भले ही मिलती है किन्तु अलौकिक भाव के रूप में महाराग का पर्याप्त आश्रय ग्रहण किया गया है। सिद्धों का रूपकात्मक चित्र लौकिक काव्य से काफी समानता रखता है। इसलिए सामान्य रूप से उनमें भी भावानुभूति तथा रसानुभूति होती है। ठीक वैसे ही जैसे कबीर के अनेक निर्गुण तथा शृंगारी गीतों का गान करके एक अपढ़, ग्रामीण भी आनन्द लेता है। उसकी दृष्टि में वह गूढ़ रूपक न होकर सामान्य स्त्री-पुरुष ही रहता है। चाहे वह उन रूपकों से थोड़ा बहुत परिचित हो परन्तु गीत की तन्मयता में उसका यह ज्ञान विलीन हो जाता है। सिद्धों के चर्यागीत इतने अधिक लोकप्रिय रहे होंगे इसका ठोस प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय सिद्धों के प्रभावित क्षेत्रों में इन्हें लोग अवश्य ही गाते रहे होंगे। डॉ० धर्मवीर भारती इन गीतों में व्यंजित भावों को साधारणीकरण के परे मानते हैं।[4] परन्तु गूढ़ रूपकों तथा उलटवासियों को छोड़कर कबीर के सबद के समान इन्हें भी साधारणीकरण के योग्य माना जा सकता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साधक के मन में इन गीतों की जो भाव-कल्पना होती है साधारण पाठकों की उससे भिन्न। लेकिन उसमें आनन्द की अनुभूति तो दोनों को होती है।

सिद्धों ने भगवती प्रज्ञा को महामुद्रा—मुद् ददाति इति मुद्रा, आनन्द देने-वाली माना तथा इसे डोम्बी, चाण्डाली, रजकी, नटी तथा ब्राह्मणी के रूप में चित्रित किया। इन रूपों को महाराग या आध्यात्मिक रति भाव के आश्रय रूप में नायिकाओं का विविध रूप माना जा सकता है। सिद्धों ने साधक तथा प्रज्ञा नारी दोनों के प्रेम का चित्रण प्रेम के द्विपक्षीय रूप में किया अर्थात् प्रज्ञा साधक

---

२. सद्गुरु तुठा पावयई मुक्ति तिया घर वासु ॥ आणंदा।

३. काल स्वरूप कुलक-छं० ५-६, पृ ६६।

४. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य. पृ० २५६।

से और साधक प्रज्ञा से प्रेम करता है। स्थिति के अनुसार दोनों को आश्रय तथा आलम्बन माना जा सकता है। लौकिक शृंगार में प्रायः प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है। सिद्धों ने सारी बाह्य प्रकृति को शरीर के अन्दर ही कल्पित किया। चन्द्र, सूर्य, अमृत-कमल आदि देह के भीतर ही उद्दीपन का कार्य करते हैं। सिद्धों ने जिस प्रेम का चित्रण किया है वह भारतीय आदर्श के अनुकूल है। वे प्रेमिका को गृहिणी, वधू आदि नामों से अभिहित करते हैं जिसमें स्वकीया भाव का प्रेम व्यंजित होता है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इस तरह की नायिका को स्वकीया कहा जा सकता है। अन्य भावों की स्थिति के आधार पर नायिका के अन्य रूपों की भी खोज की जा सकती है। काण्हपा तन्त्री और भाजन लेकर नगर में आकर डोम्बी का समागम करना चाहते हैं।[1] भावाभिव्यक्ति के लिए उन्होंने ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया है कि नायिका परकीया कोटि की मानी जा सकती है।

शृंगार के संयोग और वियोग दो पक्षों का चित्रण चर्यागीतों में किया गया है। संयोग शृंगार में प्रणय-निवेदन नायक तथा नायिका दोनों की ओर से होता है किन्तु नायक के द्वारा किये गये प्रणय निवेदन के अधिक चित्र आये हैं। गुण्डरीपाद योगिनी से आलिंगन करने के लिए निवेदन करते हैं। वह योगिनी के बिना क्षण भर भी नहीं जी सकते। उसके मुख-कमल का चुम्बन करके योगी कमल रस का पान करता है। यही नहीं प्रेम में विभोर वह नर-नारियों के बीच उसकी चीर भी उघाड़ता है।[2] इस चित्रण में प्रणय की तीव्र आकांक्षा,

१. आलोडोम्बि तोए सम करिबो मो साङ्ग।
निघिन काह्न कापालि जोइ लाङ्ग ।। ध्रुवपद ।।
बागची : चर्यागीत-कोष, पृ० ३३ ।

२. तिअड्डा चापी जोइणि दे अङ्कवाली।
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली ।। १ ।।
जोइनि तंइ विनु खणहिं न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमल रस पीबमि ।। २ ।।
+ +
भणइ गुण्डरी अम्हे कुन्दुरे वीरा।
नरअ नारी माझें उभिल चीरा ।। ४ ।। बागची : चर्यागीति कोष
पृ० १२

के बीच एकाकी तथा निर्भय घूमती रहती है।[1] इस नैरात्मा रूपी नायिका को पाकर शबर त्रिधातु की शय्या पर भुजाओं से आलिंगन करता हुआ रात बिता देता है। इस पद मे संयोग को प्रगाढ बनाने के लिए किंचित् वियोग का भी चित्रण किया गया है। नायिका के सौन्दर्य चित्रण में नायक की मनोनुकूलता का विशेष ध्यान दिया गया है। नायिका (प्रज्ञा) नायक (सिद्ध) के लिए इस-लिए भी अधिक आकर्षक तथा प्रिय है कि वह उसकी सही सहचरणी है। शबरी भी कर्ण कुण्डल तथा वज्र को धारण करती है। शबरपाद ने एक अन्य चर्या मे शून्य बालिका को कण्ठ मे लगाकर महासुखानुभूति का चित्रण किया है। शून्य महिला के साथ सुख में विलास करता हुआ वह कुछ भी नही चेतता :—

> छाडु छाडु माआ मोह विषम दुन्दोली।
> महासुहे बिलसन्ति शबरो लइआ सुण महेली ॥२॥
> कइरि पाकेला रे शबराशबरी मातेला।
> अणुदिन शबरो किम्पि न चेवइ महासुहें भोला ॥४॥[2]

वियोग श्रृंगार के अधिक चित्र उपलब्ध नही होते। वियोग के चित्रण मे नायिका को ही प्रमुखता दी गयी है जो लौकिक श्रृगार काव्य के काफ़ी अनुरुप है। इसे बागची ने 'हे वज्र तन्त्र' से उद्धृत किया है—नैरात्मा अपने करुणामृत हेवज्र से कहती है कि हे करुणामृत प्रियतम मेरी अवस्था को देखो। तुम्हारे बिना मैं मरणासन्न हूँ। उठो हे वज्र, शून्य स्वभाव का परित्याग करो, सक्रिय उपाय स्वभाव ग्रहण करो।[3] इस कथन से यह आभासित होता है कि नायक

---

१. ऊँचा ऊँचा पावत तहि वसइ सवरी बाली।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुन्जरी माली ॥ ध्रुव १ ॥
उमत सवरो पागल सवरो मा कर गुली गुहाडा तोहोरि।
णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दरी ॥
नाना तरुवर मौलिल रे गअणत लागेली डाली।
एकेली सवरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डल वज्रधारी ॥ ध्रुव २ ॥
तिअ धाउ खाट पडिला सवरो महासुखे सेजि छाइली।
सवरो भुजङ्ग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली ॥ ध्रुव ३ ॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० ६२ चर्या २८।

२. वही, पृ० १६२, चर्या ५०।

३. डॉ० धर्मवीर भारती · सिद्ध साहित्य पृ० २५१।

नायिका से रुष्ट होकर बैठा है। इसे मान-जनित वियोग कहा जा सकता है।

रति-भाव के उद्दीपन रूप मे रात को रति का उपयुक्त समय माना गया है। कहीं-कहीं रति भावो के अन्तर्गत रौद्र भावों का भी चित्रण है। एक चर्या मे साधक नायक सास आदि की हत्या करने को तैयार हो जाता है।[1] इस रौद्र भाव या क्रोधावेश का सिद्धों की तान्त्रिक साधना मे विशेष स्थान था। कबीरदास भी रहस्यवादी योगियों की तरह महारस का चित्रण करते है। किन्तु इस महारस के पान का वर्णन नायक-नायिका के रूपकों के सदर्भ मे बहुत कम हुआ है। अधिकतर यौगिक क्रियाओ द्वारा ही महारस चखने की चर्चा की गयी है।[2] कबीर तथा अन्य सन्तो के काव्य मे आत्मा को अर्थात् स्वयं को पत्नी रूप में परिकल्पित किया गया है और हरि को पति रूप मे। हरि के लिए प्रिय, प्रियतम, भरतार आदि सम्बोधनों के प्रयोग से सन्तो ने भी स्वकीया तथा अनन्य प्रेम को ही श्रेष्ठ समझा गया है। योगियो के चित्रण मे रूपकों की आन्तरिकता अधिक सुरक्षित है तथा उनके द्वारा परिकल्पित नारी उनसे तनिक भी भिन्न नही है। यदि सिद्ध योगी है तो प्रज्ञा योगिनी है तथा यदि वह शबर है तो प्रज्ञा शबरी है। सामान्य नारी के भावो का चित्रण उसमे बहुत कम हो पाया है। सिद्धो के काव्य मे दोनो ओर प्रेम पलता है किन्तु सन्त काव्य में आत्मा ने ही अधिक तड़पन दर्शित की गयी है। परमात्मा का प्रेम, कृपा, रक्षण आदि भावों में विभक्त हो गया है। व्यापक चित्रण न होते हुए भी प्रियतम मे निष्क्रियता नही है। उसके आगमन की पूरी-पूरी सभावना बनी रहती है। कुछ स्थलों मे तो राजा राम भरतार का आगमन हो ही गया है।[3] सन्त काव्य में वर्णित प्रेमानुभूति लौकिक काव्य के बहुत निकट

---

१. राग द्वेष मोह लाइअ छार।
परम मोख लवए मुत्तिहार ॥
मारिअ सासु नणन्द घरे शाली।
माअ मारिआ कान्ह भइल कवाली ॥

बागची : चर्यागीत कोष, पृ० ३८।

२. दुलहनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये राजा राम भरतार ॥

कबीर ग्रंथावली : पृ० १४०।

३. कबीर अखड़ियां झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ॥३॥

वही पृ० १६।

है। आत्मा रूपी नारी की विरहानुभूति किसी भी लौकिक नायिका से अधिक प्रगाढ तथा तीव्र है। प्रियतम का पंथ निहारते-निहारते आँखो मे झाई पड गयी तथा राम नाम पुकारते-पुकारते जीभ मे छाला पड गया। विरहिणी की दशा इतनी सोचनीय हो गयी है कि अब वह या तो दर्शन चाहती है या मृत्यु। सिद्ध काव्य मे नायक (साधक) प्रज्ञा के विरह से जीना मुश्किल समझता है। सिद्धो मे विरह की इतनी मार्मिक उक्तियाँ नही मिलतीं। दोनो मे इतनी समानता है कि भाव-विह्वलता साधक में ही प्रदर्शित की गयी है। चाहे उसे पुरुष मानकर व्यक्त किया जाय चाहे स्त्री, कोई खास अंतर नही आता। सिद्ध पुरुष थे अतः अपने को प्रेमी रूप में कल्पित करके स्वाभाविक भावो के अधिक सन्निकट थे जबकि कबीरादि सन्त पुरुष होकर अपने को स्त्री रूप में कल्पित करते थे। कबीर ने भी सिद्धों की तरह ही आत्मा परमात्मा के वैवाहिक संबधो का चित्रण किया है किन्तु उसमे संभोग की उद्दाम भावनायें अभिव्यक्त नही हुई है। आत्मा रुपी दुल्हन सासरे से प्रिय के साथ आई किन्तु स्वामी के संग उसकी साध (श्रद्धा, आकांक्षा) पूरी नहीं हुई क्योंकि सुहाग के पूर्ण होते ही वह बिना पति के हो गई।[1] सन्तों में मिलन के जो चित्र मिलते हैं वे पूर्ण अनुराग को अभिव्यंजित करते है परन्तु उनमें सिद्धों जैसा बिल्कुल खुलापन नही है बल्कि अश्लीलता से बचने के लिए काफी शिष्टता बरती गयी है। वे प्रियतम को अपनी प्रेम प्रीति मे उलझा कर शय्या पर शयन करने की अभिलाषा तो व्यक्त करते हैं किन्तु रत्यौद्‌बोधक अंगो की कामना तथा भोग के लिए प्रियतम को आमन्त्रित नही करते। वास्तव में सन्तो ने स्त्री-भावो का तो अपने ऊपर आरोपण किया किन्तु संपूर्ण स्त्रीत्व का नही।[2]

सिद्धो द्वारा रूपकात्मक रूप से कल्पित स्त्री-पुरुष का भाव सूफियो के काव्य के अधिक अनुरूप है।

---

१. मैं सासरि पिय गौंहनि आई।
सांई संगि साध नही पूगी, गयो जोबन सुपिना की नाई ॥
+ + +
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धरयौ सगो भाई ॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० २८०।

२. बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये। भाग बड़े घरि बैठे आये ॥२॥
चरननि लागि करौं बरिसाई। प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥३॥
कबीर ग्रंथावली · पृ० १४१।

सूरदास के काव्य को आध्यात्मिक आधार पर लेने पर गोपियों को पुष्ट पुष्ट आत्मा माना जा सकता है तथा कृष्ण को परमात्मा। गोपियाँ उनकी शाश्वत लीला में आनन्द लेने के लिए ही अवतरित हुई है। किन्तु इन भावों का एक कथात्मक तथा लौकिक आधार है। अपभ्रंश मुक्तकों में इस तरह की मधुर तथा शृंगारिक भावनायें सुरक्षित तो है परन्तु सूरदास पर उसका प्रभाव मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि सूर के काव्य की पृष्ठभूमि तथा वातावरण बिल्कुल भिन्न ढंग का है। आध्यात्मिक भावों पर अधिक बल होने के कारण अश्लीलता-श्लीलता के अंतर दोनो काव्यों में क्षीण है।

वीर भावों की व्यंजना :

अपभ्रंश मुक्तक काव्य मे वीर भावो को अभिव्यजित करने के लिए अनेक युक्तियो का सहारा किया गया है। युद्ध के सम्पूर्ण वातावरण का चित्रण तथा आलम्बन, आश्रय आदि का एक साथ चित्रण न होते हुए भी उत्साह का स्थायी भाव बहुत स्पष्ट रूप मे पाया जाता है। अपभ्रंश मुक्तको की नायिकाएँ अपने वीर पतियो के ऊपर न्योछावर जाती है। ऐसे कथनो मे दोहरी भाव व्यजना होती है एक तो नायिका की शौर्य प्रियता, निर्ममता तथा त्याग की दूसरे नायक के वीरता को। भाव-व्यजना का यह तरीका अपने आप में काफी अच्छा तथा मुक्तक काव्य की प्रकृति के अनुकूल है जिसमे बहुत विस्तार से कहने की जगह नही होती। जिस वीररस का वर्णन हम प्रबध काव्यों मे पढ़ते है वह मुक्तक काव्यों मे आकर एकदम भिन्न हो जाता है। प्रबंधो में दृष्टि शौर्य के इतिवृत्त के विवरण पर रहती है। लेकिन मुक्तको में शौर्य के मार्मिक और चुभते हुए स्थलो पर।[1] वीर-धर्मिणी नायिका हर जन्म में ऐसे पुरुष को पति रूप मे पाना चाहती है जो त्यक्त-अकुश प्रमत्त गजो से हँसता हँसता भिड़ जाय।[2] वीर पुरुषो के मन मे एक पुलक सी होती रहती है। उनके अंग अंग फड़कते रहते है। रण-दुर्भिक्ष हो जाने पर उनका मन माने कैसे इसलिए वीर पत्नियाँ अपने प्रिय से कह उठती है कि हे प्रिय उस देश मे चलो जहा खड्ग व्यापार होता है। इस उक्ति मे जूझने का बड़ा उत्साह है—

खग्ग विसाहिउ जँहि लहहुँ पिय तहि देसँहि जाहुँ।
रण दुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुँ॥[3]

---

१. जितेन्द्र पाठक : हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास, पृ० २२६।

२. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३७८।२

३. वही, ४।३८६।१।

नायिका को अपने पति पर कितना गर्व है कि पति को सिंह के समान मानने मे उसका मान खंडित होता है। नायिका युद्ध मे प्रवृत्त अपने पति के शौर्य का दर्शन करके अपनी सखी को सम्बोधित करके कहती है कि हे सखी मेरे शूरपति को देखो वह अकेला ही घोड़े की बाग उठाकर शत्रु-सैन्य का शोषण कर रहा है, जिस तरह कोई शराबी शराब के प्याले को पीता है। यहाँ पर वीर शौर्य के आसव मे छका हुआ है जो शत्रुओं को तीव्र उत्साह स नष्ट करता हुआ आगे बढ़ रहा है।[1] इसी तरह के युद्ध-प्रवृत्त नायक के गत्यात्मक चित्रों के माध्यम मे वीर-भावों की बड़ी मार्मिक व्यजना की गयी है। नायिका हर्ष से उत्फुल्लित होकर स्वय सैकड़ो लड़ाइयो मे बखाने गये त्यक्ताकुश गजो के कुंभ-स्थल को विदीर्ण करते हुए पति की तरफ़ सब का ध्यान आकर्षित करती है।[2] नायिका विचार करती है कि यदि शत्रु-पक्ष के लोग भगे है तो निश्चय ही मेरे पति की वीरता के भय से। यदि हमारे पक्ष के लोग भगे है तो वह युद्ध मे मारा गया है। यहा सेना को भागती देखकर नायिका की दोहरी मनःस्थिति का चित्रण किया गया है। यदि शत्रु पक्ष की सेना है तो प्रियतम की अतिशय वीरता स्पष्ट है क्योकि उसी के भय से लोग भागे जा रहे है। यदि निज-पक्ष की सेना है तो प्रियतम का अनिष्ट हो गया नहीं तो महान् वीर के रहते सेना को पलायन करने की नौबत ही नहीं आती। दोनों स्थितियों में नायक के अतिशय शौर्य की व्यंजना होती है।[3] नायक के भी कथनो में पूर्ण उत्साह का भाव पाया जाता है। वैरी घने हैं तो भी वह उन पर चढ़ाई करेगा। उसके भी दो हाथ है मार कर ही मरेगा।[4] नायक का शौर्य उतना ही अधिक उजागर होता है जितना विकट तथा भयंकर युद्ध हो। ऐसा भयकर युद्ध है कि शरो से शर कट जाते हैं तथा तलवार से तलवारें। वीरों के जमघट तथा सघनता को

---

१ मोतीलाल मेनारिया : डिंगल में वीररस, १५।६५

२. संगर सएहिं जो वणिअइ, देक्खु अम्मारा कतु।
अइमत्तह चत्तंकुसह गय कुम्भइं दारन्तु॥
हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।३४५।१

३. जइ भग्गा पारक्कड़ा तो सहि मज्झि पिएण।
अह भग्गा अम्मह तणा तो तेमारिअडेण॥, वही, ४।३७९।२

४ हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चढाहुँ।
अम्हाहि बै हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुँ वही ४ ४३९

व्यजित करने के लिए कवि ने भटों की घटा के रूप में चित्रित किया है। ऐसे युद्ध मे भी नायक भटो की घटा को विदीर्ण करते हुए अपने मार्ग को प्रकाशित करता है।[1]

दाम्पत्य-भाव के अन्तर्गत वीर-भावों को व्यजित करने का जो उद्योग अपभ्रंश कवियो ने किया उसे बहुत कुछ उसी रूप मे राजस्थानी हिन्दी के कवियो ने अपनाया। वीर-प्रसू राजस्थान की भूमि मे ऐसी नायिकाओं की परपरा कोई आश्चर्य की बात नही है। विवाहोत्सव के समय ही नायक के हाथ के स्पर्श से जब नायिका के हाथ मे मूठ के निशान चुभते है तो वह बहुत खुश होती है क्योंकि अब उसकी चूडी कही लज्जित नही होगी।[2] राजस्थानी नायिका को कायर पड़ोस नही अच्छा लगता। वह उस देश में रहना चाहती है जहाँ मस्तक मोल बिकते है।[3] उसे अपने प्रिय के शौर्य पर कितना विश्वास है तथा शत्रुओ के प्रति कितनी दया। इसकी व्यंजना उसके इस कथन में होती है जब वह सोते हुए पति को जगाने की इच्छा करने वाले शत्रुओं को वर्जित करती है कि तुम लोग लौट जाओ ताकि तुम्हारी स्त्रियो की चूड़ा चिरंजीव हो।[4] सच्चे वीर को जीवन की लालसा नही होती। वह युद्ध के लिए न मुहूर्त पूछता है न शुभ शकुन की परवाह करता है। मरण ही उसके लिए मंगल है। कायर कुपुरुष तो धिक्कारने योग्य है जो शत्रु को युद्ध मे देखते ही मुंह मे तिनका ले लेते हैं।[5] प्रेम मे वीर अपने को कितना समेट

१ जहीं कधिज्जइ मरिण सरू, छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भडघड निबहि कतु पयासइ मग्गु।

२. हथलेवे की मूठ किण, हाथ विलग्गा माय।
लाखा वाता हेकलो, चूडौ मो न लजाय॥
सं० मोतीलाल मेनारिया डिंगल मे वीररस, ५।६२

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, ३।७६

४. नीदाणौ गिण टैकलो, पुलौ न छेड़ौ पीव।
जाय पुजावौ पाव ही, चूडौ धण चिरजीव॥ वही, १०।६४

५. का पुरसां फिट कायरा जीवण लालच ज्यांह।
अरि देखै आराण मैं, तृण मुख मांझल त्यांह॥
सूर न पूछै टीपणौ, सुकन न देखै सूर।
मरणा नू मंगल गिणै समर चढ़ै मुख नूर। वही, पृ० ६५

लेता है कि अपनी प्रियतमा की भुजाओ मे समा जाता है। परन्तु युद्ध की हाँक सुनते ही वह इतना अधिक उत्फुल्लित हो जाता है कि कवच मे नही समाता है। युद्ध मे वीर उमंग और उत्साह से भरकर किंचित श्रेष्ठ हो जाता है। उसकी सीमाबद्धता टूट जाती है। जोश मे चुस्ती से वह इतना गतिमान होता है कि उसका व्यक्तित्व भयावह तथा विराट् प्रतीत होता है। निज पक्ष या पर पक्ष की भागती सेना देखकर नायिका को अपने प्रियतम की वीरता पर पूर्ण भरोसा रहता है डिंगल काव्य की नायिका भी युद्ध से कुछ वीरो को भागता देखकर अपभ्रश की नायिका जैसी कल्पना करती है। उसमे तो सीधे सीधे प्रिय के अनिष्ट की संभावना की गयी है किन्तु यहाँ सभी सभावनाएँ व्यंजना पर आश्रित है। डिंगल की नायिका कहती है कि हे सखी यदि दुष्ट शत्रु भाग गये हो तो मोतियों की थाल सजा ला जिससे विजयी पति की आरती उतारूँ और यदि स्वजन ही भाग गये हो तो प्राणनाथ का साथ न छूटने पाये।[1] दोनो स्थितियो में नायक की वीरता की व्यंजना होती है। प्रथम मे विजेता के रूप में और दूसरे मे वीरगति पाने वाले ऐसे वीर के रूप मे जिसके मरणोपरान्त अवशिष्ट सेना मे शत्रु पक्ष का मुकाबला करने की सामर्थ्य ही नही है। यह उक्ति एक वीर-वधू की है जिसमे इहलोक और परलोक दोनो मे अपने पति के साथ रहने की कामना निहित है। युद्ध वीर के उत्साह को वृद्ध करने के लिए उसकी सेना का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया। अपनी विशाल सेना को देखकर किस वीर मे साहस द्विगुणित नही हो उठेगा? सेना के प्रयाण के समय ही शत्रु स्त्रियाँ पीड़ित होने लगती है। यह है युद्ध मे जीतने की संभावना। प्रयाण के समय बहुत से घोडे और गधों के खुर से जो धूल उठती है वह शत्रु-पत्नियो के श्वास मे घुल जाती है तथा सुर सुन्दरियो के नेत्रो को निन्दित करने वाले उनके नेत्रो मे धूलपात होता है।[2] यहाँ स्वाभाविक भाव व्यंजना है। वीर रस के अधिकतर कवियो ने ऐसे स्थलो पर अत्युक्ति का सहारा लिया है। हम्मीर की रणयात्रा के चित्रण मे सेना की

---

१. जे खल भग्गा तो सखी, मोतीहल सज थाल।
निज भग्गा तो नाहरौ, साथ न सूनो टाल॥
डिंगल मे वीररस, ४·६२।

२. बहुहयखुरखंडिअमहिउट्ठिरइ रिउवहुनीसास पवण धुए।
जसु पयाण छणि अच्छिजुअल अणिमिस नयणत्तुण सुरसुन्दरि निंदहिं॥
हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन ७ ३३ १

'विशालता साहस, क्रोध, उत्साह आदि को अभिव्यंजित किया गया है। सेना की विशालता के चित्रण के द्वारा उत्साह जागृत करने का प्रयास हिन्दी के कवि भूषण में भी पाया जाता है। मान कवि ने तो बिलकुल उसी शैली में सेना का चित्रण किया जो वीर-भावों को उत्तेजित करता है—

सल सलिल सेस दल भार सिर
कमठ पीठि उठि कल कलिय
हल हलिय असुर धर धरि
हलक ध्वनि सहित रिपु रलतलिय ॥[1]

युद्ध का भयंकर वातावरण उपस्थित है। प्रांगण में मस्त हथिनियां गरजती है। घोड़े गिरते हैं। भीषण भृकुटियों वाले वीर घूमते हैं। ऐसे रण में वीर पुरुष ही विजय लक्ष्मी का वरण कर सकते हैं।[2] यहां कवि रण का चित्र खींच-कर नायक को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित करता है। रण-स्थल के चित्रण के साथ कवियों ने कहीं-कहीं अत्यधिक काव्यात्मक अनुभवों को चित्रित किया है। घमासान युद्ध के दौरान तलवार के प्रहारों से हाथियों की शीर्षस्थ मालाएँ पतित हो रही हैं लगता है कि जयश्री स्वयंबर की माला को ऊपर उठा रही है। पता नहीं वह किस वीर का वरण करेगी।[3] भूषण ने तलवार का चित्रण बड़े मौलिक ढंग से किया है उनकी कल्पना वीर-रस के अधिक नजदीक है तथा असि की दारुणता को व्यंजित करती है—

भुज भुजगेस की है संगिनी भुजंगिनी सी खेदि खेदि
खाती दीह दारुन दलन के।
पाखरिन बीच धँसि जाति मीन पैरि पार
जात परवाह ज्यों जलन के।[4]

---

१. स० उदय नारायण तिवारी : वीर-काव्य, मान कवि,

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ५।७६।२१·३

३. करवाल पहारिण उच्छलिअ करिसिरमुत्ताहलरमणमाल।
रेहइ समरंगणि जयसिरिए, उक्खिविअ नाइ सयंवरमाल ॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।१६६।१६·५५

४. भूषण-ग्रंथावली : श्री शिवबावनी पृ० १३१।

अपभ्रंश कवि ने तलवार की उपमा शत्रु की लक्ष्मी के केशपाश से दी है जिसमे व्यंजक शक्ति अधिक है। वीर के हाथ मे यदि तलवार है तो शत्रु की लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) का अधिग्रहण कर लेना उसके लिए अत्यन्त सहज है। वीरगति प्राप्त होने हुए भी शूर अपने युद्ध-कर्म को नही त्यागता। शरीर छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी उसके हाथ मे तलवार सुशोभित होती है। इसी तरह के शौर्य-भाव को दर्शित करने के लिए कवि ने एक चित्र खीचा है। रण मे व्रणो से विकृताग पति के बुझते हुए सौन्दर्य पर यदि वीर-वधू बलिहारी जाती है तो इसमे क्या आश्चर्य है। क्या हुआ यदि पाव मे अतडियाँ लगी हैं सिर कन्धे से लटक गया है पर हाथ तो कटार पर अब भी हैं।[1] सच्चे वीर मे मरते दम तक वही उत्साह वही साहस तथा वही उमंग रहती है। वीर-भावों के अन्तर्गत लज्जा के भाव को अभिव्यक्त करना अपभ्रंश कवियों का निजी वैशिष्ट्य है। अपभ्रंश की नायिकाएँ युद्ध से भागे हुए कायर पति को देखकर सखियो के बीच अपने को लज्जित कराना नही चाहती।[2] राजस्थानी का कवि भी उस वीर की प्रशंसा करते नही अघाता जिसका सिर कट जाने पर भी धड जमीन पर नही गिरता और हाथ तलवार वहन करते रहते है।[3] राजस्थानी काव्य की नायिका व्रण से युक्त पति को आता देखकर सती होने के लिए तैयार हो जाती है। वह अपने पिता को यह संदेश देती है कि जब मैं पैदा हुई थी तब थाली भी नहीं बजी थी। अब सती होने समय ढोल बज रहे हैं।[4] वीर-दम्पतियो के माध्यम से शौर्य व्यंजना का यह ढंग अपभ्रंश मुक्तककारो की अपनी मौलिक सूझ है जो अधिक मार्मिक तथा संवेदक है। पराजित शत्रुओं की शोचनीय दशाओं का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत करके कवियो ने शौर्य की विस्तृत प्रभावात्मकता व्यंजित की। अपने प्रभावों की प्रशंसा सुनकर वीर-पुरुषो की सुप्त वीरता अवश्य ही उत्तेजित हो उठती रही होगी। कवि कहता है कि प्रभु आपके डर से वैरी लोग जगल में जाकर नित्य शशक की तरह रहते है और

---

१. पाइ विलग्गी अन्त्डी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु।
तो वि कटारई हत्थडउ वलि किज्जउ कन्तस्सु॥
हेमचन्द्र . प्राकृत व्याकरण, ४।४४५

२. वही : ४।३५१

३. भर्डा जिकाई भायणै, कैहा करूं बखांण।
पडियै सिर धड़ नह पडै कर वाहै केवाण॥
डिंगल में वीररस, ८।६६

४. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ७६।

घने कंटक मे घूमते रहते हैं।[१] कुछ तो युद्ध मे नष्ट होकर रसातल चले गये इसलिए उनके विलास भवनो मे साप निर्भय विचरण करते है। तरुण भी स्थविरासन, स्त्रियों से रहित, विषय (देश) से पराङ्मुख होकर तपस्वी का रूप धारण कर लिये हैं।[२] शत्रु-वधुओं की दशा अत्यन्त कारुणिक है। प्रियतम से सदा सर्वदा के लिए वियुक्त हो जाने के कारण वे निरन्तर विलाप करती रहती है। उनकी कज्जल की रेखा आंसुओ मे गलकर गिरती रहती है। रोदन से उनकी आखें रक्त हो गयी हैं मानो अधर का अलक्तक उनकी आखो मे प्रविष्ट हो गया हो।[3] इस चित्रण मे एक स्थायी भाव शोक है अत करुण रस की व्यजना होती है किन्तु इसे सुनकर विजेता वीर को गर्व का अनुभव होता है। इतना ही नही दुर्बलता के कारण स्त्रियो ने स्वर्णभूषणो का भी परित्याग कर दिया है। वस्त्रो को फाडकर छोटा कर लिया है तब भी वे रमण-स्थान के भार मे आक्रान्त होकर चलती हैं।[४] अत्यधिक दुर्बलता उनके द्वारा अनुभूत क्लेश और चिन्ता के भावो को व्यक्त करती है। इसी तरह का मार्मिक और चमत्कारिक चित्रण भूषण मे भी पाया जाता है। ऐसे चित्रणो मे सत्यता की कमी तथा कल्पना का आधिक्य है। ये उक्तियां विशेषत ऐसे शत्रुओं के सदर्भ मे हैं जो निश्चय ही प्रस्तुत वीर से अधिक शक्तिशाली है। भूषण ने शिवाजी के उत्साह को वर्धित करने के लिए मुस्लिम बादशाह की बेगमो की दुर्दशा का काल्पनिक चित्र खीचा जो अपभ्रंश के चित्रो के समान ही है।

---

१. हेमचन्द्र . छन्दोऽनुशासन ५।१८६।४२'१

२. दारविवज्जिअ विसयपरंमुह खलिअगइक्कम अइपसरिअवेविअ।
वेरग्गिण तवसिस्सु पवज्जिवि ठिअ थेरासणि तुह तरुण वि वेरिअ॥
वही, ७।३१ १

३ कज्जललेह विललोअणहं, गलिअसुं जलिग पम्हुट्ठउ।
अहरालत्तयरसु सामरिसु, तुहरिउवहुनयणिपइट्ठउ॥
वही, ६।२ ६।२० ५४

४. कंचणभूसण छड्डिअ खंडिवि वसणु वि लहुइउतुरिअ पलाइरिहिं।
तु वि किच्चिछण रमणत्थलभारक्कंतिहिं गम्मइ तुह रिउ सुंदरिहिं॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।२०६।२०'५४

अपभ्रंश मुक्तक काव्य का शिल्प विधान और उसका हिन्दी पर प्रभाव

प्रयुक्त भाषा :

संपूर्ण उपलब्ध अपभ्रंश मुक्तको मे भाषा का एक रूप नही मिलता है किन्तु उन समस्त मुक्तक काव्यो की भाषा अपभ्रंश, अवहंस, अवहट्ठ या कवियों द्वारा प्रयुक्त देशी भाषा ही है। इन विविध नामो के संबंध मे समस्या यह उठती है कि क्या ये भिन्न-भिन्न भाषाएँ है या एक ही भाषा अपभ्रंश के विविध पर्याय हैं। पतंजलि ने अपने महाभाष्य मे संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त अन्य व्याकरणच्युत शब्दो को अपभ्रश कहा[1] तथा भरत मुनि ने शब्दों के इस तरह के विकृत रूप को विभ्रष्ट कहा।[2] आगे चलकर अपभ्रंश का प्रयोग साहित्यिक भाषा के रूप में होने लगा जिसका उल्लेख भामह के काव्यालंकार मे मिलता है।[3] नमिसाधु ने प्राकृत को ही अपभ्रंश माना तथा दोनो में कोई खास भेद नही माना। इसका कारण स्पष्ट है कि अपभ्रश का आधार प्राकृत भाषा ही है। आभीरादि भारत मे आकर पश्चिमी प्रदेश में प्रचलित प्राकृत को अपनाकर उसे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल मोडा होगा जिससे प्रचलित प्राकृत तथा उनके द्वारा गृहीत प्राकृत में बड़ा अतर हो गया जिसे अपभ्रंश का नाम दिया गया। पतंजलि ने 'गो' के जिन विविध अपभ्रश रूपो का उल्लेख किया है प्राय: वे सभी प्राकृत ग्रथो मे प्रयुक्त मिलते है—

(१) खीरीणियाओ गावीओ गोण वियालं।

(आचारांगे, श्रु० २, उ० ४ ५)

(२) गावीए पुण दिण्णंतणंपि खीरहणमुवेइ (आवश्यक चूर्णी)।

(३) गोणीणं संगेल्ल (व्यवहार सूत्रे उ० ४)।

(४) दच्छुग गोणी खुज्जा, गोणी चंदण कथा।

(आ० नि० गा० १२३, १३६)।

---

१. महाभाष्य—निर्णयसागर संस्करण, पृ० ३१।

२. नाट्यशास्त्र दूसरा भाग, १७·३ गा० ओ० से०।

३. काव्यालंकार १·१६, १·२८।

एत्थं मोणीएं दिट्ठंतो[1] ।

जर्मन विद्वान् याकोवी की धारणा है कि अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा है जिसने अपना शब्द कोश प्राकृतो मे तथा व्याकरण के नियम देशी भाषाओं से ग्रहण किए है ।[2] इन कारणो से अपभ्रंश के लिए कभी-कभी प्राकृत नाम ही प्रयुक्त कर दिया जाता है जैसे कि बौद्धगान के संस्कृत टीकाकार ने मूल पदों की भाषा को प्राकृत कहा है । स्वयभू ने 'स्वयभूछंद' में अवहंस का कई बार उल्लेख किया है ।[3] यह अपभ्रंश का ही प्राकृत रूप है । प्राकृत में प का व हो जाता जैसे अपर का अवर, भ सघोष महाप्राण ध्वनि है जिसका प्राकृत रूप ह बनता है और श शौर-सेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृत में स हो गया । अत: अपभ्रंश से अवहंस बन गया । अपभ्रंश को यदि अवहंस भाषा कहा जाय तो अधिक शुद्ध है क्योंकि यह अपभ्रंश की प्रकृति के अनुकूल है ।

विद्यापति की कीर्तिलता तथा 'प्राकृत पैंगलम्' मे अवहट्ठ शब्द का प्रयोग मिलता है । अवहट्ठ शब्द संस्कृत अपभ्रष्ट का ही प्राकृत रूप है । स्वयभू ने अपभ्रंश को देशी भाषा विद्यापति ने 'देसिल बयना' कहा ।[4] डॉ॰ रामसिंह तोमर देशभाषा तथा देशी भाषा मे अंतर मानते है । उनका मत है कि— देशभाषायें अपभ्रंश से भिन्न प्रान्तीय बोलियाँ थीं और प्राचीन साहित्य में नाट्य शास्त्र, कामसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र इत्यादि मे इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग हुआ । अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्राचीन कवियों ने 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश या हिन्दी कविता की भाषा के लिए किया है ।[5] अत: स्पष्ट है कि अपभ्रंश, अवहंस, अवहट्ठ तथा देशी भाषा अपभ्रश के ही विभिन्न नाम हैं ।

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से यह माना जाता है कि एक ही भाषा पर प्रान्तीयता की छाप पड़ जाने के कारण उसमे कुछ अन्तर आ जाता है । आज

---

१. डॉ० अम्बादत्त : अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति : पृ० २४ ।

२. सं० हजारी प्रसाद, विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक, भूमिका पृ०४६ ।

३. स्वयंभू छन्द ४·७, ४·१०, ४·२४ ।

४. देशी भासा उभयतडुज्वल कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल

पउम चरिउ, २-४, पृ० ४ ।

५. डॉ० रामसिंह तोमर : प्राकृत और अपभ्रश साहित्य, पृ० ६५ ।

जिस तरह हिंदी के विविध रूप प्रचलित है उसी तरह अपभ्रश के भी विविध रूप थे परन्तु सामान्यतः उन रूपो मे कोई बड़ा अलगाव नही था जिससे कि उन्हे अलग भाषा का नाम दिया जाय। अपभ्रंश मुक्तकों में भाषा के तीन रूप परिलक्षित होते है—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश।

(२) पूर्वी अपभ्रंश।

(३) काश्मीरी अपभ्रंश।

(१) **पश्चिमी अपभ्रंश**—में प्रमुखतः शौरसेनी तथा महाराष्ट्री सम्मिलित है। इन्ही भाषाओ का अधिक विस्तार था। अधिकाश मुक्तक रचनाएँ पश्चिमी अपभ्रंश मे ही लिखी गयी है। 'विक्रमोर्वशीयम्' के अपभ्रश पद्य, स्वयंभू के छद 'पाहुड दोहा', 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार, उपदेशरसायन रास', 'चर्चरी' 'कालस्वरूपकुलक', 'संयम मजरी', 'सावयधम्म दोहा', 'आणंदा', 'दोहा-पाहुड', 'सदेश रासक' आदि।

(२) **पूर्वी अपभ्रंश**—पूर्वी अपभ्रंश मुख्यतः माधी अपभ्रंश ही है। 'चर्यापद', 'प्राकृत पैंगलम्' के कुछ पदों की रचना पूर्वी अपभ्रश मे हुई है। डॉ० रामसिंह तोमर के अनुसार 'दोहा कोष', 'कीर्तिलता' की भाषा यद्यपि शौरसेनी अपभ्रश है तथापि मागधी के प्रयोग भी उनमे मिलते है।

(३) **काश्मीरी अपभ्रंश**—'लल्लेश्वरीवाक्यानि' महानयप्रकाश', 'परा-त्रिंशिका' काश्मीरी अपभ्रंश में लिखी गयी है।

अपभ्रश के इन तीनो प्रयुक्त रूपो मे बहुत कम अन्तर पाया जाता है। प्रमुख अन्तरो का दिग्दर्शन किया जा रहा है—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश में लिखित कृतियों में श, ष, का प्रयोग नही मिलता। केवल स का ही प्रयोग है जबकि पूर्वी अपभ्रंश मे श का भी प्रयोग मिलता है—

> (१) टालत मार घर नाहि पड़वेशी।
> हाडीत मात नाहि निति आवेशी॥[1]
>
> (२) शन्ति भणइ बालाग न पइसअ॥

(२) पूर्वी अपभ्रंश में भूतकालिक क्रिया में ल का प्रयोग दिखाई देता है जो कि आज भी भोजपुरी तथा बंगला में सुरक्षित है जैसे—

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १०८।

जे जे आइला ते ते गैला ।
अवणागवणे काह्न विमन भइला ।।[1]

(३) काश्मीरी अपभ्रंश .

(१) उपलब्ध काश्मीरी मुक्तक कृतियों में द्वित्व शब्दों का बहुत कम प्रयोग मिलता है ।

(२) न के स्थान पर ण न होकर न का ही प्रयोग मिलता है ।

(३) संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बल पकड़ती हुई जान पड़ती है जैसे गत, पूजन, मङ्गल, पाचक, विन्दु आदि ।

(४) इसमें श, स, ष तीनों का प्रयोग हुआ है—

(१) नित्य समाधाने डलवाने
चर्याचर्यंकमे उत्किष्ठ ।[2]

(२) शाकिनपीठ चक्क अकनायक
उत्तरगर सिंहासन सारु ।
भावेत मंगल मयता गालक
नमसा विन्दु चक्क आचारु ।।[3]

(५) संस्कृत के य का यिह् (जो) कर दिये, हरे आदि क्रिया रूप हिन्दी में मिलते है—

सय् मातारुपि पय् दिये
सय् भार्या-रुपि करि विलास ।
सय् माया-रुपि जोव् हरे,
शिव छुय् क्रू ठ ताप् चेन् उपदेश ।।५४।।[4]

१—चर्यापदों की भाषा का निर्धारण : एक विवाद

उपलब्ध चर्यापदों की भाषा बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के बीच की जान पड़ती है । उसमें अनेक प्रयोग ऐसे है जो कि भाषा को परवर्ती सिद्ध करते हैं :—

१. प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीतिकोष, पृ० २३ ।

२. महानय प्रकाश, पृ० १३४ ।

३ वही, पृ० ८४ ।

४. लल्लेश्वरीवाक्यानि, छन्द ५४ ।

तिनिएँ पाटे लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ ।
ता सुनि मार भयंकर रे बिसअ मण्डल सअल भाजइ ।।

यही कारण है कि राहुल सांकृत्यायन तथा गुलेरी जी इस भाषा को (प्राचीन) हिन्दी ही मानते हैं । इसमे हिन्दी के रूप मे भाषा का ढलता हुआ रूप परिलक्षित होता है । रेखांकित शब्दों मे क्रिया रूप, संज्ञा-सर्वनाम तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति स्पष्ट है । अपभ्रंश के द्वित्व शब्दों का हिंदी मे क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया । राति आङ्गण (आँगन) आदि का प्रयोग बिलकुल हिन्दी जैसा ही है । डा० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या ने इसे पुरानी बंगाली माना है ।[1] कुछ अन्य विद्वानों ने चर्यापदों की भाषा को कामरूपी अपभ्रंश सिद्ध करने का प्रयास किया । इस मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिये गये हैं ।

१ सिद्धों में अनेक प्रमुख सिद्ध कामरूप से संबंधित थे जैसे नागार्जुन, गोरखनाथ, कान्हपाद और सरहपाद । कामरूप तन्त्र मन्त्र के देश के रूप में तो प्रसिद्ध था ही फिर भौगोलिक दृष्टि से भी उस समय का कामरूप जब कि बिहार तक फैला हुआ था—ऐसी अवस्था मे इन्हें कामरूपी आचार्यों द्वारा कामरूपी भाषा मे रचित कहा जाना चाहिए ।[2]

२. भाषा विज्ञान मे मागधी अपभ्रंश नामक जो एक भाग किया गया है, वह तो वास्तव में कामरूपी अपभ्रंश या कामरूपी प्राकृत होना चाहिए और इस कामरूपी अपभ्रंश से ही पूर्व भारत की सभी आधुनिक भाषायें निकली हुई हैं ।

३. इस्लाम के धुआंधार आक्रमण और राज्यक्रान्ति के बाद असम को छोड पूर्वी भारत की सारी भाषाये कामरूपी अपभ्रंश से दूर रह गईं । इधर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता हुआ कामरूप राज्य का शेष भारत से संपर्क छिन्न सा रहा । इसी कारण से यहाँ उस प्राकृत या अपभ्रंश का रूप करीब ज्यो का त्यों रह गया ।

४. कारक वचन आदि की समानता ही केवल नही, अपभ्रंश के शब्द भी करीब उसी रूप में अब तक रहना क्या हमारे मत का समर्थन नही करता ।

---

१. डॉ० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या : द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आफ दी बेंगाली लैंगवेज, पृ० ११२ ।

२. चित्र महंत : असमिया साहित्य और साहित्यकार, पृ० २१ ।

५. कुछ शब्द हम यहाँ उदाहरणार्थ रख रहे हैं जो अर्वाचीन असमिया में प्रचलित हैं—डालु, एरि, तेतेलि, राति, समाइ, थिरकरि, दुआरन, देइ, पारि, हाक, पानी, हरिणी, वाट, देखि ।[1]

किन्तु इन शब्दों में अधिकतर अवधी (हिन्दी) में भी प्रचलित है। उपलब्ध चर्यागीतों की भाषा का रूप आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर अधिक झुका हुआ है। यही कारण है कि इनमें हिन्दी, बंगाली, असमी आदि के प्रभूत तत्त्व मौजूद हैं। चाहे इन्हें पुरानी हिन्दी कहा जाय, चाहे बंगाली या असमी कोई खास फर्क नहीं पड़ता है क्योंकि अभी तक इन भाषाओं का बहुत अधिक अलगाव नहीं था। सातवी शताब्दी मे बिहार, बंगाल तथा आसाम में एक ही भाषा बोली जाती थी।[2] मागधी के क्षेत्र मे लिखी गयी इन चर्याओं मे यदि बिहारी (हिन्दी) बंगाली, असमी के तत्त्व मौजूद हैं तो इसमें कौन सा आश्चर्य है। अपभ्रंश को नाटकों की प्राकृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच एक सीढ़ी माना जाता है।[3] राय बहादुर आर्त्त वल्लभ महान्ती का कथन है कि मैं उपर्युक्त सहजियागान को प्राचीन उत्कल भाषा और साहित्य के निदर्शन के रूप में पाता हूँ—इन गानों की भाषा के साथ आधुनिक उत्कल भाषा का जो साम्य है वैसा अन्य किसी प्रान्त की भाषा के साथ नहीं।[4]

सन्ध्या भाषा :

अपभ्रंश के अधिकतर मुक्तकों में भाषा का रूप सीधा सादा है किन्तु सिद्धों की प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक भाषा के विषय में किंचित् अलग से विचार किया जाना अपेक्षित है। इस सांकेतिक भाषा के नामकरण के विषय में ही विद्वानों मे मतभेद मिलता है। कोई इसे सन्ध्या भाषा कहता है कोई

१. चित्र महंत : असमिया साहित्य और साहित्यकार पृ० २२।
२. डॉ० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या ओ० एण्ड डे० आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ७८।
३. डॉ सुनीत कुमार चाटुर्ज्या : ओ० एण्ड डे० आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ९०।
४. चतुर्दश भाषा निबन्धावली—बि० रा० भा० प०, पटना, पृ० ७०।

सन्धा । हर प्रसाद शास्त्री ने सन्ध्या का अर्थ आलो आन्धारी या धूप छाही शैली जिसका बाह्य अर्थ कुछ और हो तथा आन्तरिक अर्थ कुछ और।[1] पंडित विधु शेखर शास्त्री ने सन्ध्या को सन्ध्या का अशुद्ध प्रयोग माना । उनके मत से यह लिपिकारों का प्रमाद था जो वास्तविक शब्द सन्धा को सन्ध्या के रूप मे ग्रहण किया । उनके विचार से सन्धा का अर्थ अभिसन्धि या अभिप्राय युक्त भाषा से है जिसका उद्देश्य किसी अभिप्राय को व्यक्त करना है । बागची का कथन है कि तिब्बती परम्परा मे सन्ध्या और अभिसन्धि के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हैं ।[2] डॉ० भारती ने इस प्रकार की भाषा की परम्परा वैदिक काल से मानी और इसकी मंत्र प्रकृति की ओर संकेत किया ।[3] इस भाषा को अभिप्राय युक्त भाषा कहना ही उचित है ।

लोक-वाणी की ओर मुड़ती अपभ्रंश :

दसवी शताब्दी के बाद की अपभ्रंश रचनाओ मे भाषा संबंधी आदर्श में कुछ परिवर्त्तन दिखाई देता है । शिष्ट अपभ्रश की अपेक्षा ग्राम्य अपभ्रंश को विशेष रूप से अपनाया गया । इस विकसित परवर्ती अपभ्रंश की परिनिष्ठित अपभ्रश से कुछ स्पष्ट विभिन्नताएं भी है । इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे अवहट्ठ नाम से सम्बोधित करना चाहा क्योकि अवहट्ठ शब्द अधिक ग्राम्य बोधक है । 'संदेशरासक' में परिनिष्ठत अपभ्रंश के स्थान पर बोलचाल में प्रयुक्त अपभ्रंश के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया है । कवि का स्पष्ट कथन है कि मेरी कविता ऐसे लोगो के समक्ष पढी जाय जो न तो पडित है और न मूर्ख हैं बल्कि मध्यम श्रेणी के है ।

अवहट्ठ काल में लुप्तविभक्तिक पदों का प्रयोग बढ़ने लगा था । 'संदेशरासक' तथा 'प्राकृत पैंगलम्' आदि की भाषा में बहुत से प्रयोग मिलते हैं । संदेशरासक से कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती: सिद्ध साहित्य—पृ० २६८ ।

२. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टली, १६२८ पृ २८७ । उद्धृत उपोद्घात चर्यागीत कोष ।

३. डॉ० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य. पृ० २६६ ।

१. लहि छिद्द वियंभिउ बिरह घोरु।
उच्चरहिं सरसु महुयर भुणोय (कर्त्ता)[1]
२. मिहि खडिउ पिक्खि मायंदसाहु।[1] (कर्म)
३ पिय धरणिय समुरंत विरह सबसेयक्कय (करण)
४ अवर कहव वरमुद्ध हसतिय अहरयलु। (सम्बन्ध)
५. जइ पिम्मविओय विसंठुलयं हियमं। (अधिकरण)

लुप्त विभक्तिक पदों के आधिक्य के कारण परसर्गों का प्रयोग बढ़ता गया। भाषा धीरे-धीरे वियोगात्मक होती जा रही थी। हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त मुक्तकों में केहिं रेसि, तणेण, होन्तओ, केरअ, केर, मज्झि आदि परसर्ग दिखलाई पड़ते है किन्तु संदेशरासक में सरिथहिं, सम, सउ, सरिसु, हुंतउ ट्ठियइ, रेसि, लग्गि, महि इत्यादि नये परसर्गों का आगमन हो जाता है।

संबध सूचक सर्वनाम जु, जो, जं, जिण, जिण्णि, आदि का प्रयोग हिन्दी के काफी निकट है। डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि उस समय तक अपभ्रंश को साहित्यिक मान्यता मिल चुकी थी और उसकी साहित्यिक भाषा, जिसका आधार शौरसेनी थी, परिनिष्ठित हो चली थी। साथ ही साथ ग्राम्य अपभ्रंश का विकास हो रहा था। इस ग्राम्य अपभ्रंश में देशी तत्त्व की अधिकता रही होगी।[2]

भाषा को सजीव रखने के लिए यह आवश्यकता कि कवि तथा साहित्यकार लोक में भाषा के बदलते रूपों से अपना संपर्क बनाये रखें। 'संदेशरासक' में इसी स्वाभाविक परिवर्तन को स्वीकार किया गया है और परिनिष्ठित अपभ्रंश से वह इतनी अलग नहीं है जितना जोर दिया गया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में तो और भी वियोगात्मकता आ गयी थी—

सुर अरु सुरही पर समणि णाहि वीरेस समाण।
ओ वक्कल अरु कठिण तण, ओ पसु ओ पासाण॥

जैन—अपभ्रंश कवि आणंदा की रचना में भी लुप्त विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं तथा उनकी भाषा काफी सरल तथा हिन्दी के निकट है—

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी विश्वनाथ त्रिपाठी . संदेशरासक, छन्द २१२, २१६, २१२, १०३, ११५,
२. विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक भूमिका, : पृ० १०१।

केइ केस लुचावहिं, केई सिर जट भार (अविकरण)
अप्प बिन्दु ण जाणहिं आणन्दा[1] किम यावहिं भवपारु[3]।।६।।

अपभ्रंश मुक्तको में प्रयुक्त विभिन्न शैलियाँ :

अपभ्रश मुक्तको मे प्रवृत्तियों के अनुकूल ही शैली का विविध रूप दृष्टि-गोचर होता है। किन्तु प्रमुख रूप से निम्नलिखित शैलियाँ परिलक्षित होती हैं—

१. उपदेशात्मक शैली :—इस प्रकार की शैली का प्रयोग धार्मिक मुक्तको मे हुआ है, इस प्रकार की शैली में एक आदेश है या सम्मति। 'सावयधम्म दोहा' मे इस तरह की शैली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। जोइन्दु, रामसिंह, सरह आदि सिद्धों में भी उपदेशात्मक शैली का आधिक्य है।

२. मंडनात्मक शैली : इस तरह की शैली में कवि अपनी धार्मिक मान्यताओं को मंडित करने के लिए तरह-तरह के लाभों की चर्चा करता है तथा गूढ़ दार्शनिक तत्वो को तरह-तरह के दृष्टातो तथा व्याख्याओ से समझाता है। इसमे साम्प्रदायिकता का भी पुट आ जाता है क्योंकि कवि मे अपने धर्म के प्रति कुछ विशेष आग्रह या पक्षपात होता है। इस तरह की शैली में कही कहीं दार्शनिक गहराई होने के कारण शुष्कता तथा दुरूहता भी आ जाती है। इसमे तार्किकता भी है।

३. खंडनात्मक शैली : अपने सिद्धान्त या मान्यता को मंडित करने के लिए दूसरे की वातो का निषेध करना पडता है। खंडनात्मक अंशो में शैली अधिक शक्तिशाली और ओजपूर्ण होती है। साहसिकता के साथ-साथ इसमे प्रच्छन्न व्यंग्य भी है। बाह्याडम्बर, पुस्तकीय ज्ञान, तीर्थ, व्रत, विषय वासना की अनुरक्ति, सासरिक जीवन की आसक्ति आदि का निषेध इसी शैली मे किया गया है।

४. व्यंग्यात्मक शैली · जब अनेक खडनों तथा उदाहरणो के बाद भी कवि के ही संप्रदाय के कुछ साधक या सामान्य जन किसी पिटी पिटायी लकीर को छोड़ने को तैयार नहीं होते तो उन पर व्यंग्य का कशाघात किया जाता है। कवि उन्हें चेतावनी देता है और कभी-कभी उसकी शैली मे बडा तीखापन तथा भाषा में अक्खड़ता आ जाती है। वह जब समझाते समझाते हार जाता है तो उसमें खीझ आ जानी स्वाभाविक है जैसे—

१. आणंदा—आनंदतिलक दोहा, छन्द ६—अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन के परिशिष्ट में प्रकाशित

(१) जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह ।
लोगु (उ) पाड़णे अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह ॥७॥
(२) तहि बढ़ चित्त विसाम करु सरहें कहिअ उएस ॥२५॥[1]

५—अतिशयोक्ति पूर्ण स्तुतिपरक शैली—स्तुतिपरक शैली धार्मिक तथा लौकिक दोनो प्रकार के काव्यो में मिलती है। धार्मिक काव्यो में किसी गुरु तथा जिन की वन्दना की गयी है तथा लौकिक काव्यो मे किसी राजा का यश गान। दोनो में अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है। जिनदत्त सूरि ने 'चर्चरी' में इस शैली का प्रयोग किया है। लौकिक काव्य में यश वर्णन करते समय आश्रयदाता को इन्द्र आदि से भी बढ़कर बताया गया है।

६—प्रतीकात्मक शैली—प्रतीकों के माध्यम से चित्रण करने की प्रवृत्ति चर्यापदो मे दिखाई पड़ती है। चर्यापदों की प्रतीकात्मक शैली कतिपय स्थलों पर दोहरे अर्थो की सिद्धि करती है। प्रतीको का अर्थ समझे बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होते। कहीं-कहीं कथन में विरोधाभास प्रतीत होता है जैसे बैल का बिआना, पिटा का दुहा जाना, कुम्भीर का इमलीखाना आदि।

७—सामासिक शैली—शृंगारिक मुक्तकों में विस्तृत कथ्य को छोटे से छन्दो में भरने का प्रयास किया गया। अतः शब्द-योजना सघन तथा चुस्त है। छन्द मे से कोई भी शब्द हटाया नहीं जा सकता। शब्द के स्थानान्तरण या पर्याय योजना मात्र से मुक्तक का सम्पूर्ण सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

अलंकार योजना

अपभ्रंश के धार्मिक तथा रहस्यवादी मुक्तकों का प्रमुख लक्ष्य धर्म तथा मानवीय श्रेय से संबंधित तथ्यों का विश्लेषण तथा प्रचार करना था भाषा को अलंकृत करना नहीं किन्तु अपने उपदेश को रोचक बनाने के लिए वे उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि का उपयोग करते हैं। अपभ्रंश मुक्तको मे प्रयुक्त अलकारों को दो कोटियों मे रखा जा सकता है—

१—शब्दालंकार।
२—अर्थालंकार।

अर्थालंकार के दो वर्ग है—

१—सादृश्यमूलक।
२—विरोधमूलक।

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीत कोष पृ० १८८।

(१) शब्दालंकार श्लेष—धार्मिक तथा लौकिक दोनो तरह के मुक्तको मे श्लेष अलंकार का प्रयोग दिखाई पड़ता है। धार्मिक काव्यों मे इसका प्रयोग अनायास हुआ है। जिनदत्त सूरि का एक छन्द उद्धृत है—

लोहिण जडिउ जु पोउ स फुट्टइ ।।
चुंबकु जहि पहाणु किव वट्टइ ।।
नेय समुद्दह पारु सु पावइ ।
अंतराल तसु आवय आवइ ।।२६।।[1]

इस छन्द मे 'लोहिण' तथा पहाणु श्लिष्ट शब्द हैं। लोहिण का अर्थ लोभ और लोहा है तथा पहाणु का अर्थ प्रधान और नाव दोनो है।

अर्थालकारो मे सादृश्यमूलक अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उपदेशात्मक तथा धार्मिक मुक्तको मे औपम्यमूलक अलंकार का प्रयोग तो मिलता है परन्तु उपमावाचक शब्दो का प्रयोग न होने के कारण या तो उन्हे रूपक के रूप मे प्रयुक्त किया गया है या दृष्टातों के रूप में। शृंगारिक मुक्तको मे उपमा अलकार का प्रचुर प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य चित्रण में अधिकतर परम्परित उपमानो से ही काम चलाया गया है। हाथ की उपमा अशोकदल, मुख की उपमा कमल-चन्द्रमा तथा हँसी की उपमा नवमल्लिका से दी गयी है। अधिकतर स्थलो पर नायिका को प्रचलित उपमानो से श्रेष्ठ वर्णित किया गया है जिनमे व्यतिरेक अलंकार का सौन्दर्य परिलक्षित होता है :

तुहुँ उज्जाणि स वच्चसि जइ वि हु विलसइ मयण सवु पवलु।
गइ नयणिहिं लज्जीहइ तुहु हंसोउल सहि तइ हरिणिउलु ।।[2]

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग पर्याप्त भाव व्यजक तथा मौलिक है। नायिका के भ्रू चक्र का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि तरुणी जनो का भ्रू चक्र-चङ्ग ऐसे शोभित हो रहा है मानो त्रिभुवन विजयी अनङ्ग जनो को आज्ञा देता है।[3] वर्त्तुल चन्द्रमा ऐसे शोभित होता है मानो वह रजनी-वधू का क्रीडा कन्दुक हो।[4]

---

१. अपभ्रंश काव्य-त्रयी-कालस्वरूप कुलक-छन्द २६।

२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ७। ६. १।

३. वही, ६।१६. २८।

४. सहि वट्टुलउ चंदुल्लउ पडिहाइ।
रयणिवहूए कीलणगडुउ नाइ वही पृ० १६४।

रूपक अलंकार

धार्मिक मुक्तकों मे रूपको के प्रयोग से पर्याप्त सरसता आ गयी है। इन रूपकों का प्रयोग बडे सहज ढग से हुआ है।

मुनि रामसिह ने लोक जीवन से रूपको का चुनाव करके अपने उपदेशो को मार्मिक बनाया। उन्होने मन को करह, देह को देवालय, आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियो को शक्ति कहकर संबोधित किया। इद्रियो को पाँच बैल का रूपक देकर कवि उनसे (मन की) रक्षा के लिए कहता है और आत्मा रूपी नदन वन मे मन को प्रविष्ट करने की सलाह देता है। कवि देह और आत्मा या जीव और परमात्मा के सयोग का चित्रण प्रेयसी और प्रेमी के रूपक से करता है। शरीर (रूपी प्रिया) सगुण है और प्रिय निर्गुण निलक्षण और निसग है। एक ही अग रूपी अंक अर्थात् कोठे मे बसने पर भी अग से अंग नही मिल पाते—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एर्कहि अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अगहिं अंगु ॥१००

अन्यत्र मन को प्रियतम इन्द्रियो को परकीया नायिका तथा आत्मा को प्रियतमा कहा गया है किन्तु इन शब्दों का प्रयोग न होने के कारण अप्रस्तुत योजना के रूप मे चित्रण हुआ है—

पर्चाहि बाहिरु णेहडउ हलि सहि लागु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो मिलिउ परस्स॥

मन बहुत शक्तिशाली है। जब वह इन्द्रियो की ओर आकर्षित होकर झुकता है तब उसका निरोध दुष्कर होता है। मुनि रामसिह ने मन की शक्ति तथा सबलता की हाथी से तथा इन्द्रियो की विशालता की व्यंजना विन्ध्य पर्वत के रूपक से की। मन रूपी हाथी शील-रूपी वन को सहज ही तोड सकता है—

अम्मिय इहु मणु हत्थिया विझंह जंतउ वारि।
तं भजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि॥

जिनदत्त सूरि ने जिनवल्लभ के चरणो की महिमा का गान करते हुए परम्परित रूपको का प्रयोग किया। कवि का कथन है कि उनके पदपंकज को जन भ्रमर पुण्य के द्वारा प्राप्त कर शुद्ध-ज्ञान-रूपी मधु का पान करके अमर होते हैं। उन अनुपम की उपमा किससे दी जाय। पदों के लिए पंकज उपमान परम्परासंगत है। भ्रमर उपमान रसिको के लिएप्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ भ्रमर सामान्य जनों के लिए प्रयुक्त किया गया है। कमल के प्रति भ्रमरो का सहज आकर्षण होता है। इसी तरह जिन वल्लभ के चरणों में लोगों के लिए सहज आकर्षण है

ज्ञान को मधु का रूपक देकर ज्ञान की नीरसता तथा रूक्षता का परिहार किया गया है।

तसु पयपंकयउ पुन्निहि पाकिउ जण-भमरु
सुद्धमाण, महुपाणु करंतउ हुइ अमरु।
सत्थु हुंतु सो जाणइ सत्थ पसत्थ सहि
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ॥

माया नित्य नवीन तथा आकर्षक है। वह सदैव हरी भरी रहती है। महयंदिण मुनि ध्यान की कुल्हाड़ी से माया की वेलि काटकर महासागर मे खेलने की सम्मत्ति देते है—

छिणहिं झाण कुठारिण मूलहो माया बेल्लि।

सिद्ध-काव्य मे रूपकों का प्रयोग अधिकतर प्रतीकात्मक रूप मे हुआ है। वाचक शब्द रहित उपमेय तथा उपमान दोनों का प्रयोग एक साथ कम ही मिलता है परन्तु रूपको का एकदम अभाव नही है। काया-तरुवर, भवनदी आदि रूपकात्मक प्रयोग ही हैं। कुछ दोहो मे रूपकों का बडा सहज तथा आकर्पक प्रयोग किया गया है। गुरु के उपदेश में अमृत रस है जो उसे दौडकर नहीं पीता वह बहुत से शास्त्र रूपी मरुस्थलो में तृषित घूमता है—

गुरु उवएसे अमिअ-रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
बहुसत्थत्थ मरुत्थलिहिं तिसिए मरिअउ तेहि ॥

यहाँ भी चित्त को गयंद तथा करह का रूपक प्रदान किया गया है। चित्त को तरुवर के रूप में कल्पित किया गया है जिसका विस्तार तीनों भुवनो मे है। उसमे करुणा के विभिन्न पुष्प पुष्पित है। एवं सुख के फल लगते हैं—

अद्दह चित्त तरुअरह गउ तिहुवणें वित्थार।
करुण, फुल्लीफल धरइ णाउ परन्त ऊआर ॥
सुण्ण तरुवर फुल्लिअउ करुण, विविह विचित्त।
अण्णा भोअ परत्तफलु एहु सोक्ख परु चित्त ॥[1]

दृष्टान्त :

जैन मुक्तकों तथा सिद्धो-कवियो के दोहो मे दृष्टान्तो की भरमार है। मन पांचो इन्द्रियों का नायक है। इसे बस मे करने पर सारी इन्द्रिया स्वतः वस मे हो जाती हैं। इसके लिए कवि ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया कि वृक्ष की जड़

१ प्रबोधचन्द्र बागची पर्यामीति कोष पृ० १९५

कट जाने पर पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं। यह दृष्टान्त बड़ा सहज तथा सर्व अनुभव गम्य है।[1] ज्ञान के बिना मोक्ष दुर्लभ होता है है। बहुत से जल को मथने से घी निकलना सम्भव नहीं है।[2] आत्मा में रति होने पर जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता। यह एक सैद्धान्तिक कथन सा प्रतीत होता है। साधारण जनों के लिए दुरूह भी है कि संसार में रहकर कर्मों से लिप्त होना अस्वाभाविक सा है। कवि ने एक सर्व परिचित दृष्टान्त प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार जल में रहते हुए कमलपत्र जल से कदापि लिप्त नहीं होता।[3] उसी तरह से जीव जग में रहते हुए कर्मों में लिप्त नहीं होता। कवि आणंदा ने शरीर में जीव के निवास को बाह्य रूप से अदृश्य तथा विरले लोगों के जानने योग्य बताया। कवि ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिए दोहरा उदाहरण दिया। एक काष्ठ में अग्नि का तथा दूसरा पुष्प में परिमल का, बाह्य रूप में काष्ठ में अग्नि तथा पुष्प में परिमल प्रत्यक्ष नहीं होते परन्तु उनमें ये रहते अवश्य हैं।[4] मद्यमास में रत रहनेवालों के संग से सम्यकत्व उसी तरह से मैला हो जाता है जैसे अञ्जन गिरि के संग से चंद की किरण भी काली हो जाती है।[5]

जैन कवियों के समान ही सिद्धों ने अत्यधिक सहज तथा अनेक दृष्टांतों के प्रयोग द्वारा अपने गूढ़ भावों को समझाने की चेष्टा की है। मन्त्र तन्त्र से शान्ति नहीं होती। इसके लिए सरहपाद ने एक दृष्टात दिया कि तरुफल के दर्शन से भूख की तृप्ति नहीं होती तथा वैद्य के देखने से रोग नहीं भग जाता।[6] जब तक आत्म ज्ञान न हो जाय तब तक शिष्य नहीं बनाना चाहिए।

---

१. पंचहं णायकु बसि करहु जेण होंति बसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहं अवसइ सुक्कहिं पण्ण ॥ १४०,
परमात्म प्रकाश

२. णाणु विहीणहं मोक्ख पउ जीव म कासु वि जोइ।
बहुंए सलिल विलोलियइ करु चोप्पडउ ण होइ ॥ ७४ ॥
वही, पृ० २१६।

३. जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कयावि।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प सहावि ॥९२॥
योगसार, पृ० ३९१।

४. जिम वइसाणर कट्ठमहि कुसुमइ परिमलु होइ।
तिंह देह मइ बसइ जिउ, आणंदा ? विरला बुझइ कोइ ॥१६॥

५. देवसेन : सावयधम्म दोहा, दो ३९।

६. तरुफल दरिसणे णउ अघाइ। वेज्ज देक्खि कि रोग पलाइ ॥७,॥
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० १८६.

अज्ञानी गुरु तथा अज्ञानी शिष्य दोनों अन्धे के समान हैं जो एक दूसरे को ठेलते हुए कुंए में गिर जाते है।[१] जो स्वयं अज्ञानी है वह किसी को कैसे ज्ञान दे सकता है ठीक उसी तरह से अन्धा व्यक्ति दूसरे अन्धे को कैसे सहारा दे सकता है क्योंकि वह स्वयं भी दृष्टिहीन तथा अज्ञातपथ है। यदि कभी इसकी दुश्चेष्टा की गयी तो दोनों का विनाश अवश्यसंभावी है। कवि द्वारा प्रयुक्त दृष्टांत युक्ति संगत है तथा सक्षेप में ही कवि के विस्तृत अभिमत को व्यक्त करने मे सक्षम है। काण्हपाद ने भी दृष्टांतों का सफल तथा मार्मिक प्रयोग किया है। उनका कथन है कि आगम-वेद पुराण के अध्ययन मे रत पंडित लोग आत्मा की गहराई में प्रविष्ट नही हो पाते। वे ब्रह्मरस से वंचित रहकर बाहर ही बाहर चक्कर काटते रहते है जैसे भ्रमर पके हुए श्रीफल के बाहर-बाहर चक्कर काटता रहता है और उसके रस का पान नही कर पाता।

आगम-बेअ-पुराणे पण्डिआ माण वहन्ति।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम बाहेरिअ भमन्ति॥

अतिशयोक्ति :

किसी राजा के यश वर्णन तथा नायिकाओं के विरह के ऊहात्मक वर्णनो में अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है। कवि कहता है कि हे पृथ्वी तिलक तुम्हारा भुजबल उद्‌भृत है। तुम्हारे चक्षु क्षेपण मात्र से शत्रु वीर का हृदय विघटित हो जाता है। तुम्हारा चरित्र नरसिंह के चरित का उल्लंघन कर जाता है।[२] यहाँ पर स्तुत्य वीर को नरसिंह से भी श्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि नरसिंह ने अपने नखों का प्रयोग करके शत्रु हिरण्यकश्यप का हृदय-विदीर्ण किया था किन्तु यह उद्‌भट वीर दृष्टि-क्षेपण मात्र से शत्रुओ का हृदय विदीर्ण कर देता है। यह अतिशयोक्ति स्वाभाविक तथा सटीक है। अत्यधिक रोष युक्त आरक्त तथा दीर्घायित नेत्रों को देखने मात्र से सशंकित शत्रु का हृदय दहल जाता है। कही-कहीं साम्यमूलक तथा विरोध मूलक तत्वो को

---

१. जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धे अन्ध कढ़ावइ तिम वेण्ण वि कूव पडेइ॥८॥

बागची : चर्यागीत कोष, पृ० १८६

२. अज्छउ ता उब्भडभुअबलु चक्खुक्खेविण विहडयंतु रिउ भडहिअउ।
सुरनरसीह विक्कंत चरिउ लंघेविणु किउ रेहइ पुहईसर॥

हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ७।३९।१

मिला जुलाकर अतिशयोक्ति की गयी है। उसमें से यदि अलंकारिकता का परिहार कर दिया जाय तो युक्ति बिलकुल सत्य निकलती है। कीर्ति को अद्‌भुत गंगा का रूपक दिया गया। फिर कीर्ति गंगा तथा सामान्य गंगा मे विरोध दर्शाया गया है। गंगा-पर्वत से उतरती है और सागर मे विलीन हो जाती है। परन्तु कीर्ति गंगा पर्वतों पर आरोहित होती है तथा सागर का उल्लंघन कर जाती है।[1] इस कथन मे रूपक अलंकार, कवि समय दोनो के आधार पर अतिशयोक्ति की गयी। परन्तु जब मात्र कीर्ति पर विचार किया जाय तो उसमे पर्वत तथा समुद्र दोनो को लाघकर विस्तृत होने की शक्ति है। कवि द्वारा प्रयुक्त अलंकार बहुत अधिक चमत्कारिक न होता हुआ भी सुन्दर बन पड़ा है। शृङ्गारी मुक्तको मे ऊहात्मक स्थल अति-काल्पनिक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण है। तप्त वाष्पौघ जल कपोल पर ही छिम-छिम करके फिर सिम-करके सूख जाते हैं। प्रिय के आगमन पर चूड़ियों का टूट जाना, आदि अतिशयता पर ही आधारित चित्रण है।[2]

अन्योक्ति :

प्रेम भावों को व्यंजित करने के लिए प्रस्तुत के चित्रण द्वारा अप्रस्तुत भावों को दर्शाया गया है। कभी-कभी नायक या नायिका की काम चेष्टाओ को या प्रेम के विलास के आमन्त्रण को श्रेष्ठ जनों के बीच सीधे व्यक्त नही किया जाता। इसके लिए अन्योक्ति का सहारा लिया जाता है। एक मित्र दूसरे को संबोधित करके भ्रमर की चेष्टाओं का चित्रण करता है किन्तु उसकी सारी चेष्टाएँ एक नायक की चेष्टाओं से मिलती जुलती है जिससे रसिक जनो की विलास लीला का चित्र प्रस्तुत होता है। इससे दूसरे मित्र को जो किसी कारणवश विरक्त हो रहा है या नायिका से रुष्ट है विलास तथा काम-क्रीडा में संलग्न होने के लिए प्रोत्साहन भी मिलता है—मित्र देखो, भ्रमर मद्यप की तरह मस्त होकर निरीक्षण करता है, ध्वनि करता है, परिरंभण

---

१. लंघइ सायर गिरि आरुहइ तुह अहंग।
   ससि सेहर हसि उज्जल नउरवी कित्तिगंग ॥

हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ६।२०·६।

२. तं तेत्तिउ वाहोहजलु, सिहिणंतरि वि न पत्तु।
   छिमिछिमिवि गंडत्थलिहिं, सिमिसिमिवि समत्तु ॥

हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन वही ६।२२ ४

करता है, चुम्बन करता है। चम्पक के कुसुमावत मे निमग्न होकर मोहित हो जाता है—

निअइ, झुणइ परिरंभइ चुंबइ महुसुंडउ।
अलि मुज्झइ, चंपइ कुसुमावलि निबुड्डउ॥

एक दूसरा चित्र सामान्य कथन के रूप में चित्रित हुआ है पर इससे एक अप्रस्तुत तथ्य भी उद्घाटित होता है।

कुसुमंतरि, नवि लग्गइ अली अवलिहियइ।
आसत्तउ, माइलहिं बहल मयरंदिअहि॥[1]

इस छन्द मे बहुत मकरंदों वाली मालती से रूप-गुण संपन्न नायिका की ओर सकेत है तथा अन्य कुसुम अन्य नायिकाओं के लिए प्रयुक्त है। भ्रमर नायक है।

मानवीकरण :

अपभ्रंश के कवियों ने प्रकृति पर मानवीय भावो का आरोप किया है। शरत्, वसंत पावस आदि ऋतुओ को लक्ष्मी रूप मे कल्पित किया गया है।

विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग सिद्धो की उलटवांसियो तथा कुछ अन्य स्थलो पर हुआ है जैसे—

बद्धो धावइ दहदिहहिं मुक्को णिच्चल ठाइ।
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ महु पड़िहाइ॥४३॥[2]

हिन्दी मुक्तकों की अलंकार-योजना :

काव्य को प्रभावशाली तथा मार्मिक तथा सौन्दर्ययुक्त बनाने के लिए प्राचीनकाल से ही कवियो ने ध्यान दिया। हिन्दी के भक्तिपरक मुक्तको तथा रीति-मुक्तकों मे अलंकार योजना का अलग-अलग आदर्श मिलता है। अपभ्रश के मुक्तको मे भी यह अंतर स्पष्ट है। उपमा, रूपक, दृष्टांत, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति अपह्नुति आदि अलङ्कारो का प्रयोग संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सभी भाषाओ के काव्यो में मिलता है। प्रश्न उठता है कि भाव तथा प्रवृत्तियो से प्रभाव ग्रहण करनेवाले या अपभ्रंश की कुछ नवीन साहित्यिक परम्पराओ

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६।१६.८।

२ प्रबोधचन्द्र बागची चर्यागीत कोष पृ० १६१।

को विकसित करनेवाले हिन्दी मुक्तककारों ने अभिव्यक्ति के स्तर पर अलङ्करण को किस आदर्श तथा स्तर से ग्रहण किया।

अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तकों में उपदेशात्मकता तथा खण्डन मण्डन की विशेष प्रवृत्ति थी। अतः उनमें उपमा, दृष्टांत तथा रूपक का अधिक प्रयोग किया गया। उन्हे सदैव इस बात पर ध्यान देना पड़ता था कि कहीं उनकी वाणी अलङ्कारो के प्रयोग से अस्पष्ट न हो जाय। इसीलिए उनके काव्य में अलङ्कारो का प्रयोग स्वाभाविक तथा अनायास हुआ है। रहस्यवादी तथा आत्मानुभव से संबंधित मुक्तक इसके अपवाद है जिनमें भावाभिव्यक्ति के लिए कवियों को उदात्त तथा शक्तिशाली भाषा की रचना के लिए प्रतीको तथा रूपको का प्रयोग करना पडा। कुछ सिद्धो तथा संतो की यह मान्यता थी कि अनाधिकारी व्यक्तियो को उनके सिद्धान्तों तथा गूढ नियमो से परिचित होने की आवश्यकता नही है। इसलिए उन्होने कुछ ऐसे प्रतीकों का सृजन किया जिनका अर्थ जाने बिना कथ्य को नहीं समझा जा सकता। ऐसे स्थलो पर दुरूह रूपक बाँधे गये है जो सामान्य लोक व्यवहार से मेल न खाने के कारण उलटवांसी से लगते हैं। सूर, कबीर, तुलसी, दादू आदि ने जहाँ सामान्य जनो की चेतावनी तथा उपदेश देना चाहा है वहाँ दृष्टांतो तथा उपमाओं का खूब प्रयोग किया है।

(२) मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै।[1]

भक्तो ने उपमा, रूपक का प्रचुर प्रयोग किया। धरनीदास कामिनी की उपमा दामिनी से और 'दाम' की उपमा फाँसी से देते हैं—

दामिनी ऐसी कामिनी, फाँसी ऐसो दाम।
धरनी दुई ते बाचिये, कृपा करै जो राम॥[2]

तुलसीदास मनुष्य की उपमा सूकर, स्वान से देते है जो भगवान् का भजन नहीं करते—

सूकर स्वान सृगाल सरिस जन,
जनमत जगत जननि-दुख लागी॥[3]

कबीर काव्य में रूपकों का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है—

---

१. स० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार।
२. धरनीदास जी : संतबानी संग्रह, पृ० १६६।
३. वियोगी हरि : विनयपत्रिका, पृ० २११।

अतः हम देखते है कि भक्तिकाव्य मे औपम्यमूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश मुक्तकों की अलकार-योजना के समान ही है। देह के लिए देवालय, ईश्वर से वियुक्त आत्मा के लिए मीन, संसार के लिए समुद्र, भव-जल, संसार मे लीन व्यक्ति के लिए कूकर शूकर, असत्य-आभास के लिए नभ-नीर, रविकर नीर, मृग वारि, जेवरी का साँप आदि अप्रस्तुत अपभ्रंश और हिन्दी के भक्तिपरक मुक्तको मे विशेष रूप से अपनाये गये है। सिद्धो की प्रतीक योजना पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि इनमे से अनेक प्रतीक तथा उपमान परंपरा से प्रचलित रहे है। तुलसीदास के कुछ मुक्तक पदो को उद्धृत करके अधिकांश उपमानो को प्रदर्शित किया जा सकता है—

जागु जागु जीव जड़ जोहे जग जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन दामिनी॥
सोवत सपनेहुँ सहे संसृति संताप रे।
बूड़यो मृग-वारि, खायो जेवरी को सापरे॥[1]

लता तथा बेलि का रूपक सन्तों में काया के अर्थ मे अधिक प्रयुक्त हुआ। कबीर ने इस काया बेली के साथ अनेक विरोधी भावों का वर्णन करके अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न किया है। इसके माध्यम से कहीं-कही उन्होने उलटवासी ही रच दी है—

कबीर आंगणि बेलि अकासि फल अणव्यावर का दूध।
ससा सींग की धुनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत॥४॥[2]

लगता है यहाँ बेली का प्रयोग कुंडलिनी के लिए हुआ है। यह बेली शरीर के निचले चक्रों में है किन्तु इसका फल आकाश ब्रह्मरन्ध्र में है। यह फल उसी प्रकार का है जैसा अनव्याई गाय का दूध शशक-शृंग का धनुष और बंध्यापुत्र का रमण करना होता है। अर्थात् इसका अस्तित्व अशरीरी होता है। महयंदिण मुनि ने 'वेलडी' का प्रयोग माया के लिए किया है। देह के लिए देवल का रूपक निम्नलिखित दोहे मे प्रयुक्त हुआ—

कबीर देवल ढहि पड़्या, ईंट भई संवार।
करे चेजारा सौं प्रीतिड़ी, ज्यूं ढहै न दूजी वार॥[3]

---

१. वियोगी हरि : विनयपत्रिका, पृ० ११३।
२ डॉ० गुप्त कबीर ग्रंथावली, बेली को अंग, पृ० १३८
३ वही चितावणी को अंग, पृ० ४१।

आत्मा के लिए प्रिया तथा परमात्मा के लिए प्रियतम का रूपक रामसिंह के एक दोहे मे प्रयुक्त हुआ है। कबीर के काव्य मे आत्मा रूपी प्रिया तथा परमात्मा रूपी प्रिय का सयोग-वियोग बडे विस्तार से वर्णित किया गया है।[1]

सिद्धों तथा सन्तों में रूपक साम्य

सिद्धो तथा सन्तो द्वारा प्रयुक्त रूपकों मे पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। कुछ उदाहरणो के माध्यम से इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है—

(१) **रुई धुनने का रूपक**—इस रूपक का प्रयोग सिद्ध शान्तिपा ने किया है। कबीर जुलाहा थे अतः उन्होंने इस रूपक की नियोजना बड़े विस्तार से की है। कबीर के अलावा अन्य सन्तो ने भी इस रूपक को प्रयुक्त किया है जैसे—

> **धुन धुन डालूँ अब मन को।**
> **मैं धुनिया सतगुरु चरनन को॥**
> **मन कपास सुरत कर रुई।**
> **काम बिनौले डाले खोई॥**
> **हुई साफ धुनकी सुधि पाई।**
> **नाम धुना ले गगन चढ़ाई॥**[2]

(२) **विवाह का रूपक**—इस रूपक का प्रयोग काण्हपा ने चर्या १६ में किया है। कबीर ने भी विवाह का रूपक ग्रहण किया परन्तु उसमें पर्याप्त परिवर्तन मिलता है। काण्हपा ने भव को पटह, निर्वाण को मादल, मन-पवन को ताल देनेवाले (बाराती) डोम्बी को वधू माना है। कबीर ने पाँच तत्त्व को बाराती राम को वर, आत्मा को वधू, इन्द्रियों को गायिका माना है।[3]

(३) **वीणा का रूपक**—वीणापा ने चर्या १७ में वीणा के रूपक का प्रयोग किया है जिसमें सूर्य तूबी, अवधूती दंडिका, चन्द्र तार, सारिका आली काली, करुणा तथा उपाय ध्वनि है। चर्या २५ मे भी तन्त्री का रूपक ग्रहण किया गया है। कबीर ने भी यंत्री (जंती) का रूपक ग्रहण किया किन्तु उसमे काफी परिवर्तन कर दिया—

---

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, विरह कौ अंग, दो० ३४, पृ० १८।

२. शिवदयाल : संतकाव्य, पृ० ५४६।

३. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० १४७।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै ।
ताका सबद गगन मैं गाजै ॥
सुर की नाति सुरति का तूबा, सतगुर साज बनाया आदि ॥[1]

(४) शुंडिनी (मद-निर्माण) का रूपक—इसका प्रयोग चर्या ३ मे किया गया है। इसमे परिशुद्धा अवधूती को कलाली, ललना रसना को दो घर, सम्वृति चित्त को वल्कल चूर्ण, शुक्र नाडी को नली माना है। कबीर इस रूपक का प्रयोग कुछ परिवर्तन के साथ करते है—

काया कलाली लाहनि करि हूँ, गुरु सबद गुड़ कीन्हां ।
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अग्नि परजारी । आदि ।[2]

(५) सुमेरु का रूपक—शबरपा ने मेरु पर्वत का रूपक मेरुदण्ड के लिए प्रयुक्त किया है। इसी पर्वत की शिखा पर शबरी बाला निवास करती है। आगे आनेवाले संतों मे यह रूपक बराबर चलता रहा—

१—दादू मेर सिखर चढ़ि बोलि मन मोरा ।
राम जल बरिसै सबद सुनि तोरा ॥[3]

२—कबीर तूं मेरो मेरु परबतु सुआमी ओट गही मै तोरी ।
न तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनो हरि मेरी ॥[4]

(६) ताला-कुंजी का रूपक—काण्हपा ने पवन-निरोध द्वारों पर ताला लगाने के लिए कहा है—

यह रूपक नाथपंथियो से होता हुआ सन्तों तक चला आया। नाथो ने तो इसे कुम्भक खेचरी मुद्रा शब्द-योग आदि कई प्रसंगों में प्रयुक्त किया। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

१—ताला कुंजी गहि लागि केवारा । चोर न मुसै ज्ञान रखवारा ।[5]
२—दादू देव दयाल की गुरु दिखाई बाट ।
ताली कुंजी लाइ के खोलै सबै कपाट ॥[6]

---

१. वही, पृ० २६३ ।
२. सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० २३४ ।
३. दादू दयाल की बानी २, पृ० १३९ ।
४. संत कबीर, पृ० १७८ ।
५. दरिया सागर पृ० १५ ।
६. दादू दयाल की बानी १ पृ० १

संतो मे ताला-कुंजी के रूपक का प्रयोग अधिकतर त्रिकुटी मे कुम्भक द्वारा ध्यान केन्द्रित करने के अर्थ मे है। घोडा और चोर के रूपक भी सिद्धो और सन्तो मे समान रूप से प्रयुक्त है।

उलटवासी

विरोधमूलक प्रतीको की योजना से सिद्धो के कुछ कथन उलटवासी प्रतीत होते हैं। संत साहित्य मे इस तरह की उलटवासियो का पर्याप्त विस्तार हुआ है। कुछ उलटवांसी तो सिद्धो के बिलकुल समान ही है—

> बलद बिआअल गविआ बांझे।
> पिटा दुहिअइ ए तिणा सांझे ॥२॥ ध्रु ॥[1] (ढेण्ढपाद)
> बैल बियाइ गाइ भई बांझ।
> बछरा दूझे तीन्यूं सांझ ॥[2] (कबीर)

रीति-मुक्तको में अलंकार-योजना :

हिन्दी का रीतिकाव्य कला-प्रधान काव्य है अत: उसमे भाषा को सयत्न अलंकृत करने का प्रयत्न किया गया है। अपभ्रंश मुक्तककारों की तरह ही रीति कवियों ने परम्परित उपमानों के प्रयोग में मौलिक चमत्कार प्रदर्शित किया। कुछ चित्रो की तुलना की जा सकती है। मुख के लिए चन्द्रमा का उपमान परम्परित है। अपभ्रंश की विरहिणी नायिका दर्पण मे अपना मुख इसलिए नही देखती कि उसे चन्द्रमा भयभीत करता। उसका मुख भी चन्द्रमा है इसलिए उसे भी देखने मे भयभीत होती।[3] यहा कवि उक्ति वैचित्र्य के माध्यम से मुख और चन्द्रमा की समता की प्रतीति को और दृढ़ कर देना है। बिहारी ने भी इसी उपमान से ऐसी ही प्रतीति जागृत करनी चाही है—

> पत्रा हीं तिथि पाइये, वा घर कैं चहुँ पास।
> नित प्रति पून्योई रहै, आनन ओप उजास ॥[3]

कवि गंग ने भी इसी तरह का चमत्कार दिखाया है। चन्द्रमुखी और चन्द्रमा दोनों को देखकर राहु निश्चय ही नहीं कर पाया कि किसे ग्रसित किया जाय।

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीत-कोष, चर्या ३३, पृ० १०८।

२ मा० प्र० गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० १६३।

३. बिहारी-रत्नाकर : पृ० ३६

अन्त में उसे पाश्चाताप करते हुए लौट जाना पड़ा ।[1] उपमानो को उपमेय से हीन दिखाने के लिए व्यतिरेक अलंकार का सहारा लिया गया । परन्तु उसमे भी कवि उक्ति-वैचित्र्य से ही काम लेता है । अपभ्रंश का कवि चन्द्रमा को छीलकर नायिका के मुख के समान बनाना चाहता है । हिन्दी में मतिराम की नायिका का मुख-सौन्दर्य चन्द्रमा के द्वारा चुरा लिया गया । ब्रह्मा ने नाराज होकर चन्द्रमा के मुख मे कालिख पोत दिया और उसे राती दिन अमरालय के चारो घूमने का दण्ड दे दिया ।[2] अपभ्रंश का कर्णिकार वय शोभा से हार-कर वनवास कर लिया और रीतिकाव्य मे उपमान-चन्द्रमा नायिका के मुख सौन्दर्य को देखकर घिस घिसकर अपना शिर ही काला कर डाला ।

अपभ्रंश का कवि चन्द्रमा को छीलना चाहता था कवि भंजन ने उसे छील ही दिया । उसी से चन्द्रमा की छाती मे छेद हो गया जो कलंक रूप में दिखाई देता है—

भंजन जू मेरे जान चन्द्रमा को छीलि विधि
प्यारी को बनायो मुख शोभा के विलास की ।
ताद्दिन ते छाती छेद भयो है छपाकर के
वार पार दीखत है नीलिमा अकास को ।।[3]

नेत्रों के लिए मृग, कमल, मछली, खजन, चकोर आदि परम्परित उपमानो का प्रयोग अपभ्रंश तथा हिन्दी दोनो मे मिलता है किन्तु रीति कवियो ने चीता, कुही पक्षी, तरंग, मतंग, बटोही, किबलनुमा, रहट की घरिया आदि नवीन उपमानो का समावेश किया । अपभ्रंश मे कटाक्ष के लिए चमत्कारिक उपमानो का जैसे सर, बर्छी आदि को ग्रहण किया गया है, रीति कवियो ने चितवन की तीक्ष्णता तथा हृदय को घायल करने की क्षमता को दर्शित करने के लिए ऐसे ही उपमानों का आश्रय लिया—

तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान ।
चल चित वेझौ चुकति नहिं बंक विलोकनि बान ।।
लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यों न होंहि बेहाल ।
कढ़तु जिहियहि, दुसाल करि, तऊ रहत नटसाल ।।[4]

---

१. बटेकृष्ण : गग कवित्त, छंद १६, पृ० १५ ।
२. कृष्ण बिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली, छं० ९९, पृ० १०६ ।
३ सं० द्विज श्रृगार सुधाकर छ० १४५ पृ० ३७
४ बिहारी बोधिनी दो० ७६ पृ० ३९

कटि की कृशता के लिए उक्ति वैचित्र्य द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म उपमानो को चुना गया। अपभ्रंश में कटि के लिए भिड की कमर की उपमा दी गयी तो रीति कवि उसे और भी सूक्ष्म बताया जैसे भूमि और अम्बर के बीच कोई खम्भ नही है वैसे लोल लोचनी के अंक मे कमर नही है।[1]

रीति काव्य मे विरोधमूलक अलंकारो का भी प्रयोग मिलता—

१— या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहि कोइ।
ज्यो ज्यो बूडै, स्याम रंग, त्यों त्यों उज्जलु होइ॥

विरह-वर्णन के संदर्भ मे नायिका या नायक के विरह वर्णन मे अपभ्रंश की तरह ही हिन्दी मे भी अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है। जैसे—

धार गयो चटकि पटक नारियर गयो,
मुद्रा औटि चांदी भइ बिरह की आंच तें॥[2]

अपभ्रंश के एक छन्द के प्रभाव को बिहारी ने किस प्रकार ग्रहण किया है—

विरहानल जाल करालिअउपहिउ कोवि बुड्डिविठिअउ।
अनु सिसिर कालि सीअल जलहु धूमु कहन्तिहुउट्ठिअउ॥[3]

बिहारी का दोहा इस प्रकार है—

सुनत पथिक मुंह माह निस लुवें चलत वहि गाम।
बिन बूझे बिनही कहे जियत बिचारी बाम॥[4]

दोनों उक्तियां अतिशयता पर आधारित हैं। "संदेशरासक" के एक छन्द का प्रभाव रीति कवि सुन्दर के छन्द पर देखा जा सकता है—

सुन्नारहु जिम मह हियउ पिय उक्किंख करेइ।
बिरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ॥

सुन्दर ने सुनार की जगह लोहार का प्रयोग किया है। अब्दुल रहमान ने आसाजल का प्रयोग किया है सुन्दर ने दृग नीर का। सुन्दर का छन्द इस तरह है—

---

१. सं० नकछेद तिवारी : मनोज मंजरी, छं० २३, पृ० ७।
२. सं० मन्नालाल द्विज : शृंगार सुधाकर, छं० २३०, पृ० २३४।
३. हेमचन्द्र : प्राकृत व्याकरण, ४।४१५
४. बिहारीबोधिनी. दो० ४६८।

कबहूँ बिरहागिन में तचवें कबहूँ दृग नीर मे बोरि दयो।
पिय के बिछुरे हियरा इहि काम लोहार के हाथ को लोह किये ॥[1]

अप्रस्तुत योजना :

अलंकार का प्रयोग-रस-भाव व्यंजक ही है कही भी अलंकरण के द्वारा अभिव्यक्ति मे उलझन नहीं पड़ती है। मुक्तककारो ने अलङ्करण के लिए परंपरित उपमानो को प्रयुक्त करके काव्य परम्परा से अपना संबंध अविच्छिन्न रखा तथा कुछ मौलिक उपमानों के द्वारा काव्य को अधिक प्राजल, मनोहर तथा उत्कृष्ट बनाया। यद्यपि 'काव्य परम्परा मे प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान उपमान रूप में अभिहित होता है और इन उपमानो का ग्रहण प्रायः रूप, धर्म और प्रभाव साम्य पर है।[2] तो भी उपमान के स्थान पर यहाँ अप्रस्तुत विधान अधिक विस्तृत शब्द जान पड़ता है जिसमें उपमा पर विशेष बल नही पड़ता या कुछ प्रचलित उपमानो का बिंब नही आता। अप्रस्तुत विधान को काव्य के अन्तर्गत शिल्प-विधान की एक प्रक्रिया के रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

सादृश्यमूलक :

अप्रस्तुत विधान में कवि की दृष्टि सौन्दर्यानुभूति के बाह्य स्तर पर रहती है। वह रूप सौन्दर्य का चित्रांकन करने के लिए परम्परा तथा मौलिकता से अनेक सादृश्य मूलक अप्रस्तुतों या उपमानों को चुनकर प्रयोग करता है। अपभ्रंश मुक्तको मे परम्परा और मौलिकता का मणिकाचन संयोग मिलता है। मुख के लिए चन्द्रमा, कमल हाथ के लिए अशोक दल, बाहु के लिए दोहरा कमलनाल, पद के लिए पंकज, कुचों के लिए घट, आँख के लिए कमल, मीन, खजन, मृगनेत्र आदि परंपरित उपमान है जिनका प्रयोग अपभ्रंश कवियो ने किया है। परन्तु इन परंपरित अप्रस्तुतो को उक्ति-वैचित्र्य के रूप मे चित्रित करके इन कवियो ने अपनी अभिव्यक्ति मे रमणीयता तथा रोचकता ला दी है। नायिका के स्वरो के लिए कोयल का स्वर अप्रस्तुत रूप मे ग्रहण किया जाता है। विरहिणी नायिका कोयल के पचम स्वर से भयभीत होकर कलहंस स्वरों में बोलती है। कवि उसे कलहंस स्वरो वाली कहकर भी यह व्यंजित

१. सुन्दर शृंगार, छ० १३, पृ० ७६।
२. डॉ० किशोरीलाल : रीति कवियो की मौलिक देन, पृ० ५११।

करना चाहता है कि कलकण्ठी नायिका अपनी ध्वनि से भी भयभीत है। वह दर्पण मे मुख इसलिए नही देखती कि मुख चन्द्रमा के समान भयोत्पादक हो गया है उसके अपने ही नेत्र कुसुम सर की तरह त्रस्त करते है—

> परहुअपंचसवण सभय मन्नउं सकिर
> तिभणि भणइ न किंपि मुद्ध कलहंसगिर।
> चन्दु न दिक्खण सक्कइ जं सा सम्बिर्यणि
> दापणि मुहु न पलोअइ तिभणि भयनर्यणि।[1]

कही-कही परम्परा के प्रति व्यर्थ का मोह होने के कारण सौन्दर्योन्मेष मे बाधा पहुँची है जैसे नायिका की कमर की उपमा भिड से देना।[2] कुछ उपमानो को मौलिकता से रंजित करके बिलकुल नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। धन्या के चंचल नेत्र मत्स्यपताका की तरह दिखाई दे रहे हैं। इससे लगता है स्तन प्रदेश पर मदन का निवास है। इस उक्ति मे चंचल नेत्रों के सुपरिचित उपमान मत्स्य को मत्स्यपताका के रूप मे वर्णित करके उसके आधार पर स्तन पर मदन के निवास की कल्पना अत्यधिक मार्मिक तथा प्रभविष्णु है। मत्स्यपताका को यदि संस्कृत शब्दावली मे बदल दिया जाय तो 'मकरध्वज' बनता है। मकरध्वज कामदेव का ही पर्याय है। (अर्थात् मकर : ध्वज : यस्य स : मकरध्वजः) संस्कृत के इस शब्द को अपभ्रंश 'झसझय' रूप से प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द एक तरफ मत्स्यपताका के सामान्य अर्थ को द्योतित करता है तथा दूसरी तरफ इसमे परंपरित मकरध्वज शब्द का मर्म भी अन्तर्निहित है। इस तरह का प्रयोग कवि की काव्य-चातुरी का ही परिणाम है। संदेशरासक के कवि ने कटि की तुच्छता को मर्त्य सुख से और स्तनों की दुर्जन और सज्जन से उपमा दी है जो नितान्त मौलिक है।

साधर्म्यमूलक अप्रस्तुत योजना :

सादृश्यमूलक उपमानों के चुनाव मे कवि रूपाकार पर ही अधिक ध्यान देता है परन्तु साधर्म्यमूलक उपमान मे गुणो पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसकी सौन्दर्य दृष्टि अपेक्षाकृत और अधिक गहराई मे प्रविष्ट होती है। मृदु मलयसमीर नायिका के अंग पर विषकंदली के समान लगते हैं, अभिनवपल्लव,

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ४।८।७।४।

२. सदेशरासक २।१, पृ० १५२।

कलकंठी की ध्वनि सभी तो विष धर्मी हो गये है।[1] साधर्म्यमूलक अलङ्कार का एक उत्कृष्ट उदाहरण 'संदेशरासक' से उद्धृत है—

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किल करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ।[2]

सुनार की तरह मेरा हृदय पहले प्रिय की उत्कंठा उत्पन्न करता है फिर विरह की अग्नि मे जलाकर आशा के जल से सींचता है।

प्रभाव-साम्यमूलक अप्रस्तुत :

साम्यमूलक उपमानों का अन्वेषण नेत्रों की सहायता से किया जाता है किन्तु प्रभावसाम्य मूलक उपमान ढूंढने में हार्दिक सचेष्टता आवश्यक होती है। सच्चे कवि की सफलता इसी प्रकार के उपमानों की योजना में है। पथिक ने जब यह बताया कि वह खम्भात जा रहा है तो नायिका का विरह एकाएक उद्दीप्त हो उठता है क्योंकि उसका पति वहीं गया है। कवि नायिका की मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए जिस अप्रस्तुत की नियोजना करता है वह कवित्व की दृष्टि से सशक्त तथा प्रभाव साम्य पर आधारित है—

एय वयण आयन्निवि सिंधुब्भवयणि
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलुब्भवनयणि।
तोड़ि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरिय चिरु॥[3]

वह चन्द्रमुखी, कमलाक्षी मुग्धा से वचन सुनकर दीर्घोष्ण श्वास लेती हुई हाथ की उँगलियाँ तोड़कर गद्गद् शब्द करती हुई वायु प्रताडित कदली की भाँति देर तक थरहराती रही। उछ्वास तथा सभ्रंम से उसका गला रुँध गया। रोती हुई मुखवाली, कामदेव की बाणो से प्रतिभिन्न प्रिय के संयोगकालीन सुखों का स्मरण करती हुई उस विरहिणी ने किंचित तिरछी चचल आँखो से

---

१. मिउमलय समीरणु अंगहि अहिणवपल्लव दिट्ठिहि कलयंठीरुउ कण्णिहिं।
विसकंदलिसन्निह मुद्धह दूसह खणि खणि पाणंतिह मुच्छाभरु अप्पहिं॥
हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ७।५३·१, पृ० २२५।

२. स० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : सन्देशरासक, २।१०८, पृ० १७१।

३. वही २।६६. पृ० १६२।

गनती गनिबे ते रहे छतहूँ अछत समान ।
अब अलि ये तिथि औम लौं परै रहौ तन प्रान ।[1]

प्रभाव-साम्यमूलक :

रीति काव्य मे प्रभाव-साम्य के आधार पर अप्रस्तुतओ की नियोजना बडी सूक्ष्म है। बिहारी की गोपी का कृष्ण, के प्रति जो मानसिक लगाव था वह पानी मे घुले लवण की तरह अविभाज्य है—

कीनेहू कोटिक जतन अब कहि काढ़ै कौन ।
भो मनमोहन रूप मिलि पानी में को लोन ।।[2]
जिम लोण बिलिज्जइ पाणिएहिं तिम धरिणि लइचित्त ।
सम्मरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित ।।[3]

प्रतीक योजना :

अपभ्रंश मुक्तकों मे अधिकतर रूढ उपमानो या नवीन उपमानो को अप्रस्तुत रूप में अधिकतर उपमेय उपमान दोनो की उपस्थिति के साथ प्रयोग किया गया है। प्रतीक-योजना की दृष्टि से सिद्धों द्वारा रचित मुक्तक ही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। उनके यहाँ सिद्धों द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों में कोई नियम या एकरूपता नहीं है। अधिकतर प्रतीकों को किसी न किसी सादृश्य के आधार पर ही ग्रहण किया गया है। यह सादृश्य बाह्य रूप से सर्वत्र स्पष्ट नही है।

विभिन्न जाति की नारियों के प्रतीक :

सिद्धो ने अनेक जाति के स्त्रियों को प्रतीक रूप मे ग्रहण किया है। नारी को प्रतीक रूप में ग्रहण करने में उनकी मुद्रा, मैथुन की मान्यता प्रतिबिम्बित होती है। सिद्ध शबर ने शबरी को नैरात्मा का प्रतीक माना। चूँकि नैरात्मा सहस्रार चक्र के मेरुशिखर पर स्थित है और शबरी जाति की स्त्रिया भी विन्ध्य के शिखरों पर रहती है। शबरपाद त्रिधातु की पलंग, या महासुख की शय्या पर उस शबरी बाला को पकड़कर रमण करना चाहते हैं।[4]

---

१. बिहारी-बोधिनी, दो० ५३१।
२. बिहारी-बोधिनी, दो० १७७।
३. संपा० प्रबोध चन्द्र बागची - चर्यागीति कोष, दोहा ३२, पृ० १६६।
४. ऊँचा ऊँचा पावत तहि वसइ सबरी बाली।
मोरगि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुञ्जरी माली ।।१।।
+ + +
तिय धाउ खाट पडिला सवरो महासुखे सेजि छाइली।
सवरो भुजङ्ग नैरामिण दारी पेम्ह राति पोहाइली ।।३।।
बागची : चर्यागीति कोष, पृ० ६२

योगिनी :

योगी नाम की एक जाति होती है जिसकी स्त्री योगिनी है। सिद्ध योगी (योग सम्बन्धी) प्रज्ञा को योगिनी भी कहता है ताकि उससे अधिक से अधिक निकटता स्थापित कर सके।[1]

डोम्बी :

डोम्बीपा ने अपनी एक चर्या मे गंगा-यमुना के बीच से पार कराने वाली अवधूतिका नाडी के लिए डोम्बी प्रतीक का विधान किया है। एक अन्य चर्या मे काण्हपा ने डोम्बी को परिशुद्धावधूती के प्रतीक रूप मे ग्रहण करके कई प्रतीको को एक साथ प्रयुक्त किया।[2] डोम्बी (डोमिनी) भी अछूत तथा निम्न जाति की स्त्री है जिसे अस्पृश्यता के कारण नगर या बस्ती के बाहर बसने दिया जाता है। ब्राह्मण के लडके उसका स्पर्श बिलकुल नहीं करते। इसी सामाजिक तथ्य को प्रतीकार्थ रूप मे ग्रहण किया गया है। ब्राह्मण लड़का ऐसे योगियों का प्रतीक है जो अबोध होने के कारण परिशुद्धा अवधूती का स्पर्श करने मे असमर्थ है। काण्हपा कापालिक है अतः वह इस नैरात्म योगिनी को छू सकता है।[3]

मातंगी :

प्रमत्त मातंगी का भी प्रयोग डोम्बी नैरात्मा के लिए हुआ है। गगा-यमुना या ललना रसना नाडियो को छोड़कर अवधूती (मातंगी) को ग्रहण करना ही महामुद्रा की सिद्धि है।

चंडाली :

भुसुक स्वयं बगाली बनकर वायु रूप अपरिशुद्धा अवधूती को ग्रहण करते हैं—

---

१. संपा० प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, ध्रुवपद, पृ० १२।

२. गंगा-जउना माझे रे वाहइ नाइ।
   तहि बुड़िली मातङ्गीपोइआ लीले पार करेइ ॥
   बागची : चर्या० १४, पृ० ४७।

३. वही : चर्या० १०, पृ० ३२।

आजि भुसु (कु) बंगाली भइली।
णिअ घरिणी चण्डाली लेली ॥[१]

परम्परा से गृहीत प्रतीक :

सिद्धो ने बहुत से ऐसे प्रतीकों को ग्रहण किया है जो अनेक दार्शनिक मतों मे प्रचलित थे। विज्ञानवादी ग्रथो मे जिन अप्रस्तुतो तथा उपमानो के द्वारा तथता तथा विज्ञप्ति मात्रता का सिद्धान्त समझाया गया है उनमें से बहुत से अप्रस्तुत ज्यों का त्यो सिद्धों के साहित्य मे मिलते हैं[२] उदाहरण के तौर पर भुसुकपा द्वारा प्रयुक्त मरु मरीचिका, गन्धर्व नगरी, रज्जु में सर्प, दर्पण मे प्रतिबिंब, वन्ध्यापुत्र, बालुका का तेल आदि लिये जा सकते है। विज्ञानवादी चिन्तन के खण्डन में शंकराचार्य ने ऐसे उपमानो का इस्तेमाल किया है। दर्शन के अन्य सम्प्रदायों मे संसार तथा माया को निर्दशित करने के लिए ऐसे ही उपमान प्रयुक्त हुए हैं। कुछ प्रतीक योगाचार की 'ज्ञाण' साधना से प्राप्त किये गये हैं। डॉ० धर्मवीर भारती ने इन प्रतीकों के स्रोत का बड़ा विशद तथा खोजपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।

पारिवारिक तथा सामाजिक प्रतीक :

शब्दों की समता के आधार पर कुछ पारिवारिक क्षेत्र से प्रतीको को चुना गया जैसे सास, बहू, पडोसी, अतिथि (आवेशी) हाड़ी आदि। इसमे श्वास तथा सास और अवधू और बधू मे शाब्दिक साम्य भी है।

पशु तथा अन्य जीव-जन्तु से सम्बन्धित प्रतीक :

चूहा, वलद, गयंद, गाय, हरिणी, पिटा, मेढ़क, सर्प आदि इस तरह के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों को धर्म-साम्य के आधार पर चुना गया है। वैसे सामान्य रूप से यह धर्म साम्यता परिलक्षित नहीं होती। अँधेरी रात का चूहा भव मे लीन बद्ध अज्ञानी चित्त के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है। चूहा आधी रात के समय घर मे विहार करता है और खाद्य-वस्तुओं को खाता तथा नष्ट करता है। चूहे को गृह-स्वामी पकड़ पाता है तो मार डालता है। वैसे उसका पकड़ पाना आसान नहीं होता। बद्ध चित्त भी अज्ञानान्धकार मे विचरण करता रहता है तथा रूपादि विषयों मे आसक्त होकर उनका भोग करके अमृत

---

१. प्रबोध चन्द्र बागची : चर्यागीति, पृ० ४६।

२. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य- पृ० २७१।

तत्त्व को दूषित बना देता है। योगी जो देह रूपी घर का स्वामी है साधना से इस चित्त की गतियो को नष्ट कर देता है। चूहे तथा चित्त मे इसी समानता के कारण चूहे को चित्त के प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया।[1] चित्त को हरिण भी कहा गया है जो अपने भोलेपन तथा अज्ञान के कारण कालपाश में आसानी से उलझ जाता है।[2] यही चित्त जब विषयों से मुक्त हो जाता है तो इसमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। यह महासुख रूपी कमल चक्र मे प्रवेश करके महारस का पान करने लगता है। कवि इस मुक्त मन के लिए मत्त गजेन्द्र का रूपक चुनता है जो उसकी शक्ति तथा कमल के साथ उसके सहज संबंध को द्योतित करता है। बलद, घडियाल, कच्छपी, गाय, पिटा आदि का प्रयोग विरोधमूलक धर्मों पर आधारित होने के कारण चमत्कारिक अधिक है। बलद, दुलि, कुम्भीर (घड़ियाल) ऐसे शब्द है जो द्वयर्थक भी हैं—बलद-बल देनेवाला, बैल, कुम्भीर, कुम्भक योग में निष्णात तथा घडियाल, दुलि-दयाकार जिसमें लीन हो जाय ऐसा कमल।

संगीत तथा वाद्य सम्बन्धी प्रतीक :

चर्या १७ में वीणापा ने वीणा के प्रतीक को ग्रहण किया है, वह कहते हैं कि उन्होंने एक नये किस्म की वीणा बनायी है। इस वीणा मे सूर्य तुम्बी है और शशि तन्त्री है। अवधूती दण्डी है जो बिना आहत हुए ही ध्वनि उत्पन्न करती है। इस ध्वनि को सुनकर आली और काली नामक गजेन्द्र समरस मे प्रवेश करते हैं। साधक नृत्य करता है और योगिनी गाती है। यही बुद्ध का नाटक है। वीणा हेरुक वीणा के रूप में कल्पित की गयी है।

व्यावसायिक प्रतीक :

शान्तिपा चित्त को अणु से भी अणुतर करने के लिए कपास धुनने के रूपक का प्रयोग करते है।

सामान्य-जन-जीवन से गृहीत प्रतीक :

सिद्धों मे बहुत से लोग समाज के साधारण वर्ग से सम्बन्धित थे। इसीलिए उन्होंने बहुत से प्रतीकों तथा अप्रस्तुतों का चयन सामान्य जीवन से किया। सास के सो जाने पर प्रणय अभिसार के लिए जाने की प्रक्रिया

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, चर्या २१, पृ० ७१।
२. वही, चर्या ६, पृ० १६।

तत्कालीन सामन्ती पारिवारिक मर्यादा से ग्रहण की गई है। शतरंज का खेल, नौका, घाट, पुल, लकड़ी चीरना, रुई धुनना, आदि सामान्य जीवन से ही चुने गये है। मद्य-विक्रेता नारी जिसे अवधूती का प्रतीक माना गया है तत्कालीन समाज की ही देन है। प्रतीक योजना अपभ्रंश मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सिद्धो के काव्य मे जितनी विस्तृत है उतनी ही सन्त काव्य मे भी।

शरीर के लिए :

तरुवर, देवालय, नगरी नौका आदि अप्रस्तुतो का प्रयोग अपभ्रंश तथा हिन्दी मे समान रूप से हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

> **काआ तरुअर पंच वि डाल— चर्या० १**
> **तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ ॥**[१]
> **हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहि सिव सतु मुणेइ।**
> **कबीर देवल ढहि पड्या, ईट भई सवार ॥**

तरुवर को सहज तत्त्व तथा सृष्टि विस्तार के प्रतीक रूप मे भी ग्रहण किया गया है। जैसे—

> **सहज महातरु फरिए तेलोए—चर्या ४३**
> **सहज सुनि इकु बिरवा उपजा धरती जल हरु सोखिआ।**[२]

मन के लिए :

करहा, मूषक, मेढ़क, बैल, मृग, कपास, आदि उपमानों तथा प्रतीकों को जैन (करहा, मृग, गज) सिद्ध तथा हिन्दी के सन्त कवियों ने समान रूप से अपनाया है। जैसे—

> **एमइ करहा पेक्खु सहि विअरिअ महुं पडिहाइ।**[3]
> **न्यूति जिमाउं अपनो करहा, छार मुनिस की डारी रे ॥**[४]
> **मन करहा भव वनि मा चरइ तदि विष बेल्लरी बहुत।**

चर्या २१ मे मूषक मन का चित्रण मिलता है। कबीर ने भी 'मूसा' का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है—

---

१ सन्त कबीर, पृ० १८१।

२. सन्त कबीर, पृ० १८१।

३. स० राहुल साकृत्यायन : दोहा कोश, पृ० १४।

सुन्दरदास : कबीर-ग्रंथावली पृ० १४७।

मूसा बैठा बांबि में लारे सांपणि खाई[1]

हंस :

चित्त, पवन, प्राण के लिए हंस का रूपक अपभ्रंश तथा हिन्दी मे बहुत प्रिय रहा। शुद्धात्मा के लिए श्वेत हंस बड़ा उपयुक्त उपमान है भी—

णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिय महु एहउ पडिहाइ।[2]
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलाहुगे।

अन्य रूपको तथा प्रतीकों मे अज्ञानी के लिए अन्धा व्यक्ति इडा पिंगला के लिए गंगा यमुना देह स्थित चक्रो के लिए कमल, वासनात्मक मन के लिए चोर, माया के लिए ननद, वज्र कपाट के लिए दशम द्वार, इन्द्रियो के लिए गाय, मन के लिए बैल, कुंडलिनी के लिए भुंजग, माया के लिए हरिणी, ज्ञान के हरिण मांस, शून्य ज्ञान के लिए सोना आदि का प्रयोग सिद्धों तथा सन्तों मे समान रूप परिलक्षित होते हैं।

शब्द-साधना :

अपभ्रंश मुक्तक अधिकतर अकृत्रिम है तथा भावो को बिना किसी शब्द जाल के व्यक्त करने में समर्थ हैं। मार्मिक वचनों में शास्त्रीयता का आग्रह बहुत कम है। शब्द-लय तथा सौन्दर्य की वृद्धि के लिए ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व कर दिया गया है। जैसे प्रवास को पावास, सहआर का साहार झाल को झल कहीं-कहीं साधारण व्यंजन को द्वित्व बना दिया गया—तुसार को तुस्सारः

हउ किय णिस्साहार पहिय साहार बन।

अपभ्रंश मुक्तककारो को शब्द-शक्ति की भी पूरी पहचान थी। उन्होंने शब्दों के अभिधात्मक प्रयोग मे ही सौन्दर्य तथा आकर्षण उत्पन्न किया गया है। कथन की विशेष भंगिमा ही उन शब्दों में नया भाव भर देती है। 'संदेश-रासक' की नायिका अपने प्रियतम को खल, पापी, शबर, कापालिक आदि शब्दो से संबोधित करती है। इन संबोधनों में नायिका का खीझ भरा प्यार आवेष्टित है। विरहिणी नायिका कहती है कि जिसे लोगो ने झूठा नाम दे रखा है वह अशोक (शोक

१. वही, पृ० १४१।
२. परमात्म प्रकाश—प्रथम महाधिकार, पृ० १२२।

रहित करनेवाला) आधे क्षण भी शोक नहीं हरता। कन्दर्प दर्प पूर्व अंगो को संतप्त करता है। सहकार (सहायता करनेवाला) अंगो को सहारा नही देता—शब्द योजना में नाद सौन्दर्य भी समाहित हो गया है—

> जसु नामु अलिक्कउ कहइ लोउ
> णहु हरइ खणद्ध असोउ सोउ।
> कंदप्पि दप्पि सतविय अंगि
> साहार णाहु ण सहार अंगि ॥[1]

बिम्ब-योजना :

बिम्ब अपेक्षाकृत आधुनिक आलोचना का शब्द है जो पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के Image (इमेज) का अनुवाद है। प्राचीन काव्यो मे बिम्बो का विधान तो पाया जाता है परन्तु काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों मे इसे इस नाम से ग्रहण नहीं किया गया इसके लिए उपमा, रूपक आदि शब्द ही प्रचलित थे। मनोवैज्ञानिकों नेबिम्ब पर बड़े विस्तार से विचार किया है। थार्नडिक ने बिम्ब को वस्तुओ, गुणों और दशाओं का अनुभव माना है जो उपस्थित नहीं है।[2] किन्तु काव्यात्मक बिम्बो मे साधारणतः ऐसा ज्ञात होता है कि ये शब्दो द्वारा निर्मित चित्र हैं। किसी रूपक तथा उपमा द्वारा ऐसे शब्द-चित्र निर्मित किये जा सकते हैं। ऐसे शब्दो अथवा पंक्तियो द्वारा भी शब्दों के ये चित्र निर्मित होते है जो बाह्य स्तर पर मात्र वर्णनात्मक प्रतीत होते है।[3] काव्य-बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है 'काव्यात्मक बिम्ब अदम्य भावना सम्पृक्त ऐसे शब्द चित्र है जिनमे ऐन्द्रिक ऐश्वर्य निहित है और जिनके प्रभाव स्वरूप आनन्द की उत्पत्ति होती है[4] स्केल्टन ने अपनी पुस्तक 'दी पोइटिक पैटर्न' में बिम्बो का बड़ा विस्तृत विवेचन किया है। इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है 'काव्यात्मक बिम्बो की परिधि में उपमा तथा रूपक स्वतः समाहित है।[5] बिम्ब योजना का एक उदाहरण दर्शनीय है—

---

१. स० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक। ३।२११।

२. थार्नडिक : एलीमेन्ट्स आफ सायक्लोजी—पृ० ४३।

३. प्रो० अखौरी ब्रजनन्दन : काव्यात्मक बिंब पृ० ५५।

४. वही, पृ० ५६।

५. काव्यात्मक बिम्ब, पृ० ७८।

निशाकर विरही जनों को भय उत्पन्न करता है। चन्द्रमा से भय होना यह लोकमान्य सत्य नहीं प्रतीत होता। कवि मत्तमातंग के विजृंभित का बिंब प्रस्तुत करता है। वह मत्तमातंग के पूरे चित्र को चन्द्रमा पर आरोपित कर देता है ताकि बिंबात्मक अस्पष्टता समाप्त हो जाय—

पयडिअलंछणमय लेहिण उल्लासिअ करदंडिण ताराहरणिण निसिअरिण।
उअ नीसंकिण भउ विरहिणि जणहु जणिज्जइ असमु मत्तमायंगविअंभिइण॥[1]

प्रिय के विरह में नायिका की दशा को व्यंजित करने के लिए एक कापालिनी का बिम्ब नियोजित किया गया—

तुय समरंत ममाहि मोहु विसमट्ठियउ
तहि खणि खुवइ कवालु न वाम करट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्ंग लय
कावालिय कावालिण तुय विरहेण किय॥[2]

कवि का उद्देश्य प्रेम की अनन्यता दिखाना था। नायिका खीझकर उसे कापालिक कहती है लेकिन वह अपने को भी कापालिनी के रूप में देखती है। यहाँ दो चित्र स्पष्ट है एक हाथ पर शिर रखे चारपाई पर एक करवट चुपचाप लेटी नायिका का है दूसरा हाथ में खोपड़ी लिए सिद्धासन पर समाधिस्थ बैठी कापालिनी। दूसरे बिम्ब को पहले पर आरोपित किया गया है क्योंकि कापालिक की प्रियतमा या पत्नी कापालिनी ही हो सकती है अन्य नहीं। हर स्थिति में प्रेम की एकरूपता, तल्लीनता लक्षित करने के साथ-साथ नायिका की दशा का चित्र प्रस्तुत करने में यहाँ दूसरे बिम्ब का विधान हुआ है। इसी तरह पावस के चित्रण मे कवि ने एक धवलांगी वासकसज्जा, निमीलित नेत्रों वाली, कौस्तुभ वस्त्र से आच्छादित समागम के लिए उत्कंठित सिहरती हुई नायिका का बिम्ब प्रस्तुत किया है।[3] चूंकि पावस का संपूर्ण वातावरण मूर्त तथा चाक्षुष-प्रत्यक्ष है, नायिका के रूप मे पृथ्वी को देखना, श्लेष के द्वारा दूसरे चित्र का विधान कवि के शृंगारिक दृष्टि का परिचय देता है। विरहिणी

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७।५६।१।

२. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक २।८६।

३. वही—३।१४३।

नायिका जब पृथ्वी रूपी नायिका को अपने प्रिय से मिलते देखती है तो उसे कितनी ईर्ष्या होती, और अपने दुर्भाग्य पर कितनी चिन्ता। इन भावों की व्यंजना पावस को परम्परित ढग से विरह-उद्दीपक रूप में चित्रित करके नहीं किया जा सकता था। कवि नायिका के मुख और कबरीबन्ध की सौन्दर्यानुभूति को रुपायित करने के लिए शशि और राहु के मल्ल युद्ध का एक बिम्ब योजित करता है किन्तु भ्रमर कुल की तरह काले-काले बालों के लिए अमूर्त्त की मूर्त्त में कल्पना करके ऐसी बिम्ब योजना की गयी जो सौन्दर्यान्मेष में सफल है—

मुह-कबरि-बन्ध तहे सोह धरहिं।
मल जुज्झु ससि राहु करहिं॥
तहे सहहिं कुरल भमर उल तुलिअ।
न तिमर डिम्भा : क्रीडन्ति मिलिता :[1]

विरहिणी नायिका प्रिय के विरह में किलकती हुई थक गई जैसे थोड़े जल में छटपटाती मछली। छटपटाती मछली के बिम्ब से नायिका की बेचैनी, तड़फाडाहट, व्यग्रता, अस्थिरता स्पष्ट हो जाती है—

पिउ हउँ थक्किय सयलु दिणु तुह विहरग्गि किलंत।
थोडइ जलि जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥

बिना अलंकार की सहायता के अनेक क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करके अपभ्रंश कवियों ने पूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। उसे भी बिंब योजना का एक ढग माना जा सकता है—जैसे गर्जनशील घन मर्दल के समान बजते हैं नभतल में नवीन चंचल बिजली नृत्य करती है। मयूर गाते हैं। इस संगीत से पावस लक्ष्मी युवकों के मन को आकुल कर देती है—

वज्जहिं गज्जिरधण मद्दल नच्चहिं
नहयलअंगणि नव चंचल विज्जुल।
गायहिं सिहि इअ सगीअउ पाउस लच्छिहिं
करइ जुवाणह मण आउल॥[2]

---

१. हेमचन्द्र : अपभ्रंश व्याकरण पृ० ३८।
२. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ७।४३·१।

चर्यापदों में आन्तरिक साधना तथा अमूर्त भावों को मूर्त बिंबो द्वारा समझाया गया है। नाव, चूहा, वीणा वादन, हाथी, हिरण आदि प्रतीको की विस्तृत रूप से चित्रित करते हुए बिंब विधान किया गया। चर्या ३ में कान्ह कहते है कि उन्होने त्रिशरणो की नाव बनाया और आठ दिव्य शक्तियो पर अधिकार कर लिया। मध्य सागर की अनेक तरगों को सहते उन्होने भवसागर पार कर लिया। पांच तथागत ही पतवार है और चित्त कर्णधार है शून्यता मार्ग है। इस प्रकार उन्होने करुणा रूपी द्वीप को प्रस्थान किया।[1]

इसी तरह का बिंब विधान सरह द्वारा रचित चर्या ३८ डोम्बी रचित चर्या १४ में पाया जाता है। कम्बलपाद करुणा रूपी नाव मे सोना भरकर एक व्यापारिक नौका का बिंब प्रस्तुत करते है। साधर्म्य के आधार पर चूहे के रूप मे चंचल चित्त की समस्त वृत्तियो को कल्पित करके अदृश्य तथा अमूर्त चित्त जो भावना मात्र है को रूपायित करने मे सिद्ध-कवि सिद्धहस्त दिखाई देते है।[2] वीणापा ने वीणा के बिंब द्वारा ध्वनि, नृत्य, गीत आदि के साथ बुद्ध नाटक का चित्र साकार कर दिया है।[3] चर्यापदो मे अधिकांशतः प्रतीको को शब्द रूप मे ही नहीं ग्रहण किया गया है बल्कि उनको गति तथा सजीवता प्रदान की गयी है।

हिन्दी के भक्तिकाव्य मे ठीक इसी तरह के मूर्त बिंबो के विधान के द्वारा अमूर्त भावो को मूर्त किया गया है। कबीर शराब वितरक नारी शुण्डिनी को न ग्रहण करके शराब (महारस) निर्माण को भी बिंब रूप में वर्णित करते हैं।[4] उन्होने मृग को पंचेन्द्रियो के रूप मे ग्रहण करके उन्हे शरीर रूपी खेत को उजाड़ने वाले रस लोभी के रूप मे वर्णित किया।

> जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
> टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे॥
> अपने-अपने रस के लोभी करतब न्यारे-न्यारे।
> अति अभिमान बदत नहीं काहू बहुत लोग पचि हारे॥

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यागीति कोष, चर्या १३।
२ प्रबोधचन्द्र बागची . चर्यागीति कोष, चर्या २१।
३. वही, चर्या १७।
४. सं० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० २३४।

बुधि मेरी किरषी गुरु मेरो बिझुका आखिर दोइ रखवारे ।
कहे कबीर अब खान न दैहूँ बरिया भली संभारै ॥[1]

कबीर के काव्य मे सिद्धों द्वारा प्रयुक्त समस्त बिबों का किसी न किसी रूप में अवतरण हुआ है किन्तु उन्होने बहुत से नये बिम्बों का भी सृजन किया है—

संतो भाई आई ज्ञान की आँधी रे
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी रे ॥[2]

आत्माराम को हिंडोलना पर झुलाते है। वह प्रेम भक्ति का हिंडोला है। चंद्र और सूर्य उसके दो खम्भे है उसकी डोरी बंकनाल के भीतर स्थित चक्र नाड़ी है।[3]

रीति तथा भक्तिकाव्य में रूपक तथा उपमा के माध्यम से बिंब विधान किया गया है। रूप-वर्णन के चित्र को प्रस्तुत करने के लिए बिहारी ने जल चादर का बिंब प्रस्तुत किया है—

सहज सेस पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
जलचादर के दीप लौं, जगमगाति तन-ज्योति।[4]

नववधू के आलिंगन के लिए उत्सुक नायक की गोद से वह निकल भागती है। नायक उसे बार-बार पकड़ने की चेष्टा करता है। देव ने इसके लिए पारे की मोती का बिंब प्रस्तुत किया जो छूने का प्रयत्न करने पर बिखर जाता है—

चीकने चलेई जात अंग लगे अंगिरात गाढ़े गहे ठहराति गूढ़ ह्वै ढरति है।
बिमल बिलास ललचावति लला को चितै रीचत इतै को और उतही सरति है।[5]

गोपी ने कृष्ण के रूप-छवि को जब से निहारा उसके नेत्र कृष्ण के प्रति विशेष स्नेह हो जाने के कारण आँसू से भरे रहते हैं और उनमें से सदा आँसू ढलकते रहते है। यह क्रिया निरंतर चलती रहती है। कवि इसके लिए रहट घरी का बिंब प्रयुक्त करता है जो बिलकुल मौलिक है—

---

१. वही, पृ० ३७६।
२. माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ० १५४।
३. वही, पृ० १५५।
४. बिहारी रत्नाकर, दो० स० ३४०।
५. देव : अष्टयाम, छ० ५, पृ० ३६।

हरि छवि जल जब ते परे, तब नैं छिनु बिछुरै न।
भरत ढरत बूड़त तरत, रहटघरी लौं नैन ॥

अपभ्रंश के कवियो ने शरद तथा पावस के चित्रण में लक्ष्मी का बिम्ब विधान किया तथा केशवदास ने वर्षा को हर्षित कालिका के रूप मे देखा। एक तरफ वर्षा ऋतु दूसरी तरफ कालिका दोनो का अलग-अलग चित्र विधान होने के कारण दोहरी बिंब योजना स्पष्ट हो जाती है—

भौहैं सुर चाप चारू प्रमुदित पयोधर,
भूषन जराय जोति तड़ित रलाई है ॥
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की नैन
असल कमल दल दलित निकाई है।
+ + +
+ + +
अंबर बलित मति मोहै नीलकण्ठ जू की,
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है ॥१८॥[1]

मन संसार में इधर-उधर भटकता रहता है किन्तु वह तृप्त नही होता उसकी तृष्णा संसारिक विषय वासनाओ से बुझती नही है। कवि इसके लिए मृग-जल का बिंब प्रस्तुत करता है। मृग कल्पना मात्र से जल की तलाश मे रहता है मन भी भ्रम में विलास का अनुभव करता है यह अस्थायित्व तथा क्षणिकता स्वप्न सुख से सिद्ध की गयी।[2]

सिद्धो ने भी मृग-जल तथा स्वप्न को बिंब रूप मे ग्रहण किया। दोनों में पर्याप्त साम्य है। सुन्दर ने एक नारी का रूप-चित्र सघन वन मानकर प्रस्तुत किया है जो कवि के विराग-पूर्ण अनुभवों को अभिव्यक्त करता है। लौकिक कवि एक नारी को सुख का सार समझता है परन्तु विरागी भक्त राक्षसी—

कामिनी की तनु मानु कहिये सघन वन।
वहाँ कोऊ जाय सो तौ भूलै ही परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरी को भय जामैं।
बेनी काली नागिनीऊ फन कूं धरतु है।
कुच हैं पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ।
साधि के कटाच्छ बान प्रान कूं हरतु है।

१. रीतिकाव्य नवनीत, कविप्रिया, पृ० १६।
२. हिंदी के कवि और काव्य-भाग २, दादू, पृ० १०१।

सुन्दर कहत एक और डर जामें आली।
राच्छसी बदन खाँउ खाँउ ही करतु है।[1]

रीति कवि बिहारी ने अनेक क्रियाओं के प्रयोग के द्वारा भी चित्र योजना करके बिंब-विधान करने का स्तुत्य प्रयास किया है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे मौन मा करत है नैनन ही सब बात॥[2]

अपभ्रंश मुक्तकों का छन्द विधान :

दोहा—उपलब्ध मुक्तकों में दोहा छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। यह अपभ्रंश का निजी छन्द है। परम्परा की दृष्टि से यह पर्याप्त प्राचीन है, सबसे प्राचीन प्राकृत दोहा 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अक मे मिलता है।[3] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस छन्द के विषय मे लिखा है—"दोहा वह पहला छन्द है जिसमे तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी अपभ्रश-कविता नही लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो।[4] दोहा छन्द वैसे पाठ्य छन्द हैं परन्तु इसकी गेयता के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। ये प्रमाण बौद्ध परम्परा तक ही सीमित है। साधना-माला मे बुद्ध-कपाल की साधना मे चार दोहों की एक वज्र गीति का उदाहरण मिलता है।[5] हेमचन्द्र की साक्षी के अनुसार संस्कृत में भी दोहे का प्रयोग होता था[6] कहीं-कही दोहे के लिए गाथा का भी नाम दे दिया गया है। 'साधनमाला' में एक दोहे के सम्बन्ध मे 'इयंगाथा च स्मरित' कहा गया। 'प्राकृत पैगलम्' के अनुसार इसके विषम चरणो मे तेरह और समचरणो में ग्यारह मात्रायें निबद्ध होती हैं। तुक व्यवस्था समचरणों में ही होती है। 'प्राकृत पैगलम्' मे इनकी मात्रिक गण व्यवस्था विषम चरणों में ६+४+३ और समचरणो मे ६+४+१ मानी गई है। इस प्रकार दोहा के समपादांत मे लघु पाया जाता है तथा इसके पूर्व का

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य : भाग २—सुन्दरदास, पृ० ११०।
२. रीतिकाव्य-नवनीत—बिहारी-सतसई, दो० २३, पृ० ३४।
३. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० २६३।
४. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६३।
५. साधनमाला, पृ० ५०१।
६. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, ६ ‚० की वृत्ति।

चतुष्कल सदा गुर्वंत होता है। इससे यह स्पष्ट है कि दोहा के समचरण जगणात (। ऽ ।) या तगणात (ऽ ऽ ।) होने चाहिए। इन दोनों भेदों में जगणात समपाद वाले अधिक दोहे प्रयुक्त हुए हैं। 'प्राकृत-पैंगलम्' ने ऐसे दोहों को चाडाल कहा है जिनके विषम चरणों की शुरुआत में (। ऽ ।) पाया जाय।[1] 'दूहा' का सर्वप्रथम उल्लेख करते हुए नंदिताढ्य दोहा के पादांत लघु ध्वनियों को गुरु मानकर इसमें १४, १२, १४, १२ मात्रायें मानते हैं।[2] उन्होंने दोहा के दो भेदों को निर्दिष्ट किया।[3]

(१) उवदूहा—१३, १२, १३, १२।
(२) अवदूहा—१२, १४, १२, १४।

स्वयंभू ने दोहा के इन्हीं भेदों का उल्लेख किया है।[4] डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश छंद-शास्त्री-नंदिताढय, स्वयंभू, हेमचन्द्र और राजशेखर 'दोहक' का लक्ष्य वही मानते हैं पर लक्षण में भेद मानते हैं। पादस्थ विकल्पेन वाले नियम को वे 'दोधक' के सम्बन्ध में भी लागू करते हैं जो बाद के छंद शास्त्रियों को मान्य नहीं रहा।[5] कवि दर्पणकार ने इस पुरानी लक्षण परम्परा को छोड़कर दोहा का नया लक्षण निर्धारित किया। पादांत लघु को एकमात्रिक गिनकर दोहअ का लक्षण १३, ११, १३, ११ मात्रा दिया। डॉ० सुकुमार सेन ने वज्र गीतियों की छन्द योजना १३, १२ मात्राओं की बताई जो नंदिताढ्य के उवदूहा के समान है। आर्णदा ने अपने हर छन्द में अपने नाम को जोड़ दिया जिससे छः मात्रायें बढ़ गयी हैं। उन्होंने इसका नाम हिंदोला छन्द दिया है। परन्तु यदि नाम को निकाल दिया जाय तो दोहा छन्द ही ठहरता है। मध्ययुगीन हिन्दी मुक्तक काव्य में दोहा बहुत प्रचलित तथा लोकप्रिय छन्द रहा। हिन्दी में प्रमुख रूप से १३, ११ मात्रावाले दोहे ही प्रयुक्त हुए हैं।

कबीर, तुलसी, जायसी ने ऐसे दोहों का भी प्रयोग किया है जिनमें १३ मात्रा के स्थान पर १२ मात्रायें मिलती हैं। हिन्दी के कुछ विद्वानों ने इसे

---

१. वही, १'८४।
२. नंदिताढ्य : गाथा लक्षण पद ८७।
३. वही, पद ८४।
४. स्वयंभू : स्वयंभू-छन्दस ४. ७, ४. १०, ४. १२।
५. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत-पैंगलम्, भाग २, पृ० ५४५।

गलत प्रयोग मानकर सन्तोष कर लिया। किन्तु अपभ्रंश में दोहे के अनेक रूप प्रचलित थे। इन अनेक भेदों में १२, ११, १२, ११ मात्रा वाला दोहा भी पाया जाता है। दोहे में सैद्धान्तिक विवेचन तथा हर प्रकार का वर्णन संभव है। यद्यपि यह सभी रसो के लिए उपयुक्त है परन्तु वीररस तथा सहयोगी रसो की अपेक्षा कोमल रस इसमे अधिक निखरते हैं।

सोरठा :

यह अर्धसम चतुष्पदी छन्द है जो दोहे के समचरणो को विषम तथा विषम-चरणो को सम कर देने से बनता है। सोरठा का उदाहरण देखिये—

सेतु पीठ। एतथु मइ भमइ परिट्ठओ।
देहा सरसिअ तित्थ ॥ मइ सुह अण्ण दिट्ठओ ॥[1]

हिन्दी मुक्तको में दोहो के बीच-बीच में इस छन्द का प्रयोग मिलता है।

उल्लाला :

उल्लाला मे १५, १३ की यति से कुल २८ मात्राये होती है। 'प्राकृत पैंगलम् मे इसका स्वतन्त्र उल्लेख न होकर छप्पय के साथ हुआ है।[2] उदाहरण इस तरह से है—

दुक्ख दिवाअर अत्थ विजाइ उट्ठइ तारावह सुक्क।

द्विपदी :

अपभ्रंश में द्विपदी शब्द प्रारम्भ में किसी छंद विशेष के लिए प्रयुक्त नही होता था बल्कि यह कुछ छन्दो की सामान्य संज्ञा थी जिनके दोनो पादो मे समान मात्रायें होती थी। स्वयंभू तथा हेमचन्द्र ने कुल मिलाकर ७२ द्विपदियो की गणना की है। 'प्राकृत-पैंगलम्' मे एक ही प्रकार की द्विपदी का उल्लेख मिलता है। इस द्विपदी की गण व्यवस्था ६+५×४+ऽ=षट्कुल पाच चतुष्कल तथा गुरु। इसमें कुल २८ मात्रायें हैं। वैसे यह चार पादो का छन्द माना जाता है किन्तु भायाणी जी के अनुसार अपभ्रश महाकाव्यो में किसी सन्धि के प्रारभिक स्थलों पर यह दो ही चरणों की होती थी और गीतात्मक

---

१. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत-पैंगलम्-१.१७१।
२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १. १०५।

रचनाओं में चार चरणों की होती थी।[1] 'प्राकृत-पैंगलम्' मे भी उदाहरण स्वरूप दो ही पदो को प्रस्तुत किया गया है—

दाणव देव बेवि दुक्कंतउ गिरिवर सिहर कंपिओ।
हअ गअ पाअ धाअ उट्ठंतउ धूलिहि गअण झंपिओ॥[2]

२८ मात्रा वाली द्विपदी का प्रयोग हिन्दी मे कम पाया जाता है। भिखारीदास ने द्विपदी के स्थान पर दोवै का प्रयोग किया है।

पादाकुलक .

यह समचतुष्पदी छंद है। इसके प्रत्येक चरण मे १६ मात्रायें पाई जाती हैं। 'प्राकृत पैगलम्' मे लघु, गुरु तथा मात्रिक गण-व्यवस्था की कोई पाबन्दी नहीं निर्दिष्ट की गयी है। उदाहरण देखिये—

एक्कुण किज्जइ तन्तण मन्त।
णिअ घरिण लइ केलि करन्त॥
णिअ धरे घरिणी जाव ण सज्जई।
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ॥

मध्यकालीन कविता में पादाकुलक के लक्षण में परिवर्तन का उल्लेख मिलता है। चरणान्त मे दो गुरुओं की व्यवस्था आवश्यक मानी जाने लगी। इसका उल्लेख केशवदास की छन्दमाला में मिलता है :—

बहुबनवारी सोभित भारी। तपमय लेखी गृहपति देखी।
सुभ सर सोभैं मुनिमन लोभैं। सरसि फूले अतिरस भूले॥[3]

इसमे तुक एक नहीं है। डा० भोलाशंकर व्यास के अनुसार कबीर की रमैनियों जायसी और तुलसी की चौपाइयों मे आगे चलकर हिन्दी काव्य परंपरा में पादाकुलक की स्वतन्त्र सत्ता खो गई है। वह हिन्दी के प्रसिद्ध छंद चौपाई में घुलमिल गया।[4]

रासक :

यह २१ मात्रा वाला छन्द है। छन्दोऽनुशासन के अनुसार इसमें १८+।।।

१. सं० मुनि जिनविजय, हरिवल्लभ भायाणी : संदेश रासक-मीटर्स।
२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैगलम्, १. १२६।
३. छन्दमाला २·३५।
४ सं० भोलाशंकर व्यास - प्राकृत पैंगलम् भाग २ पृ० ४२७।

(नगण) की व्यवस्था होती है। यति १४ पर होती है।[1] कवि-दर्पण में रासक के २३ मात्राओं का विधान है। कवि दर्पणकार ने २१ मात्रा वाले छन्द को रासावलय (६+४+६+५) कहा है।[2] छन्दोऽनुशासन मे भी २१ मात्रा से युक्त रासा वलय का उल्लेख है।[3] संदेशरासक टिप्पनक व्याख्या में रासक तथा अहाणउ की एकता स्थापित की है। डॉ॰ भायाणी ने भी इसे स्वीकार किया है। टिप्पनक में इसे चार पदो तथा कुल ८४ मात्राओं वाला माना गया है। इसमें पाच मात्राओ के गण का व्यवहार वर्जित है।[4] 'संदेशरासक' मे इस छन्द का बहुत प्रयोग हुआ है। हिन्दी मुक्तक काव्य में यह अधिक लोक-प्रिय नही रह गया। केलाग के एक उदाहरण के अनुसार डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी हिन्दी में रासा छन्द के प्रचलन को स्वीकार करते हैं। उदाहरण इस प्रकार है—

करहु कृपा जग स्वामी मेरे साथ हो।
रहिहैं वदा अभिलाषा तेरे हाथ हो ॥[5]

रासक का एक अपभ्रंश छन्द दर्शनीय है—

पहिउ भणइ पडिउज्जि जाउ ससिहरवयणि
अहवा किंवि कहणिज्ज सु कहु महु मियनयणि।
कहय पहिय किण कहउ कहिसु कि कहियपण
जिण किय एह अवत्थ गेह-रइ रहियपण ॥६१॥[6]

घत्ता :

अपभ्रंश छन्द-परम्परा में 'घत्ता' नाम से अनेक छन्द मिलते हैं। किन्तु इनमें से ३१ मात्रिक (१०, ८, १३ की यति) घत्ता अधिक प्रिय रहा।[7] उपदेशमाला वृत्त मे अनेक घत्ता छन्द प्रयुक्त हुए हैं—

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, पृ॰ ६२।

२. कवि दर्पण-उद्धृत-प्राकृत पैंगलम २, पृ॰ ३८२।

३. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन, पृ॰ ६५।

४. सं॰ हरिवल्लभ भायाणी एवं मु॰ जिनविजय : संदेश रासक टिप्पनक व्याख्या, पृ॰ १२।

५. स॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेश रासक, पृ॰ १०५।

६. वही, प्रक्रम २, छं॰ ६१।

७. सं॰ भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १·६६।

जिणु निरसणु हिंडइ दुरियइ खंडइ,
मंडलि महियलु नियपइहिं ।
तहि समयइ जि वंदहि ते चिय
नदहि संपूरिज्जइ संपइहि ॥[1]

अपभ्रंश के जैन-कवियो में इसका अधिक प्रयोग मिलता है ।

डोमिलय :

'प्राकृत-पैंगलम्' में इसे मात्रावृत्त और वर्णवृत्त दोनो माना गया है ।[2] पुराने अपभ्रंश छंद-शास्त्रियों ने इसका उल्लेख नहीं किया है । इनमें ३२ मात्राएँ होती हैं । मात्राओ का क्रम १०+८+१४ होता है ।[3] केलाग ने हिंदी में दुरमिला छन्द का यह उदाहरण प्रस्तुत किया—

इक व्रितवृतधारी पर उपकारी नित गुरु आज्ञा अनुसारी ।
निरसंचय दाता, सब रसज्ञाता सदा साधु संगत प्यारी ॥[4]

'प्राकृत पैंगलम्' के मात्रा क्रम से केलाग ने थोडा अंतर दिखाया है । उनके अनुसार इसका क्रम १०+८+८+६ है । 'संदेशरासक' का २२-२३ छंद डोलिमय का उदाहरण है ।

चूडिल्लय :

'प्राकृत पैंगलम्' के निर्देशानुसार दोहार्द्ध मे पाँच मात्राएँ बढ़ा देने से चूलिआला छन्द हो जाता है ।[5] हिन्दी का चूड़िमाला छन्द इसी से विकसित है । केलाग द्वारा प्रस्तुत चूड़िमाला तथा चूड़िल्लय में कोई भेद नहीं है । चूडिल्लय का उदाहरण देखिये —

उत्तरायणु वड्ढिहि दिवस णिसि दक्खिणइ हुइ पुव्व णिओइउ ।
दुक्खिय वड्ढहिं जत्थ पिय इहुणीय अ विरहायणु होइउ ।११२[6]

१. उपदेशमाला वृत्ति, पृ० ३५ ।

२. सं० : भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, १.१९६ ।

३. वही, पृ०

४. केलाग : ग्रामर आव हिन्दी लैंग्वेज, पृ० ५८० ।

५. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, १.१६७ ।

६. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, प्रक्रम २, छं० ११२ ।

मैं अब मिलन चहो सखी जसुमति सुत जहं होयकतावहु ।
झपटि झपटि सब दौरिकै यशुदा नंदन को ललबावहु ।।

मुक्तकों मे खंधय, मालिनी, नंदिणी, भमरावली, खणिज्ज, गाहा, फुल्लय, कामिणी, मोहण, मडिला आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है। ये छंद अधिकतर संदेशरासक' में ही प्रयुक्त हुए हैं अन्य मुक्तकों में इनका अभाव ही है। इनके अतिरिक्त कुछ और छन्दों के लक्षणो पर विचार किया जा सकता है—

चर्चरी :

यह अवशिष्ट वर्णिक छन्द है जिसे मात्रिक छंद मानते हैं। 'प्राकृत पैगलम् मे इसकी गण व्यवस्था र, स, ज; ज, भ र है। इस प्रकार यह १८ वर्णो का तथा २६ मात्राओं का छंद है। इसकी मात्रिक गण व्यवस्था यों मानी जा सकती है पचकल+४ चतुष्कल+पचकल। मध्य के दोनो चतुष्कल, यशोधर होते हैं। पाद के आदि मे गुरु (ऽ) और पादांत मे गुरु की व्यवस्था पाई जाती है।[1] चर्चरी एक गीत छन्द भी है। चर्चरी के नाम से जिनदत्त सूरि का पूरा काव्य ही मिलता है। 'कवितावली' तथा 'रामचन्द्रिका' मे इस छन्द का प्रयोग हुआ है।

कुंडलिया :

इसका प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश 'प्राकृत पैगलम्' मे है। 'प्राकृत पैगलम्' मे कुडलिया के लक्षण मे उल्लाला दोहा के अन्तिम चरण की पुनरुक्ति के संयोग का उल्लेख किया गया है। यह छन्द प्रमुखतः दोहा और रोला के मिश्रण से बनता है। पुराने छद-शास्त्रियों ने मिश्रण वाले छन्दों को द्विभंगी कहा है।[2] हिन्दी में गिरधर कविराय की कुंडलियाँ बहुत प्रसिद्ध है।

त्रिभंगी :

अपभ्रंश मुक्तको मे इसका प्रयोग विरल ही है। 'प्राकृत पैगलम्' में ३२ मात्रा वाले सममात्रिक छन्द को त्रिभंगी कहा गया है। इसमें १०, ८, ८, ६ पर यति और चरणान्त गुरु ऽ के विधान का संकेत है।[3] हेमचन्द्र ने दो या

---

१. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैगलम् : भाग १, २.१८४-१८५।

२. वही, १. १४६-१४७।

३. वही भाग १, २.२१५।

तीन छंदो से बने छंदों के लिए द्विभंगी और त्रिभंगी शब्दो का प्रयोग किया है ।[१] अपभ्रंश में चार छन्दो से बनी चतुर्भंगी और पाँच छंदों से बने पंचभंगी भी प्रसिद्ध है ।[२] सूर और तुलसी के पदो मे कही-कही ४० मात्रा वाली त्रिभंगियां मिलती हैं । इस छन्द में भक्ति अथवा ईश वन्दना बड़ी प्रभावशाली होती है ।

देखु देखि ! आजु रघुनाथ सोभा बनी ।
नील-नीरद-बरन वपुष भुवनाभरन,
पीत अंबर धरन हरन दुति दामिनी ।।
सरजु मज्जन किए, संग सज्जन लिए,
हेतु जन पर हिये कृपा कोमल घनी ।।[३]

रोला :

यह चार पदो वाला २४ मात्रा युक्त सममात्रिक छन्द है । रोला के प्रथम भेद में ११ गुरु तथा दो लघु प्रत्येक चरण मे होने चाहिए ।[४] एक एक गुरु के स्थान पर दो दो लघु बढ़ाने से रोला के अन्य भेद बनते है । रोला के स्थान पर वस्तुवदनक नाम भी मिलता है ।[५] रोला का प्राचीनतम प्रयोग सिद्धो के काव्य मे हुआ है वहाँ द्वितीय चतुष्कल गण की व्यवस्था '<-<' मिलती है और ग्यारहवीं मात्रा पर भी गौण यति का स्पष्ट प्रयोग मिलता है । जहाँ चौदहवीं मात्रा के पूर्व गुरु लघु की मात्रिक व्यवस्था वाला स्वतन्त्र पद प्रयुक्त हुआ है ।[६]

जइ नग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह
लोम उपाडण अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअंवह ।
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह,
उञ्छ भोअणे जाण, ता करिह तुरंगह ।।

रोला छन्द हिन्दी का बहुत प्रिय छन्द रहा है ।

---

१. हेमचन्द्र : छन्दोऽनुशासन ४, ७८ ।
२. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, ५३३ ।
३. गीतावली उत्तर काण्ड, पद ५ ।
४. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १' ९१ ।
५. छंदोऽनुशासन ५. २५ ।
६. प्राकृत पैंगलम्, भाग २ पृ० ४८७ ।

रवि छवि देखत घूघू घुसत जहाँ तहँ बागत ।
कोकनि को ताही सों अधिक हियो अनुरागत ।।
त्यो करि कान्हहि लखि मनु न तिहारो पागत
हमको तौ वाही ते जगत उज्यारो लागत ।।[1]

मरहट्ठा

मरहट्ठा २९ मात्रा वाला सममात्रिक छन्द है । इसकी गणव्यवस्था ६, ५, ४—ऽ । है । इसमे १०, ८ और ११ पर यति का विधान है । सिद्धो ने इस छन्द का प्रयोग किया है —

घरवइ खज्जइ सहजे रज्जइ किज्जइ राअ विराअ
णिअ पास बइट्ठो चित्ते भट्ठी जोइणि मह्नु पडिहाइ ।।[2]

हिन्दी मुक्तको में इसे कोई विशिष्ट स्थान नही मिल सका ।

चउपइया

'संदेशरासक' में प्रयुक्त चउपइया छंद रासक से बहुत भिन्न नही है किन्तु 'प्राकृत पैंगलम्' मे वर्णित चौपैया छन्द ३० मात्रावाला सममात्रिक चतुष्पदी है । इसमें संपूर्ण छन्द में १२० मात्राएँ होती है । हिन्दी मे प्रयुक्त चौपैया इससे बिलकुल भिन्न है । चौपैया का सबंध आरनाल से जोडा जा सकता है—

भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी ।। आदि

दुर्मिल

यह भी समचतुष्पदी छंद है । इसका प्रयोग 'संदेशरासक' मे मिलता है ।[3] हिन्दी में शुद्ध मात्रिक दुर्मिल का प्रचार बहुत कम है । वर्णिक छन्दों मे दुर्मिल सवैया का नाम तो मिलता है परन्तु मात्रिक छन्दों मे नही ।

अडिल्ला

अडिल्ला प्रारंभ में एक प्रकार का छन्द कौशल मात्र था । इसके द्वारा छन्द में यमक का प्रयोग किया जाता था । धीरे-धीरे यह यमकान्त छन्द का पर्याय बन गया । इसमे प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ होती हैं । 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

---

१. भिखारीदास : छंदार्णव ५. २० ।

२. स० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १.२०८

३. सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, २.१५

सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह
बे बि जमक्का भेउ अलिल्लहं
होण पओहर किं पि अलिल्लह
अंत सुपिअ भण छन्दु अलिल्लह ।[1]

इसमे सोलह मात्रा होती है । दोनो चरणो मे यमक होता है । जगण नही आना चाहिए । इसमें अंतिम दो मात्राएं लघु होती हैं । स्वयंभू इसे वदनक का भेद मानते हैं ।[2] 'सदेशरासक' में अडिल्ला की तुक 'क ख, ग घ' ही दिखाई देता है । सर्वत्र यमक का भी निर्वाह नही है । कुछ छन्दो मे यमक के वदले अनुप्रास ही निबद्ध है ।[3] हिन्दी मे अरिल्ल का चतुष्कल गणभगण ही हो गया—

देखि बाग अनुराग उपज्जिय । बोलत कल ध्वनि कोकिल सज्जिय ।।
राजति रति की सखी सुवेषनि । मनहुँ बहति मनमथ संदेसनि ।।[4]

भिखारीदास ने अडिला की यमक व्यवस्था पर जोर दिया है ।[5] चौकल रहित अडिल्ल का एक उदाहरण सूदन काव्य से उद्धृत है—

अली कुली रुस्तम खां सर्गाह ।
हकीम खां कुबरा हित जंगहि ।।
फते अली औरों बहु मीरन ।
राजा राउ लये संग धीरन ।।
कछु दिनहिं आवै मेवातहिं ।
करि है तहा अधिक उत्पातहिं ।।[6]

पद्धड़िया

यह अपभ्रंश के महाकाव्यों का प्रमुख छन्द है । पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे चौपाई के निकट का छन्द मानते हैं ।[7] इसमें कुल चार चरण होते हैं । प्रत्येक पाद के अन्त मे जगण होना जरूरी है । हर चरण में चार चतुर्मात्रिक गणो की रचना की जाती है अंतिम चतुष्कल पयोधर होता है । छंदः कोश

---

१. भोलाशंकर व्यास . प्राकृत पैंगलम् । १२७ ।
२. स्वयंभू : स्वयंभू छन्दस् ४.२६ ।
३. सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी : संदेशरासक, छन्द १७४-८१ ।
४. केशवदास : रामचन्द्रिका १.३० ।
५. भिखारीदास : छन्दार्णव ५.३२ ।
६. सूदन : सुजान चरित ३।१।३
७. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल : पृ० ६४ ।

पद ३६ द्वारा यह संकेत मिलता है कि हिन्दी के कवियो ने अपभ्रंश छंद की जगणांत वाली व्यवस्था को आवश्यक माना । डॉ० व्यास के अनुसार 'वस्तु' चौपाइयों में जगण का विधान निषिद्ध है, फलतः चौपाइयों,में पादाकुलक और अरिल्ल के खण्ड तो मिल जाते है पद्धरी के नही ।[1] परन्तु बहुत कुछ संभव है कि जगण से विरहित होकर यह चौपाइयो में घुल मिल गया हो । परन्तु डॉ० जानकी नाथ सिंह का विचार कि हिन्दी में पद्धरि छन्द का बहुत उपयोग हुआ है । चारणों में युद्ध वर्णन के लिए यह बड़ा प्रिय छन्द था । गीतावली मे इसका प्रयोग होली वर्णन में किया गया है ।[2] वीररस के लिए यह अधिक उपयुक्त छन्द है—

यौं पर्‌यो सोर दिल्ली अपार ।
पुर लोग पुकारत बार-बार ।।
व्रज वीर हंकारत द्वार द्वार ।
फटकार खग्ग खेलन उसार ।।

इक तज्जत आयुध छोर-छोर । इक लज्जत आनन मोर मोर ।
इक गज्जत दामन फोर फोर । पुर गली गल्यारे वोर-वोर ।।[3]

छप्पय :

यह एक मिश्रित छन्द है । भायाणी जी के अनुसार यह छन्द कभी काव्य और उल्लाला कभी रासा और उल्लाला, कभी काव्य रासा संकीर्ण तथा उल्लाला के मेल से बनता है ।[4] प्राकृत पैगलम् मे इसे रोला तथा उल्लाला का मिश्रण बताया गया है । इसमे रोला की गण-व्यवस्था २+४+४+४+४+४+२ (। ।), ११, १३ पर यति, उल्लाला के दो चरण २८, २८ मात्रा के तथा १५, १३ पर यति होती है ।[5] वस्तु वदनक तथा उल्लाला के मिश्रण से बने छन्द का संकेत हेमचन्द्र ने किया है । उन्होने मागधी के काव्य में इसकी लोकप्रियता का भी संकेत किया है ।[6] तुलसी ने कवितावली मे इस छन्द का

१. सं० भोलाशंकर : प्राकृत पैगलम्, भाग २, पृ० ४६२ ।

२. डॉ० जानकीनाथ सिंह मनोज : हिन्दी कवियों का छंदशास्त्र को योगदान ।

३. सुजान चरित्र, ३१।२।६ ।

४. स० मुनिजिनविजय हरिवल्लभ भायाणी : संदेश रासक मीटर्स, पृ० ६८ ।

५. सं० भोला शंकर व्यास : प्राकृत पैगलम्, भाग २, मात्रा १०५, पृ० ५५६ ।

१ हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन सूत्र ४ ७६ की वृत्ति

प्रयोग किया है। गंग-नरहरि आदि के छप्पय प्रसिद्ध हैं चंद्र को तो छप्पय का राजा कहा जाता है। 'संदेशरासक' का छंद ६४ वत्थु या छप्पय छंद है। चूँकि छप्पय में रोला वाले अंश में लय तीव्र तथा गतिशील होती है। यहाँ शब्द धीरे-धीरे ओजपूर्ण होते जाते हैं। उल्लाला अंश में उनकी गति मंद पड़ने लगती है। इस प्रकार यह संपूर्ण छन्द एक ऐसी तरंग के समान है जो तीव्र गति से आकर तट पर टकराती है तत्पश्चात् वहाँ अपने चिह्न छोड़ती हुई लौट जाती है। इसी विशेषता के कारण इसे कवियों ने वीर रस के उपयुक्त माना है। 'प्राकृत पैंगलम्' में वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

रड्डा :

'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार रड्डा में कुल ६ चरण पाये जाते हैं। इसके प्रथम अंश को राढउ कहते हैं। इसके प्रमुख भेद राजसेना रड्डा में पहले पाँच चरणों में १५, १२, १५, ११, १५ मात्राएँ बाकी चार चरणों में दोहा निबद्ध होता है।[1]

खंधय :

इसमें प्रत्येक पाद में ३२ मात्राएँ होनी चाहिए। इसमें चार मात्रा के आठ गण होते हैं। पूर्वार्द्ध उत्तरार्ध समरूप होते हैं।[2]

मालिनी :

इसमें पहले दो रस (३ मात्रा) फिर तीन चमर (गुरु) फिर एक शर (लघु) दो गुरु फिर एक गध (लघु) और दो कर्ण (गुरु) होते हैं—

> वहइ मलअ बाआ हंत कंपंत काआ
> हणइ सवण रंधा कोइला लाव बंधा।
> सुणिअ दह दिहासु भिंग झंकार भारा
> हणिअ हणइ हंजे चंड चंडाल मारा॥[3]

संदेशरासक का १००वाँ छन्द मालिनी है।

नंदिणि :

यह तोटक का ही दूसरा नाम है।[4]

---

१. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम् १. १३३।

२ हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन, पृ० ४३।

३. सं० भोलाशंकर व्यास : प्राकृत पैंगलम्, भाग २, पृ० ४२५।

४. हरिवल्लभ भायाणी : संदेशरासक की भूमिका, पृ० ७१।

भमरावली :

इसमें प्रत्येक पंक्ति मे पाँच सगण होते है और पाँच गुरु तथा लघु मात्राएँ होती हैं। तोटक में सगण बढ़ा देने से भमरावली छन्द बन जाता है।

खणिज्ज :

यह रासक छन्द का ही एक भेद है। 'प्राकृत पैंगलम्' मे खंज नामक छंद है खणिज्ज नहीं इसमें ४१ मात्राएँ पाई जाती है। हेमचन्द्र ने प्रत्येक चरण मे २३ मात्राएँ निर्दिष्ट किया है।

गाहा :

यह प्राकृत का प्रिय छन्द है। अपभ्रंश तथा हिन्दी मे भी इसका प्रयोग होता है। गाथा के विविध प्ररोह-गाहू=२७ मात्रा (१२, १५, १२, १५) =५४ मात्रा।

विगाथ २७. ३० (१२, १५ : १२ : १८)=५७ मात्रा।

उद्गाथा ३० मात्रा दोनो दलो मे (१२, १८ : १२, १८)=६०

सिंहिनी—३२, ३० (१२, १०, १२, १८) ६२

फुल्लय :

गणभेद के अतिरिक्त फुल्लय और दोहा में कोई अन्तर नही है।

कामिणी मोहण :

'छन्दकोश' और 'गाथा लक्षण' तथा 'संदेशरासक' के व्याख्याकार के अतिरिक्त इसे सभी छन्दशास्त्रियो ने मदनावतार की संज्ञा दी है

हरि गीता :

यह २८ मात्रा का चतुष्पदी छन्द है। प्राचीन अपभ्रंश छन्दशास्त्रियों ने इस नाम के किसी छन्द का उल्लेख नही किया है। २८ मात्रा-प्रस्तार के द्विपदी, रचिता, दीपक आदि छन्द मिलते हैं। सम्भव है उन्ही में से एक का विकास हरिगीता छन्द के रूप में हो गया हो। हरिगीता के प्रथम तृतीय, चतुर्थ और पंचम मात्रिक गण किसी भी प्रकार के पंचमात्रिक हो सकते है किन्तु द्वितीय गण षड्मात्रिक होना चाहिए और प्रतिचरण के अन्त मे गुरु होना चाहिए।[1] मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में हरिगीता या हरिगीतिका प्रिय छन्द रहा। इस छन्द

---

१. रामचरितमानस, पृ० ३९३।

की लय अर्ध विलम्बित कही जा सकती है। इसका प्रयोग सभी रसों मे किया जा सकता है पर वीररस के लिए अधिक उपयुक्त है। एतदर्थ चन्द, पद्माकर और सूदन का उल्लेख किया जा सकता है। रामचरितमानस मे भी वीररस के लिए इसका उपयोग हुआ है—

ठाढ़े महीधर शिखर कोटिन्ह, बिबिध बिधि गोला चले।
थहरात जिमि पविपात गर्जत, प्रलय के जनु बादले॥
मर्कट बिकट भट जुटत सम्मुख, लरत जनु जर्जर भये।
गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहि जहं तहाँ निसिचर हये॥[1]

मुक्तकों में प्रयुक्त छन्दों का वैशिष्ट्य :

(१) अपभ्रंश मुक्तकों मे द्विपदी, चतुष्पदी, छन्दो के साथ-साथ कई छन्दो को मिलाकर छन्द बनाने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। हिन्दी में इस प्रक्रिया से पूरा लाभ उठाया गया। इस प्रकार के विकार, परिवर्धन, संशोधन की प्रवृत्ति चारण तथा मागध कवियो मे परिलक्षित होती है।

(२) परम्परागत छन्द परम्परा को अपनाते हुए भी अपभ्रंश छन्दो मे मौलिकता दिखाई देती है। वैदिक तथा शास्त्रीय संस्कृत में वर्णिक या अक्षरात्मक छन्द व्यवस्था थी। प्राकृत छन्द लोकगीतो मे विकसित होते हुए भी अन्तिम रूप मे मात्रा-गणना तक संकुचित हो गये। साहित्यिकता पर अधिक बल देने के कारण प्राकृत-काव्य में संगीतात्मकता का काफी ह्रास हुआ। किन्तु अपभ्रंश छन्द उस काव्य परम्परा के अभिन्न अंग है जो जन सामान्य के लिए विकसित हुई थी और उसका परिवेश लोकगीतो की संगीतात्मक से समृद्ध है। अनेक अपभ्रंश छन्दो मे इसीलिए मूलतः विभिन्न प्रकार के तालो का नियमन पाया जाता है। प्राकृत के छन्दो को अपनाकर भी उसमें नियमित तुक निर्वाह पर विशेष ध्यान दिया गया।

(३) अपभ्रंश छन्दों में एक स्पष्ट विकास लक्षित होता है। पुराने अपभ्रंश छन्दशास्त्रियो ने जिन छन्दों का नामोल्लेख नही किया परवर्ती अपभ्रंश काव्य मे वे भी दिखाई देते हैं। 'प्राकृत पैंगलम्' में अनेक ऐसे छन्दों का उल्लेख इसका प्रमाण है।

(४) अपभ्रंश के छन्दो मे ताल तथा लय के साथ गेय तत्त्व भी पाया जाता है। चर्यागीत, चर्चरी, रासक आदि ऐसे काव्य है।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि हिन्दी मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति रचना-उद्देश्य प्रकृति आदि सभी कुछ अपभ्रंश मुक्तको के समान है। मुक्तक काव्य की विविध परम्पराओ को अपभ्रंश में ग्रहण किया गया। यही परम्पराएँ भाषिक परिवर्तन के साथ हिन्दी मुक्तकों की निजी विशेषताएँ हो गयीं।

मुक्तक काव्य के अन्तर्गत शृंगारिक, धार्मिक, नीतिपरक भावो को व्यक्त करने की परंपरा प्राचीन थी किन्तु वीर भावपरक मुक्तकों की रचना से अपभ्रंश मुक्तककारों ने अपभ्रंश काव्य मे शक्ति तथा शौर्य भर दिया। हिन्दी मुक्तको पर इसका सीधा प्रभाव पड़ा। संस्कृत काव्य में वर्णित शृंगार यदि अभिजात्य है, तो प्राकृत का वन्य, अपभ्रंश में इन सब का समाहार होते हुए भी ग्राम्य शृंगार अधिक है। हिन्दी के दरबारी मुक्तककारों ने लोक जीवन के प्रकृत सौन्दर्य तथा शृंगारिक तत्त्वों का विशेष आदर नही किया। ये अपभ्रंश के उक्ति वैचित्र्यपूर्ण ऊहात्मक वर्णनों से अधिक प्रभावित हुए। नायिका के विशिष्ट तथा सम्मोहक अंगों को लेकर अनेक चमत्कारिक उक्तियाँ अनेक दूरारूढ कल्पनाये प्रस्तुत की गयीं। ऐसे चित्रणों में हिन्दी के रीति कवि अपभ्रंश कवियो से कई कदम आगे बढ गये। अपभ्रंश मे नायक नायिका का मिलन बहुत कुछ सांकेतिक है। उसमे संकोच और लज्जा है। मर्यादा का निरतर ध्यान रखा गया है। रीतिकाव्य मे अपेक्षाकृत अधिक खुलापन है, कही-कही मर्यादा का उल्लंघन भी पाया जाता है। अपभ्रंश काव्य की नीतिपरकता हिन्दी मे पूर्णतः सुरक्षित है। शृंगार संबधी काव्य रूढ़ियों का चित्रण अपभ्रंश तथा हिन्दी मे समान है। अपभ्रंश की 'अम्मीए' नाम की मध्यस्था रीति-काव्य मे नहीं है। अपभ्रंश मे वर्णित प्रेम पारिवारिक गार्हस्थिक तथा स्वकीय है और रीतिकाल का सामती कलहपूर्ण तथा परकीय।

अपभ्रंश मे रचित मुक्तक काव्यो की परंपरा हिंदी में भी चलती रही। तुलसी, सूर आदि कवियों मे नैतिकता, आचारपरकता अपभ्रंश के आचारपरक काव्यों के समान है। क्रान्तिकारी कवि जोइन्दु, रामसिंह, आणंदा, सरहपाद, काण्हपा, कबीर, दादू, नानक आदि एक ही स्वर मे पूजा-पाठ, तीर्थव्रत, बाह्याडम्बर, पाखण्ड, जागतिक संबध, पुस्तकीय ज्ञान आदि का विरोध करते हैं। उपर्युक्त कवि योग की क्रियाओं से भी प्रभावित है। गुरु महिमा- नैतिकता- विरक्ति आदि

प्रवृत्तियाँ, धार्मिक रहस्यवादी, सन्त तथा भक्ति काव्य मे समान रूप से महत्वपूर्ण है। कवियों ने अपने श्रेयस्कर अनुभवों को मानवीय कल्याण के लिए आवश्यक समझकर उपदेश दिया। जैन, सिद्ध, सन्त, भक्त आदि कवियो मे उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसे अनुभव जो सामान्य सत्य के रूप में ग्रहण किये गये वे नीतिपरक सूक्तियों के अन्तर्गत व्यक्त किये गये है। वीर भावो को व्यक्त करने के लिए कवियों ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया। युद्ध-यात्रा, नायक की वीरता का शत्रुओं पर प्रभाव, शत्रुओं की दुर्दशा आदि के वर्णन की परिपाटी अपभ्रंश से हिंदी मे आयी। अपभ्रंश में पायी जानेवाली नायिकाओ की वीरभावपरक उक्तियो का हिन्दी में अभाव है। इसके प्रमुख दो कारण हैं एक तो सामाजिक परिवेश बदल चुका था। अपभ्रंश काल में शौर्य प्रदर्शन या तलवार चलाना एक वृत्ति बन गयी थी। इसीलिए एक नायिका अपने नायक से कहती है कि इस देश को छोड़कर दूसरी जगह चलो क्योंकि यहाँ खड्‌ग व्यापार नहीं होता—रीतिकाल मे इस तरह की मनोवृत्ति समाप्त हो चुकी थी। नायिकाएँअब रसिया तथा काम-व्यापार मे पारंगत नायको की अभिलाषा करने लगी थीं। कवियों ने सुदूरवर्ती इस परंपरा को अपने युग की माग के प्रतिकूल समझा।

शिल्प-विधान के अन्तर्गत अपभ्रंश तथा हिन्दी मे अलंकार-योजना तथा बिम्ब योजना का एक ही आदर्श मिलता है। अपभ्रंश धार्मिक कवियो ने अलंकरण को वहीं तक महत्त्व दिया जहाँ तक वे भाव बोध मे सहायक हैं। लौकिक मुक्तकों मे अलंकरण तथा उक्ति वैचित्र्य पर विशेष ध्यान दिया गया। हिन्दी के भक्तिकाव्य मे अलंकरण की स्थिति धार्मिक मुक्तको के समान है। रीति-काल मे अलंकारों की सायास योजना की परंपरा की शुरुआत अपभ्रश से ही हो गयी थी। भाषा के प्रयोग में भी अपभ्रंश तथा हिन्दी में समरूपता है। वीरभाव युक्त छन्दों में अपभ्रंश के अनुकरण पर ही द्वित्त वर्णों वाले छन्दो को योजित किया है। सिद्ध कवियों ने अपने विचारों तथा भावों को गुह्य रखने के लिए सन्ध्या भाषा का प्रयोग किया तो सन्त कवियों ने भाषा को उलटवासी बना दिया। विभिन्न रागो से युक्त पद शैली का विकास अपभ्रंश मे ही हुआ जो हिन्दी में पर्याप्त लोकप्रिय हो गयी। छन्दों में दोहा, कुंडलिया, रोला, सोरठा अपभ्रंश मे ही लोकप्रिय हो गये थे। सवैया का मूल बीज भी अपभ्रंश मे ही मौजूद था। इस तरह अपभ्रंश मुक्तक काव्य से अनेक रूपों में हिन्दी मुक्तक काव्य प्रभावित हुआ।

●

सहायक ग्रन्थ सूची

वैदिक तथा संस्कृत :

१. अग्नि पुराण, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रंथावली, हरिनारायण आप्टे शालि० शकाब्द, १८२२।

२. अमरुक-शतक-अमरुक, सपादक कमलेशदत्त त्रिपाठी, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६१।

३. आर्या सप्तशती, गोवर्धनाचार्य, संपादक विष्णु प्रसाद भण्डारी, चौखम्ब सस्कृत सेरीज, वाराणसी, १९२५।

४. ऋग्वेद, श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत सस्थान, बरेली, द्वितीय खण्ड।

५. काव्यादर्श-दण्डी, जीवानन्द भट्टाचार्य कृत विवृत्त सहित, सरस्वती यंत्र, कलकत्ता से मुद्रित।

६. काव्य मीमासा-राजशेखर, बडौदा, १९३४ ई०।

७ काव्यालकार-भामह—पी० वी० नागनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली—२३, १९७०।

८. काव्यालङ्कार—रुद्रट डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली ९, सन् १९६५।

९. कौल ज्ञान निर्णय, सं० डा० प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता सं० १९३४।

१० गीता-गीताप्रेस, गोरखपुर, १९७१।

११. गोरक्षा-पद्धति, बम्बई सं०, १९७४।

१२. चौरपंचाशिका, विल्हण, तदपतिकार पूना ओरियण्ट, बुक एजेन्सी, १९४६।

१३. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन-काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३५।

१४. नाट्यशास्त्र, दूसरा भाग, गा० ओ० से०।

१५. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह—सिंघी जैन ग्रंथमाला।

१६. पंडितराज काव्य संग्रह—डा० आर्येन्द्र शर्मा, हैदराबाद।

१७. प्रबन्ध-चिन्तामणि—सिंघी जैन ग्रंथमाला, शान्ति निकेतन, पं० बंगाल, १९३३।

१८. प्रबन्ध-कोश, सिंघी जैन ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९३५।

१९. भर्तृहरि सुभाषित संग्रह, सिंघी जैन ग्रंथमाला, भरतीय विद्याभवन, बम्बई, स० २००५।

२०. महाभाष्य—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३८ ।

२१. मेघदूत—कालिदास ।

२२. विक्रमोर्वशीयम्—संपादक एम० आर० काले, ए० आर० एण्ड कं०, बम्बई, २ ।

२३. सरस्वती कंठाभरण, वरुह पब्लिकेशन बोर्ड, गौहाटी सन् १९६९ ।

२४. साधनमाला विनय तोष भट्टाचार्य, १९६८, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, खण्ड २ ।

२५. सामवेद—ब्रह्मर्षि म० म० श्रीपाद दामोदर ।

२६. साहित्य दर्पण—डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १ ।

२७ शृंगार-प्रकाश, सपादक जी० आर० जोसियर, फाउण्डर डिरक्टर ।

२८. हठयोग-प्रदीपिका—बम्बई, स० १९४९ ।

२९ हितोपदेश—पंडित नारायण द्वारा संग्रहीत ।

पालि :

३०. इतिवुत्तक—जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरीपालि ग्रंथमाला, सिरि नव नालन्दा महाविहार, १९५९ ।

३१ उदान—जगदीश कश्यप,,

३२ धम्मपद—,,

३३. वत्थु थेर थेरीगाथा—,,

३४. सुत्त-निपात—,,

प्राकृत :

३५. गाथा सप्तशती—संपादक और अनुवादक, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ।

३६. पाइअ सद्दमहण्णवो—पं० हरगोविन्ददास विक्रमचंद सेठ ।

३७. प्राकृत लक्षण, चंड, हार्नले, कलकत्ता, १८८० ।

३८. प्राकृत व्याकरण : हेमचन्द्र सं० पी० एल० वैद्य, पूना, १९५८ ई० ।

३९. वज्जालग्ग—जुलियस लाबर, विब्लियोथिका सिरीज, कलकत्ता, १९१४ से १९२३ ।

अपभ्रंश :

४०. अपभ्रंश काव्य त्रयी—लालचन्द, भगवानदास गांधी, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज. बड़ौदा ।

४१ अपभ्रंश व्याकरण—आचार्य हेमचन्द्र अनु० शालिकराम उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, १९५८।

४२. आणदा-आनन्दतिलक—अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद के परिशिष्ट में मुद्रित।

४३ आत्म प्रतिबोध जयमाल—अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद के परिशिष्ट मे प्रकाशित।

४४. उपदेशमाला वृत्ति सं० हेमसागर सूरि, धन जी भाई देवचन्द, बम्बई–३।

४५. कीर्तिलता—सं० डा० बाबूराम सक्सेना, नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१०।

४६ चर्यागीति-कोश—डा० प्रबोध चन्द्र बागची तथा शांति भिक्षु द्वारा संपादित, संस्करण, १९५६ ई०।

४७. छन्दोऽनुशासन—हेमचन्द्र।

४८. तन्त्रसार—सं० मुकुंदराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, श्रीनगर, १९१८ ई०।

४९ दोहा-कोश—सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

५०. दोहा-कोश—सं० प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३८।

५१. दोहापाहुड—अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद के परिशिष्ट मे मुद्रित।

५२. दोहाणुपेहा—अपभ्रंश और हिंदी में रहस्यवाद के परिशिष्ट में मुद्रित।

५३. पउम चरित—हर्मन जेकोबी, श्री जैन धर्म प्रसारक, भावनगर, वि० १९७०।

५४. परमात्म प्रकाश और योगसार—सं० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९३७।

५५. परात्रिंशिका—मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर टेक्स्ट्स सीरीज, १४।

५६. पाहुड-दोहा—संपादक हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३ ई०।

५७. प्राकृत पैंगलम्—डा० भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टेक्सट सोसायटी, वाराणसी, १९५९।

५८. भविसयत्त कहा—बड़ौदा संस्करण, १९२३।

५९. महार्थ-प्रकाश—काश्मीर-संस्कृत ग्रंथावली, श्रीनगर, १९१८।

६०. लल्लेश्वरी वाक्यानि—काश्मीर संस्कृत टेक्स्ट सीरीज़।

६१. सावय-धम्म दोहा—संपादक हीरालाल जैन, कारंजा, १९३२ ई०।

६२. संदेश-रासक—सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ त्रिपाठी।

६३. संदेश रासक—सं० मुनि जिनविजय तथा हरिवल्लभ भायाणी, बम्बई, १९४५ ई०।

६४. संयम मंजरी—महेश्वर सूरि । भविसत्त कहा में पी० डी० गुणे द्वारा उद्धृत पृ० ३७-३९ बड़ौदा संस्करण ।

६५. स्वयंभू छन्द स० एच० डी० वेलणकर, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, विक्र० २०१८ ।

हिन्दी :

६६. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली ।

६७. अपभ्रंश और हिंदी मे जैन रहस्यवाद—डा० वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी २०१८ ।

६८ असमिया साहित्य—प्रो० हेमबरुआ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, १९६६ ।

६९. असमिया साहित्य और साहित्यकार, चित्र महंत, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९७० ई० ।

७० अष्टयाम—देव ।

७१ इश्कनामा—बोधा ।

७२ कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, छठा संस्करण, १९६० ।

७३. कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द, त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, स० २०१४ ।

७४. कबीर ग्रंथावली—सं० श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१३ ।

७५. कबीर ग्रथावली सं० डा० माता प्रसाद गुप्त, प्रामाणिक प्रकाशक, आगरा ।

७६. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा ।

७७ कवितावली रामायण—उदय नारायण त्रिपाठी, प्रथम सस्करण, छात्र हितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग ।

७८. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २००५ ।

७९. काव्य रूपो के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, १९५८ ।

८०. काव्यात्मक बिम्ब—प्रो० अखौरी व्रज नन्दन, ज्ञानालोक कुल्हड़िया हाउस, अशोक राजपथ, पटना—४, १९६५ ।

८१. काव्य परम्परा और विद्यापति—डॉ० अम्बादत्त पन्त, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
८२. गीतावली—श्री बैजनाथ जी प्रकाशक, नवल किसोर प्रेस, लखनऊ, १६३७।
८३. गोरखबानी—स० डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, सं० १६१६।
८४. घनानन्द कवित्त—संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
८५. चतुर्दश-भाषा निबन्धावली—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
८६ छंदार्णव—भिखारीदास।
८७. छंद-प्रभाकर—भानु विलास, १६२२।
८८. डिंगल में वीररस सूर्यमल्ल।
८६. दरियासागर—इलाहाबाद, सन् १६१६।
६०. दादू दयाल की बानी—इलाहाबाद, १६५१।
६१. दोहावली—तुलसी ग्रंथावली, सभा संस्करण।
६२. नाथ संप्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६५०।
६३. निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डॉ० मोतीसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, २०१६।
६४. पालि साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १६६३।
६५. प्रयाग-नारायण-विलास—सं० वन्दीदीन दीक्षित।
६६. प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास—डॉ० नेमिचन्द्र जैन।
६७. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी।
६८. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—पिशेल, अनु० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०१५।
६६ प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—डॉ० रामसिंह तोमर, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, १६६४ ई०।
१००. प्राण-संगली—इलाहाबाद, १६१६।
१०१. पुरातत्व निबन्धावली—राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस, लि०, प्रयाग, सन् १६३७।

१०२. बिहारी बोधिनी—स० लाला भगवान दीन ।
१०३. बौद्ध सिद्धों के चर्यापद—परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी-१ ।
१०४. भक्ति-काव्य में रहस्यवाद—रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-७ सन् १९६६ ।
१०५. भंवरगीत—विश्वम्भर नाथ मेहरोत्रा, सं० १९८९ ।
१०६. भारतीय दर्शन, भाग २—डॉ० राधाकृष्ण अनु० डॉ० नन्दकिशोर गोभिल, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९७२ ई० ।
१०७. भारत के संत महात्मा—रामलाल ।
१०८. भाषा विज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, प्रयाग, १९५७ ।
१०९. भूषण-ग्रंथावली ।
११०. मनोज मंजरी—सं० नकछेद तिवारी ।
१११. मध्यकालीन हिन्दी संत विचार और साधना—डॉ० केसनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६५ ।
११२. मध्यकालीन धर्म साधना—हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५२ ।
११३. मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि—डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६३ ।
११४. मतिराम मकरंद—हरदयालु सिंह ।
११५. मतिराम ग्रंथावली—कृष्ण बिहारी मिश्र ।
११६. मलूकदास की बानी—इलाहाबाद १९४६ ।
११७. मीराबाई की पदावली—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, १९६६ ई० ।
११८. मीरा वृहद पद संग्रह—पद्मावती शबनम, बनारस, सं० २००८ ।
११९. रहस्यवाद—रामरतन भटनागर ।
१२०. रामचन्द्रिका, केशवदास, संपादक लाला भगवान दीन ।
१२१. रीति-कवियों की मौलिक देन—डॉ० किशोरी लाल, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९७१ ।
१२२. रीति-काव्य-नवनीत—डॉ० भगीरथ मिश्र, ग्रंथम, कानपुर ।
१२३. विनय-पत्रिका—तुलसी, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००८ ।
१२४. विनय पत्रिका —वियोगी हरि, साहित्य सेवा सदन, काशी, २००५ ।
१२५ वीर काव्य सं० उदय तिवारी

१२६. सतसई सप्तक—श्याम सुन्दर दास, हिन्दुस्तानी एडेकेमी, इलाहाबाद, १९३१।

१२७ साहित्य रूप—डॉ० रामअवध द्विवेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

१२८. सिद्ध साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, १९६८ ई०।

१२९. सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, १९४८।

१३०. सूरसागर—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

१३१. सूरसागर सार—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६६।

१३२. सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ० शिव प्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९२८।

१३३. सुन्दर श्रृंगार—सुन्दर कविराय।

१३४. सुखसागर तरंग-देव—बालदत्त मिश्र

१३५. संत काव्य, परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५२।

१३६. संत सुधासार—सं० वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५३।

१३७. संत कबीर—रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद; १९४३।

१३८. संतबानी संग्रह, भाग १, सुधाकर, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९२३ ई०।

१३९. संस्कृत साहित्य का इतिहास, संस्कृत प्राध्यापकगण, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

१४०. संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय।

१४१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० बी० काणे, अनु० इन्द्र चन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली. सन् १९६६ ई०।

१४२. श्रृंगार सुधारक—मन्नालाल द्विज।

१४३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवर सिंह, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९५२।

१४४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना सं० २०१४।

१४५ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ ।

१४६. हिन्दी रीति साहित्य—डॉ० भगीरथ मिश्र

१४७. हिन्दी उद्भव विकास और रूप—डॉ० हरदेव बाहरी, किताब महल, इलाहाबाद, १९६५ ई० ।

१४८. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी, १९४७ ।

१४९. हिन्दी काव्य प्रवाह—संकलन एवं संचयन श्रीमती पुष्पा स्वरूप, संपादक श्रीकृष्णदास, मित्र प्रकाशन प्रा० लि०, इलाहाबाद, १९६४ ।

१५०. हिन्दी के कवि और काव्य, भाग २, श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९३९ ।

१५१. हिन्दी सन्त साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव—डॉ० विद्यावती मालविका, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१

१५२. हिन्दी ध्वन्यालोक-व्याख्याकार, अनु० जगन्नाथ, विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला ।

१५३. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास—जितेन्द्र नाथ पाठक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५

१५४. हिन्दी कवियों का छंदशास्त्र को योगदान—जानकी नाथ सिंह मनोज, सेठ भोलानाथ सेकसरिया ग्रंथमाला, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०२४ ।

१५५. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर (संस्कृत साहित्य का इतिहास) अनु० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, नेपाली खपड़ा, वाराणसी ।

अंग्रेजी :

1. Elements of Psychology, Jhon Dick.
2. Historical Grammar of Apbhransh—G. V. Tagare, Poona, 1948.
3. Mysticism in Religion—Dean Inge.
4. Mysticism and Logic—B. Russel, Penguin Books reprinted, 1954.
5. Mystic Tales of Lama Taranath, Bhupendra Dutt, Ram Krishna Vedant Math. Calcutta. 1944.

6. Origin and Development of Bangali Language—S. K. Chatterji, Calcutta University Press, 1926.
7. Studies In Tantras—P. C Bagchi, Indian Historical quarterly—1928.
8. Hindi Grammar—S. K. Kellog.
9. Oriental journal. Cal. Vo. 1
10. Bengal Asiatic Society, journal Vo. 49.

पत्रिका

१. अनुसंधान, तृतीय अंक, १९७३, जैन विश्वभारती लाडनू, बीकानेर ।
२. अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ६ फरवरी, १९५४ सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली ।
३. जैनहितैषी—अंक ५, ६, वि० नि० संवत २४३६, जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।
४. मरु भारती—सं० कन्हैया लाल सहल, जनवरी १९७३ अंक बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट के राजस्थानी शोध विभाग की मुख पत्रिका ।
५. वीर-वाणी, वर्ष ३, अंक १४, १५, सन् १९५० मतिहार का रास्ता जयपुर ।
६. वीर-वाणी, अंक २१ ।